करीब पौने दो हजार कोशका है। तो क्या सूर्यकी चीज सूर्यमे से निकल कर इतनी दूर आयगी ? जिसने वस्तुका स्वरूप परखा होगा उसका तो यही उत्तर आयगा कि सूर्यकी चीज सूर्यमे ही रहेगी। उसके बाहर उसकी चीज कैसे पहुचेगी ? तो यह प्रकाश इतनी दूर पडा है, जो सूर्य लाखो योजन दूर है क्या उसका प्रकाश यहाँ आ जायगा ? न आना चाहिये। तो फिर यह प्रकाश यहाँ हो कैसे गया ? हो ऐसे गया कि सूर्य तो है स्वय प्रकाशमान और यह जो फर्श है, प्रकाशित है, वह स्वय प्रकाशमान तो नही, किंतु प्रकाशित पदार्थका निमित्त सन्निधान पाकर प्रकाश अवस्थाको प्राप्त हो ऐसा वाला है। यहाँ फर्शपर सूर्यका सन्निधान हुआ। अपने आपकी परिणतिसे इस निमित्तनैमित्तिक भावमे हुआ क्या, कि सूर्यका सन्निधान पाकर फर्श अधकारकी अवस्थाको छोडकर प्रकाश अवस्थारूप हो गया। तो देखो निमित्तनैमित्तिक भावका इतना प्रबल उदाहरण होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका भी कैसा अनोखा उदाहरण है, इसी तरह बाह्य पदार्थ हमारे ज्ञान द्वारा ज्ञात होते हैं फिर बाह्यमे हमारा कोई करतब नही, हम अपने आपमे ही ज्ञानकी वृत्ति करते रहते ही है।

(३८) **सुख दु ख आदिका आधार समझ**—जगतमे जितने सुख दु ख आदि हैं वे सब अपनी समझके प्रकार हैं। कोई समझता है इस देहको निरखकर कि यह मैं हू, कोई समझता अपने भीतरके कलुषित उपयोगको यह मैं हू। कोई बाह्य क्षेत्रमे रहने वाले पदार्थोंको निरखकर सोच लेता है कि यह मैं हू, लेकिन इस देहमे परपदार्थमे, परभावमे अह रूपसे श्रद्धा करने वाले पुरुष क्लेश पाते हैं। और अपने आपके सहजस्वरूपमे अहंकी श्रद्धा करने वाले जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं। सब कुछ विवेकसे निरखनेके बाद यह निर्णय होता है कि मैं तो एक ज्ञानमात्र पदार्थ हू। देह मैं नही हू, विकार मैं नही हू। विचार तरग आदिक जो होते हैं वे भी मैं नही हू और समझमे तो आता है कि इसमे ज्ञान है, श्रद्धा है, चारित्र है, अन्य-अन्य अनेक गुण हैं, अनेक शक्तियाँ हैं, पर और अंतः प्रवेश करके अभेद हुआ करते हैं। जब श्रद्धा मे आता है कि मैं ज्ञानमात्र हू और अपने आपको जब केवलज्ञान ज्ञानप्रकाशमात्र इस तरह से निरखा जाय तो उसे अनुभवका मार्ग मिलता है।

(३९) **अनुभवका मूल अभेदभावदृष्टि**—यद्यपि इस आत्माकी समझ द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव चार पद्धतियोसे होती है और परिचय भी होता है द्रव्यसे—यह अनेक गुण पर्यायोका पिण्ड है। क्षेत्रसे यह असख्यातप्रदेशी, अभिन्नप्रदेशी कालमे यह अपने आपकी प्रति समयकी परिणतिको करता रहता है और भावसे इसमे अनेक गुण हैं, लेकिन द्रव्यसे परिचय तो हुआ, पर द्रव्यदृष्टिको याने यहाँ द्रव्यके मायने हैं भिन्न दृष्टि। भिन्न दृष्टिको, गुण पर्यायोके समूहको जब ज्ञानमें रखते हैं तो चर्चा तो मिलती है पर एक अनुभूतिका प्रथम समय नही है वह, याने

उससे पूर्व ऐसा तर्क-वितर्क करने वालेको अनुभूति नहीं हो पाती। अनुभूतिकी प्राक् क्षणोमे क्या स्थिति होती है, उसे लक्ष्यमे लेकर कहा जा रहा है। आत्माका परिचय तो मिलता है क्षेत्रदृष्टिसे। यह बहुत लम्बा चौडा असख्यातप्रदेशी है। देहके नखसे लेकर मस्तिष्ककी शिखा तक यह जीव है, ऐसा परिचय तो मिल गया, लेकिन इस परिचयके बाद हम अनुभूतिमे नही पहुंच पाते हैं, इसी तरहसे कालदृष्टिसे परिणमनको जब हम निरखते हैं, परिचय तो मिलता है इस जीवका कि इसमे रागद्वेषादिक अनेक परिणमन होते है। वह परिणमन भी क्या है? चिदाभास। जब कर्म उदयमे होता है तो कर्म भी उसी प्रकारकी अवस्थाको लिए हुए होता है, लेकिन वह अचेतन है इसलिए उसमे अनुभूति नही और वह पदार्थ है इसलिए यह आत्मा भी उनकी अनुभूति नही करता, पर उस निमित्त सन्निधानमे यह उपयोग क्रोधन आदिक अवस्थाको धारण करता है, वह क्या है? चिदाभास। जैसे स्फटिक मणिमे कोई उपाधि लगा दी गई तो उसमे लाल पीला आदिक अनेक रंग आ जाया करते है, वे परभाव कहे जाते है, क्योंकि वह स्फटिक स्वयं उस रूप नही परिणमा। वहाँ उनको भी निरखा जाय तो इतनेसे भी अनुभूतिका तुरन्त अवकाश नही मिलता। जब भावदृष्टिसे देखते है तो भावदृष्टिमे दो पद्धतियाँ होती हैं—एक पद्धतिमे तो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिका अनेक शक्तियोका परिचय होता है। सो यहाँ भी नाना विध शक्तियोके परिचयके या चितनके तुरंत बाद अनुभूतिका अवकाश नही हो पाता है, किन्तु यह भावदृष्टि जब अभेदरूप होती है और केवल ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र प्रकाशमात्र दृष्टि होती है और उसके बाद यह संकल्प छूटता है, ऐसी स्थिति पूर्व क्षणमे होती है जहाँ कि अनुभूति हुआ करती है। तो अपने आपको अनुभवनेमे उसने क्या अनुभवा? एक ज्ञानप्रकाश। तो यह एक श्रद्धा बनाले, निर्णय बनाले बडी दृढताके साथ कि मैं तो ज्ञानमात्र हू अन्य कुछ हू ही नही। कभी भी किसी भी प्रसंगमे इस श्रद्धाको, इस धारणा को न छोडें 'मैं ज्ञानमात्र हू' तो समझ लीजिए कि जीवनमे शान्ति होगी, सो तो है ही, मगर उद्धार हो जायगा। बहुत निकट कालमे हम केवल ज्ञानमात्र व्यक्त हो जायेंगे। तो अपने आप को अपनेपर ही दया करके ऐसा कुछ निरखते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हू। देह भी मैं नही।

(४०) बाह्य पदार्थके व्यामोहका दुष्परिणाम—भैया! विवेक करके देखो—बाह्यपदार्थोंसे सम्बन्ध ही क्या है? उनके सम्बन्धमे ममता जगती हो, तृष्णा जगती हो, लगाव होता हो तो उसका खेद मानें। यहाँ मौज मानने लायक कोई चीज नही है। धन वैभव सम्पदा पायी, परिवार पाया, इष्ट समागम पाया, ये कोई मौज मानने लायक चीजें नही है। इनमे कोई मौज मानेगा तो वह बड़ा धक्का खायेगा। एक तो धक्का यह है कि जिन

जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होता है। चाहे हम खुद पहिले मरें या हमारे सामने ही कोई इष्ट व्यक्ति मरे, पर मरण अवश्य होगा, वियोग अवश्य होगा। जहाँ सयोग है वहाँ वियोग है। जितना समागमोको पाकर बीसो वर्ष तक मौज माना उससे भी अधिक कष्ट तुरंत वियोगसे प्राप्त होगा। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि इतना अधिक वियोग हो जाता है कि किन्ही-किन्हीका तो हार्ट फेल हो जाता है। तो यहांका कोई भी समागम मौज मानने लायक नहीं। यहांके समागमोमे यदि ममता होती है तो उसमे तो खेद होना चाहिए कि क्यो ममता होती है ? अरे मैं तो ज्ञानघन हू, ज्ञानप्रकाशमात्र हू, जिस में अन्य किसीका भी प्रवेश नही होता है, क्यो होता है इन बाह्य समागमोंसे मेरा लगाव, क्यो होना है ऐसा मोह ? यो उससे खेद मानें। अरे ये समागम लगावके लिए नही हैं, यह मानवजीवन मौज माननेके लिए नही है, किन्तु आत्मोद्धारका मार्ग पा लेनेके लिए है। चाहे ये मेरे सकल समागम छूट जावें—जैसे कि पूजनमे भी कहते हैं ना कि—अस्मिन्ज्वल-द्विमलकेवलबोधबन्ही पुण्य समग्रमहमेकमनाजुहोमि अर्थात् मैं अपने सारे पुण्यको स्वाहा करता हू। पुण्योदयसे जो सम्पदा मिली उसे भी पुण्य कहा, जो पुण्यकर्मका कारणभूत है उसे भी पुण्य कहा, और जो भी पवित्र विचार तर्क आदि उत्पन्न होते हैं उन्हें भी पुण्य कहते हैं, तो मैं समस्त प्रकारके पुण्योको स्वाहा करता हू। अरे भाई पुष्पको स्वाहा करके कहाँ रहोगे ? क्या पापमे रहोगे ? नही भाई ! इन पुण्य पाप दोनोको स्वाहा करके मैं तो अपने आपके ज्ञानप्रकाशमे रहूगा। पुण्य पाप—इन दोनोंसे निवृत्त होकर केवल एक ज्ञानप्रकाश मे अपने ज्ञानको अवस्थित करना है वह है स्वका प्रकाश।

अपने आपका यह निर्णय रखें कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, अन्य कुछ नही हूं। और और भी लगाव रहते हैं—मैं अमुकका पिता हू, पुत्र हू आदि। कुछ और और भी बातें चित्तमे आती हैं उन सबको निकाल दीजिए। समयपर व्यवहारमें बोलना पडता है तो बोल लो, लेकिन श्रद्धामे यह बात बैठी होनी चाहिए कि मुझे तो यो बोलना पड रहा है। जैसे कर्म का एक मुनीम ले लो —वह ग्राहकोंसे इसी तरह तो बोलता है कि हमारा तुमपर इतना चढ़ा, तुम्हारा हमपर इतना आया। अमुकसे हमे इतना लेना है, इतना देना है, मुझे इतना लाभ हुआ, इतनी हानि हुई आदि यह सब वह बोलता तो है, मगर इसकी श्रद्धामे यह बात बसी हुई है कि यह मेरा कुछ नही है। मुझे तो इस तरहका वचनव्यवहार करना पड रहा है। यह तो मेरी डियूटी है। तो ऐसे ही इतनी बात हम आपकी श्रद्धामे रहनी चाहिए कि मैं तो ज्ञानमूर्ति हू। मेरा तो मैं हू। मेरा तो मैं ही सब कुछ हू। मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नही है। ऐसे इस ज्ञानमात्र अनादि अनन्त सत्य सनातन निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि हों

तो यह मनुष्यजीवन सफल है। देखिये जितने भी धर्मके कार्य हैं हमारे व्यवहारमे वे सब बाह्य साधन है। हम उन बाह्य साधनोका सही उपयोग करें तो उनसे हम लाभ भी लूट सकते हैं और बाह्य साधनोंका सही उपयोग न करें तो करते रहे श्रम, हम उससे अपने धर्म का लाभ न उठा पायेंगे।

(४१) **अनुलोम प्रतिलोम चिन्तनासे तत्त्वकी स्पष्टता**—अब एक अन्त चिन्तनकी बात देखो—जैसे भावनायें होती हैं, अनित्यभावनामे कहते हैं कि यह भी मिटेगा, यह भी मिटेगा। अरे मिटना मिटना ही भावनामे रखा तो उससे आप घबडाहट ही पायेंगे। अरे इस मरनेकी, विनाशीकताकी बातके साथ-साथ यह भी तो देखो कि मेरे अन्तः प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है वह तो न मरेगा। अगर इस नित्यपनेकी बात भी साथ ही साथ चित्तमे हो तो फिर वह अनित्यभावना लाभदायक होगी। नही तो वह अनित्य भावना तो एक घबडाहट ही पैदा करेगी। यदि इस डोरको छोडकर पतग यहाँ वहाँ जाती है तो वह निराश्रय होकर कही न कही गिरेगी। अशरण भावनामे बोलते हैं कि "दल बल देवी देवता माता पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार ॥" तो ठीक है यह बात, लेकिन कोई इतना तक ही जानता हो कि हाँ ये कोई शरण नही हैं. सब स्वार्थके साथी हैं और जब बडे झंझट हो जाते हैं, आपसमें झगडे हो जाते हैं तो क्रोधी पुरुष भी यही बोलते है कि कोई किसीका रक्षक नही, सब स्वार्थके साथी है। तो क्या वे सब अशरण भावना भाने वाले हो गए ? अरे यह तो एक मोटी बात है, यह तो गुस्सेमें आकर भी कह दिया जा सकता है, लेकिन धर्मबुद्धिसे तो वह ही कह सकेगा जिसको यह पता हो कि मेरे अन्त प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप है वह निश्चयतः मेरा शरण है। उसकी यह बात भी सही है "दल बल देवी देवता मातु पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार।" सो यह बात तो ठीक है, लेकिन उसके साथ यह जुडा है कि मेरा मै राखनहार हूँ, कोई दूसरा राखनहार नही। ससारभावनामे भी सोचते हैं कि सब कुछ असार है। सब बेकार हैं— "दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान। कहु न सुख ससारमे सब जग देखहु छान ॥" बात ठीक है, लेकिन कोई इतना तक ही समझ रहा है, बाहर बाहरमे तो ऐसा कहने वाले अनेक लोग मिलेंगे। यहाँ कौन सुखी है ? सब दुःखी है, ऐसा कहने वाले तो प्रायः सभी मिलेंगे, एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक देख लो—प्रायः सभी लोग ऐसा ही बोलते है। कुछ थोडा जब विवेक करते हैं तो प्रायः सभी लोग यही कह बैठते है कि वास्तव मे सारा संसार दुःखी है, सब असार है, लेकिन ऐसा कहना उसका सफल है जिसे यह विदित हो गया कि मेरे ज्ञानमे मेरा ज्ञानस्वरूप भगवान अंतस्तत्त्व रहे, ऐसी स्थिति रहे,

यही सारभूत है । ऐसा जिसका परिचय है उनको इस बातमें दम है कि सब असार है । नहीं तो झुँझलाने वाले लोग भी ऐसा ही बोला करते हैं और घर छोड़कर भी भाग जाते हैं। तो घर छोडकर भगनेपर क्या वे शान्त हो गए ? उन्हें सब बेकार जंचा, लेकिन बेकार असार जचा, इतने मात्रसे बात न बनेगी, किन्तु अपना सार भी जंचना चाहिए कि सार क्या है, यही समयसार है । तो जो हमारे बाह्यसाधन हैं और भाव विचार चिन्तनके साधन हैं ये सब साधन तब सही उपयोगमे होते है जब एक ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्वकी ओर दृष्टि हो। जिसे यह पूर्ण धारणा है उसे कहाँ भय, कहाँ विकल्प, कहाँ चिन्ता ? लोग डरते हैं, भय खाते हैं, पर इसे कहा भय ?

(४२) आत्मवैभवके अधिकारीकी निर्भयता— जिन्होंने अपने आपके इस आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमूर्ति ऐसे इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वमे अपने ज्ञानको रुचित किया है उसे कहाँ भय है ? भला बतलाओ तो सही—किसी बडे अफसरको जब किसी तबादलेमे जाना पडता है तो वह ठाठके साथ जाता है । उसे एक रेलगाडीका डिब्बा मिलता है, मालगाडीका डिब्बा मिलता है, १०-२० नौकर माल चढाने वाले इधर मिलते हैं, अनेक नौकर माल उतारने वाले वहाँ मिलते है । मकान खाली मिलेगा । उस आफीसरका स्वागत करनेके लिए अनेक लोग वहाँ खडे होंगे । तो बताइये वह अफसर क्या करता है ? सिर्फ यहाँ गाडीमे चढना और वहाँ उतरना । उसे क्या तकलीफ ? उसको तो सब आराम है । तो ऐसे ही समझिये कि जो ज्ञानी पुरुष है उसे भी मरणका क्या भय ? वह तो यहाँ भी आरामसे रहेगा और मरण करके जिस जगह जायगा वहाँ भी आरामके समागमोके बीच रहेगा । जो आत्मज्ञानी पुरुष है वही वास्तव मे अमीर है । जिसे अपने ज्ञानमात्र स्वरूपका परिचय हुआ है, ऐसे पुरुषको तबादलासे अर्थात् मरणसे क्या भय ? जहाँ जायगा वहाँ ही लोग उसका स्वागत करेंगे अर्थात् उसे वहाँ क्या तकलीफ ? और भी देखो—वह ज्ञानी पुरुष अपने साथमे सारे वैभवको लिए जा रहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दका जो गुण है वह सब साथ लिए जा रहा है । यह ज्ञानदृष्टि साथ जा रही है, उसका कुछ भी छूट नही रहा है । वह निरख रहा है कि मेरा पूराका पूरा वैभव मेरे साथ जा रहा है । वहाँ बाह्यदृष्टिका भी आनन्द है, ऐसे उस बडे ज्ञानी अफसरको क्या कष्ट ? कष्ट तो होगा इन मोही मिथ्यात्वो क्लर्कोंको, जीवोंको। जो मरते समय भी कहते हैं कि भैयाको दिखा दो, मुन्ना मुन्नीको दिखा दो, यो मोह-मोहमे ही मर रहे है । वहाँ विग्रहगतिमे आकुलता है । इन्द्रियाँ नही है, मगर जायगा कहा ? यहाँका झंझट मिटेगा कहा ? जहा जायगा वहा भी क्लेश और जहा पैदा होगा वहा सारे जीवनभर भी क्लेश । तो भाई बाह्य ममतामे कोई सार नही है । ममताको छाडो और भीतरमे सत्य

श्रद्धा बनायें, चिन्तन बनायें, अनुभूतिके लिए कमर कसकर बैठ जायें। मुझे तो अपने आपमें अपने आपको निरखना है, और मैं अपने भगवानसे पूछकर रहूंगा। मुझे दूसरेकी चिन्ता नही, किन्तु यह खुद जवाब दे तो दें। देखो जब भगवान ऋषभदेव विरक्त हो गए तो सबको राज्य तो दे दिया था, पर दो लोग रह गए थे। तो वे पहुंचे, बोले—महाराज आपने सबको तो सब कुछ दिया, पर मुझे कुछ नही दिया। तो वहां देवता आये, बोलें—चलो हम राज्य देते हैं, तो वे बोले कि हमे अन्य किसीसे कुछ न चाहिए, वही दें तो दें। यो उनकी एक हठ थी। तो ऐसा ही हठ करके बैठ जावो कि हम तो अपने भीतरसे सीखेंगे। तो भीतरसे हम सब सीख सकेंगे। जो दूसरोंसे सुना है, ख्याल किया है, यहाँ वहाँका विचार है, तरग हैं ये सब बातें छोड दें और ऐसा सरल होकर बैठ जावें कि जो यह भगवान उत्तर देगा बस वही चाहिए, अन्यसे मुझे कुछ न चाहिए। उत्तर मिलेगा, समाधान मिलेगा, मगर यह तैयारी ईमानदारीके साथ हो। किसीका भी रच विकल्प, ख्याल, ममता, लगाव न हो तो अपना भगवान अपने को उत्तर दे देगा।

(४३) आत्मवैभवके परिचयीके सहज वैराग्य—देखिये—बात यह है कि अपने आपकी ऐसी श्रद्धा धारणा बनाये रहे रात दिन सदा, घरमें हो, दुकानमे हों, कही भी हो कि मैं तो ज्ञानप्रकाशमात्र हू, ज्ञानमूर्ति हू। जो जानन है वह विचित्र पदार्थ है। संसारके समस्त पदार्थोंसे विलक्षण पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप उपयोग मात्र, और मेरा कुछ नही है और मैं कुछ नही। यह बात अगर चित्तमे जमी रहेगी तो आप पवित्र है। अवश्य ही कल्याण होगा। इसकी आवश्यकता है ही मनुष्यभवमे। ऐसे इस ज्ञानतत्त्वको जिसने निरख पाया ऐसा कोई मनुष्य, आत्मा अगर विषयकषायोंके प्रसगमे फँस रहा है, पूर्वबद्ध कर्मोदयवश ऐसा हो रहा है कि भोगोमे, खान-पानमे, इन्द्रियके अन्य विषयोमे उसे पडना पड रहा है तो वह उसमे तीव्र अरतिभावको लिए रहता है, जिसे लोग झट कह देते हैं कि भाई चारित्र मोहका उदय है इसलिये रहता है। मौजमे तो बोल रहे हैं—"भाई चारित्र मोहका उदय है याने बोलनेका भी मौज आ रहा है और वह असयम चारित्र मोह छूटता भी नही है, और हम सम्यग्दृष्टि भी कहायें, धर्मात्मा कहायें, ऐसा अनेक लोग सोचते है, तो भाई ऐसी पद्धतिसे काम न चलेगा। अपनी परीक्षा करें तो उस विषय प्रसंगमे रहते हुए तुम्हारा मुख कहाँ रहता है ? तुम्हारा लगाव कहाँ रहता है ? अगर उसकी ओर लगाव है तो यह बोलना बेकार है। एक तो अरतिभाव रहता है—कैसे फस गए ? जैसे किसी विपत्तिमे कोई फंस जाय तो यहाँ वहाँका ध्यान रहता है—कहाँ फसे ? कैसे निकलें ? इसी तरह उन भोगप्रसगोमे हुआ करता। जिसे यह बुद्धि रहती है कि मैं कब निकलूं, यह ठीक स्थिति नही है, ऐसी तीव्र अरति जिसे

रहती है उसे कहते हैं विरक्त। तो ऐसे विरक्त ज्ञानी पुरुषका उपभोग भी कर्मनिर्जराके लिए होता है, उसका अनन्त संसार कटता है, कर्मबन्धन छूटता है। यह बात मिलेगी ज्ञान और वैराग्यकी कलासे। दो ही तो बातें हैं — ज्ञान और वैराग्य। इनमे भी मुख्यता है ज्ञानकी। ज्ञानसहित जो वैराग्य होगा वह कार्यकारी होगा। कोई ज्ञानकी बात रखे है तो उसका वह शुद्ध वैराग्य हो गया। तो इन दो बातोकी आवश्यकता है—ज्ञान और वैराग्य। जिसका यह ज्ञान सतत जागरूक रहता है उसके वैराग्यभाव भी बना रहता है। जिसके वैराग्य है, जिसके ज्ञान है वह क्रोधादिक कषायोसे हटा हुआ रहता है, लगा हुआ नही रहता। कभी देखा होगा कि आप किसी रास्तेमे खूब तेजीसे दौडते चले जा रहे हैं, काफी दूर तक दौड गए, सहसा आपको पता पडा कि हम तो गलत मार्गमे आ गए तो आप वही रुक जाते है। उस रुकते हुएमे भी आप काफी दूर तक तेजीमे भागते जाते है। आप अपनेको एकदम रोक नही पाते हैं। उस दौडते हुए की स्थितिमे आप अपने पैरोकी मुद्रा तो देखिये, यद्यपि अभी आप कुछ आगे बढते तो जा रहे हैं लेकिन उस समय आपके पैरोकी मुद्रा कुछ और हो रही है। आपके पैरोकी मुद्रा उस समय हटती हुई है, लगती हुई नही है। ऐसे ही जब कोई पुरुष ज्ञानी हो जाता है तो उसी सिलसिलेमे यद्यपि वह कुछ विषयकषायोंमे भी प्रवृत्ति करता है फिर भी उसकी मुद्रा उनसे हटती हुई रहती है, लगती हुई नही रहती। परिजनोके पालन पोषणके कार्य भी करता है, सबसे प्रेमका व्यवहार भी करता है फिर भी वह वास्तवमे पालन-पोषण कर रहा है अपने ज्ञानस्वरूपका, प्रेम कर रहा है अपने ज्ञानस्वरूपसे। वह जानता है कि ये सब लोग मेरे कुछ नही। मेरा तो मात्र यह ज्ञानस्वरूप है, मैं तो ज्ञानमात्र हू। ये तो सब व्यर्थके नटखट हैं। इस प्रकारका पवित्र ध्यान उस ज्ञानी पुरुषके समस्त सकटोको टालकर कल्याणका पात्र बना देता है।

(४४) **मूल क्लेश और विडम्बना** — लोकमे यदि कुछ विडम्बना है तो वह है जन्म मरणकी स्थिति। जन्मते हैं, मरते है, फिर जन्मते हैं फिर मरते हैं, इस तरह जन्ममरणकी जो परम्परा चली आ रही और उसमे नाना प्रकारकी योनियोमे उत्पन्न होते चले आ रहे और उस जीवनमे नाना प्रकारके इष्ट अनिष्ट संयोग वियोगके क्षण माने जा रहे हैं। यह जो पद्धति है, यह बडी विडम्बनाकी पद्धति है। लोग थोडेसे जीवनकी सुख सुविधावोकी बात तो सोचते हैं—मेरा मकान अच्छा बने, दुकान अच्छी चले, व्यवहारकी इज्जत वगैरह अच्छी बन जाय, इसको तो फिक्र करते हैं, मगर मूल जो क्लेश है जन्म मरणका, उसका विनाश करने की भावना नहा उत्पन्न होती है। यदि जन्ममरणके सकटोका विनाश करनेकी भावना बन जाय तो बहुतसी बातोमे अन्तर आ जाय, कषायें कम हो जायें, मोह तो रहेगा

ही नही और अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि इसकी अधिकतर जायगी। तो यह निर्णय रखें कि मेरे पर संकट है तो जन्म मरणका संकट है। निर्धन हैं तो कोई सकट नही अथवा संतान नही हैं या कम हैं या आज्ञाकारी नही हैं या कुपूत हैं, तो यह भी कोई संकट नही। शरीरमे कोई वेदना है, रोग है तो यह भी कोई संकट नही। शरीर तो सरीर है, संकट तो जन्म मरणका है। और जन्म मरणके बीच जितना जीवन है उसमे नाना विकल्प करनेका सकट लगा हुआ है। बतलाओ इन संकटोंको मेटनेका कोई सहयोगी हो सकता है? मित्र तो हमारा वह है जो इन संकटोको मेटनेमे समर्थ हो। कुटुम्बी जनोमे कौन मेट सकेगा इन संकटोको? और तो जाने दो, प्रभु भी हमारे इन संकटोंको मेट न पायेंगे, लेकिन प्रभुके स्वरूप के स्मरणसे, प्रभुकी वाणीके स्वाध्यायसे, मननसे जो मेरेमें ज्ञानप्रकाश होगा यह मेरा ज्ञान प्रकाश ही मेरे सकट मेट सकेगा। तो अपना यह लक्ष्य बनायें कि मेरेको तो वह काम करना है कि मेरे संकटोकी जड ही समाप्त हो जाय। पहिले यह विचारें कि ये जन्ममरणके संकट किस आधारपर लगे है? क्या कारण है कि जन्ममरण करना पडता है? वह संकट है देहमे लगाव लगाव रखनेका। अगर देहमे लगाव है, देहको माना कि यह मैं हू और उससे ममता है, उस ही रूपसे अनुभव है तो यह तो देहमें अहंपनेकी बुद्धि हुई। इस अहंबुद्धिके कारण फल यह होगा कि खूब देह मिलते चलें जायेंगे। क्यों न मिलेंगे? आखिर आप ईश्वर-स्वरूप है ही, भगवत स्वरूप है ही। अगर देह चाहा तो बराबर देह मिलते रहेगे। तो यह तो अनुकूल बात हुई। जो इसने चाहा, जिसमे इसकी प्रीति गई वह देह मिलता जायगा। अब यह उल्टी लीला जरूर हो गई। यदि इसके मनमे यह बात समा जाय कि मुझे तो यह देह न चाहिए। इस शरीरके सम्बंधसे ही तो ये सारे सकट बन रहे हैं। शरीर है तभी तो भूख प्यास, सर्दी गर्मी, इष्ट अनिष्टका संयोग आदि नाना सकट लग रहे हैं। अगर यह बात चित्तमें आ जाय कि मुझे शरीर न चाहिये, मैं तो शरीरसे न्यारा रहकर केवल रह जाऊँगा, तो फिर करना क्या है कि इस देहसे निराला अपनेको तकें। मैं देहसे न्यारा हूं। मुझे देह न चाहिए। अगर ऐसी बुद्धि जगती है कि इस देहसे निराला जो निज ज्ञानप्रकाश है उसमे अहरूपसे अनुभव बनता है तो यह निश्चित है कि देहकी परंपरा दूर हो जायगी याने सिद्ध पदकी प्राप्ति हो जायगी।

(४५) **देहात्मबुद्धिके दूर होनेपर सकल विडम्बनाओंका कारण**--देह मिलनेका मूल कारण है देहमें लगाव। देहमें लगाव होनेका कारण क्या है? देहमें लगाव होना यह कहलाता है एक प्रकारका राग और मोह। उस राग और मोहमे लगाव बना है। यही कारण है कि इस देहमे लगाव चलता है और जन्ममरणकी परम्परा चलती है। तो इसका अर्थ यह है कि

जो मेरा राग मोह उत्पन्न होता है उसको हम उपयोगमे लेते है और उसको अपनाते है, उस को दृढ करते है तो यह इसको देहकी परम्परा मिलती है। तो मूल बात यह हुई कि विकार हम अपनाते हैं। यह मैं हू—इस प्रकार हम उनके उपयोगका आश्रय देते हैं तो ये सारी विडम्बनायें, सारे क्लेश बनते चले जाते हैं। तब क्या करना ? इतना सावधान होना चाहिये अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवकी भावना दृढ बना बनाकर। इतना अदरमे साहस होना चाहिए कि स्पष्ट झलकता रहे कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नही। मै ज्ञानमात्र हू—ऐसी धुन बने, ऐसी धारणा बने, ऐसा अपने आपके सत्यका आग्रह बने तो सब सकट दूर हो सकेंगे। बच्चे लोग तो एक कथानक बोलते हैं—एक बार गीदडीने गीदडसे कहा कि बच्चे पैदा होनेको हैं तो कोई ऐसा स्थान बताओ कि जहा प्रसव कर सकें। तो गीदडने कोई गुफा बतायी। वह गुफा थी किसी शेरकी। पहिले तो गीदडी डरी कि कही शेर बच्चोको व हम सबको खा न जाय, पर गीदडने समझाया तुम चिंता न करो, जब शेर आये तो तुम बच्चोको रुला देना और जब हम पूछें कि ये बच्चे क्यो रोते तो बोल देना कि ये बच्चे शेरका मास खाना चाहते हैं, बस हम सब सम्हाल लेंगे। गीदडीने उस गुफामे बच्चे दिए। गीदड गुफाके ऊपरकी चोटीपर बैठा करता था। एक बार शेर आया तो गीदडीने क्या किया कि बच्चोको रुला दिया। ऊपरसे गीदडने पूछा—ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदडी बोली कि ये बच्चे शेरका मास खाना चाहते हैं। इस बातको सुनकर शेर डर गया, समझा कि यहां तो मेरे खाने वाला भी कोई रहता है। सो वह डरकर भाग गया। अब दूसरा शेर आया तो फिर गीदडीने अपने बच्चोको रुला दिया, गीदडने पूछा कि ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदडी बोली कि ये बच्चे शेरका मास खाना चाहते हैं। तो इस बातको सुनकर वह शेर भी डर कर भाग गया। यो बीसो शेर डर-डरकर भाग गए। एक बार बहुतसे शेरोंने मिलकर अपनी अपनी सम्मति दी कि देखो यह जो पहाडीकी चोटीपर ऊपर गीदड बैठा है उसकी सारी करामात है जो वहां अपनमे से कोई टिकने नही पाता। तो क्या करना चाहिए ? सलाह हुई कि देखो—उस ऊपर चोटीपर बैठे हुए गीदडको मार दिया जाय तो बस काम बन जायगा। अच्छी बात। अब ऊपर चढा कैसे जाय ? सो सलाह हुई कि एक शेरपर दूसरा, दूसरे पर तीसरा यो क्रमसे चढ चढकर उसके पास जाकर मारा जा सकता है। ठीक है। पर नीचे कौन रहे ? सलाह हुई कि यह जो लगडा शेर है यह ऊपर चढ भी नही सकता, इसको नीचे रखा जाय। ठीक है। सो वह लगडा शेर नीचे रहा, उसके ऊपर क्रमक्रमसे अन्य शेर चढते गए। जब गीदडके कुछ निकट पहुच गए तो गीदडीने फिर बच्चोको रुला दिया। गीदडने पूछा कि ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदडी बोली कि ये बच्चे लगडे शेरका

मास खाना चाहते हैं। सो लंगडा शेर डरकर भागा और सभी शेर एक पर एक भद-भदकर गिरे। तो ऐसे ही समझिये कि हम आपके साथ लगा हुआ है यह लगड़ा भ्रम। इसे लंगडा यो कहा कि इसमे कुछ भी तो दम नही है। यह भ्रम कल्पनासे बना है। और इस भ्रमके ही कारण हम आपपर जन्ममरणके अनेक संकट छाये हैं। इस देहमे आत्मीयताका जो भ्रम लगा हुआ है उस ही भ्रमके कारण हम आपके ये सारे संकट चल रहे हैं। यह भ्रम खिसका नही कि बस सारे सकट समाप्त। जरा सोचो तो सही कि इस जन्म मरणका कितना बडा दु ख है ? फिर इस जन्म-मरणके बीचका जो थोडा सा समय है उसमे भी हम आपकी क्या स्थिति है ? अरे जैसे बांसके ओर छोरमें लगी हो आग और बीचमे कोई कीडा पडा हो तो जो स्थिति उस कीडेकी है ठीक वैसी ही स्थिति हम आपकी है। इस थोड़ेसे जीवनमें रागद्वेष मोह, ममता, सकल्प, विकल्प आदिके नाना क्लेश हैं। इस जीवनमे वस्तुतः सुखी कोई नही है। सुखी तो केवलज्ञानी पुरुष ही है। जिसने यह निर्णय बना लिया कि मैं तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। मेरा किसी भी परपदार्थसे रच भी सम्बन्ध नही। यहाँ तक कि यह जो दिखने वाला देह है इस तकसे भी हमारा सम्बन्ध नही। ऐसा विवेकी पुरुष इतना धैर्य-वान होता है कि चाहे कैसे ही उपद्रव उसपर टूट पडें फिर भी वह अधीर नही होता है। यहाँ तो ये अज्ञानी मोही प्राणी इन संकटोके मेटने व सुख शान्ति पानेका जो कुछ भी प्रयत्न करते हैं वह सब उल्टा करते हैं। बल्कि होता क्या है कि ज्यो ज्यो वे अपनी समस्यायें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं त्यो त्यो वे और भी फंसते जाते है। फंसनेका मुख्य कारण यही है कि करना तो चाहिये था काम आत्मदयाका, पर कर बैठते हैं आशा तृष्णाका काम।

(४६) **स्वपरविवेककी आत्मदयारूपता**—आत्मदया वास्तवमे यही है कि जिन बातोसे कर्मबन्धन होता है उन बातोसे दूर रहे। तभी हमारे संकट दूर हो सकते हैं। कर्म बन्धन किस तरहसे होता है—उसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी धूल भरे अखाडेमें तैल लगाकर तलवार लेकर कोई पहलवान केलाके पेड अथवा बांस काटनेका व्यायाम करता है, सीखता है, तो वहाँ होता क्या है कि उसका सारा शरीर धूलसे लथपथ हो जाता है। अगर पूछा जाय कि बताओ उसके शरीरमे धूल चिपकनेका कारण क्या है ? तो कोई कहेगा कि साहब उसने धूल भरे अखाडेमे घुसनेका काम किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि तलवार चलानेका व्यापार किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि साहब वह छोटे-छोटे पेड काटनेका बुरा काम करने आया इसलिए चिपकी, लेकिन विवेकी पुरुष तो यह कहेगा कि तुम सब लोगोकी ये बातें गलत है। देखो बिना तैल लगाये कोई पुरुष अखाडेमे जाता है तो उसके शरीरमे तो धूल नही चिपकती, शरीरमे तैल लगाये बिना कोई पुरुष तलवार चलाने

का व्यापार करता है तो उसके तो धूल नही चिपकती, अथवा विना तैल लगाये कोई पुरुष अखाडेमे कदली आदिकके पेड काटता है तो उसका शरीर तो धूलसे लथपथ नही होता तो तुम लोगोकी ये सब बातें गलत हैं। अरे धूल चिपकनेका मुख्य कारण था वह तैल (स्नेह)। तो इसी प्रकार कर्मबन्धनकी भी बात समझिये। अगर पूछा जाय कि बताओ इस ससारमे कर्मबन्धन क्यो होता है ? तो कोई कहेगा कि इस कर्म भरे ससारमे ये प्राणी रह रहे हैं इस लिए कर्म बध रहे है। कोई कहेगा कि यह प्राणी साज शृङ्गारके बडे बडे साधन लिए है इसलिए कर्म बँधते है। कोई कहेगा कि यह प्राणी मन, वचन कायकी चेष्टायें करता है इस लिए कर्मबन्ध होता है, पर ज्ञानी पुरुष कहता है कि तुम सबकी ये बातें झूठ है, इस तरह से कर्मबन्ध नही होता। अरे अगर कर्म भरे ससारमे रहनेसे कर्मबन्ध होता तो फिर सिद्धोके भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नही होता, अगर साज शृङ्गारके साधन होनेसे कमबन्ध होता तब तो देखिये—तीर्थंकर भगवानके समवशरणमे कितनी शोभा होती है बडे बडे चमर छत्र सिंहासन बड़ा साज शृङ्गार होता है। तब तो उनके भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नही होता और अगर यह कहो कि मन, वचन, कायकी क्रियायें करनेसे कर्मबन्ध होता है तो यह भी तुम्हारी बात झूठ है। देखो भगवान अरहंतदेवके ये मन, वचन, कायकृत सभी क्रियायें चलती हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनका विहार होता है, पर उनके तो कर्मबन्ध नही बताया गया, अथवा मन, वचन, कायकी क्रियायें करने वाले मुनिजनोकी बात ले लीजिए—वह मनसे भला सोचकर, वचनोंसे भला सोचकर ईर्यासमितिसे चलते हैं, कदाचित् उनके विहार करते हुएमे किसी छोटे जीव जन्तुकी हिंसा हो जाती है, उनके पैरोके नीचे आकर कोई जीव मर जाता है तो वहाँ तो हिंसा नही बतायी गई। तो विवेकी पुरुष कहता है कि तुम सबकी बातें झूठ हैं। देखो—जो ये रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं उनको यह जीव अपने उपयोगमे बसाता है, उनका लगाव करता है, उन रागादिकमे मौज मानता है, उनके आधीन होकर यह अपनी रचना बनाता है। यही कारण है कि कर्मबन्ध होता है। यदि कर्मबन्ध न चाहिए तो प्रबल भेदविज्ञानकी आवश्यकता है।

(४७) **अवशिष्ट जीवन कालके सदुपयोगका अनुरोध**—देखो भैया! जीवनका समय तो गुजर रहा है। आप सबका दिनका समय तो व्यापार आदिकके कार्योमे व्यतीत हो जाता है, पर रात्रिका जो खाली समय है उसमे तो आपके पास काफी अवकाश है। आप शान्तिसे कुछ समयके लिए बैठकर आत्मचिन्तनका कार्य कर लिया करें। मैं क्या हू ? मैं एक ज्ञानमूर्ति हू। मेरा अन्य किसीसे प्रयोजन क्या ? सम्बध क्या ? मैं तो अपने ज्ञानको ही करता हू,

भोगता हूँ। यह ही मैं करता चला आया उल्टा मानता आया, इसलिए दुःखी हुआ। अगर मैं सहज शुद्ध ज्ञानको मानूं कि यह मैं हू और इससे जो सहज प्रतिभासन हुआ, यह मेरा कार्य है और वही मेरा भोगना है। यह ही मैं चाहता हू, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। आखिर यहाँ से भी विदा होना पडेगा। मरण होगा, पर्याय बदलेगी। पता नही कहाँ रहेगे, फिर इसका उठेगा क्या ? जो यहां रखा, जो यहां ममतामे लगाया इसका क्या उठेगा ? ये मेरे क्या काम आयेंगे ? मेरेको तो मेरे आत्मस्वरूपका जो भान है वह तो मेरे साथ जायगा, बाकी सब बेकार है। मेरा आत्मज्ञान ही मेरा शरण है, अन्य कुछ मेरा शरण नही। अन्य कुछ भी मुझे सन्तुष्ट कर सकने वाला नही। ऐसी वास्तविक अशरण भावना बनायें और अपने अन्तः विराजमान प्रभुको अपना शरण मानकर भावना बनायें। ऐसा क्षण कभी मेरा व्यतीत हो तो वह हितकारी जीवन है और इसके अतिरिक्त जो यथातथा जीवन बिताया जाता है वह इसके लिए लाभकारी नही है। जरा कुछ गम्भीर हृदयसे अपनेको सोचना चाहिए। दूसरोको देखकर, दूसरोके कहनेमें आकर अपनी चेष्टाओमे मौज नही मानना चाहिये। जैसे किसी बालकसे किसी ने कह दिया कि अरे देख तो सही, तेरा कान तो कौवा ले गया। तो वह अबोध बालक रोता है, दु खी होता है, कौवाके पीछे दौड लगाता है। किसीने पूछा कि बेटे क्यों रोते हो ? तो वह कहता है—अरे भाई चुप रहो, मेरा कान कौवा ले गया।...अरे कहां ले गया तेरा कान कौवा ? जरा अपने हाथोसे टटोलकर देख तो सही। जब वह अपने हाथोसे टटोलकर देखता है तो उसे अपने दोनो कान मिल जाते हैं। सोचता है—अरे कहाँ कौवा ले गया मेरे कान ? लो उसका रोना बन्द हो जाता है। उसका वह सारा दुःख मिट जाता है तो इसी तरह ये संसारी अज्ञानी प्राणी एक दूसरेके बहकाये हुए है। वे यह जानते हैं कि हमें विषयोसे सुख मिलेगा, धन-वैभव, इज्जत पोजीशन आदिकसे सुख मिलेगा। बस इन्हीसे सुखकी आशा करके रात दिन इनके पीछे दौड लगाते रहते हैं और रात दिन दु खी रहा करते है। ज्ञानी संतजन समझाते है कि अरे भाई कहाँ इन बाह्य पदार्थोंके पीछे दौड लगा रहे हो ? तुम्हारी शान्ति तो तुम्हारे ही पास है, तुम्हारा सुख तुम्हारा आनंद तो तुम्हारे ही पास है। जरा अपने अन्दर टटोलकर देखो तो सही।... अरे चुप रहो—मेरा सुख, मेरी शान्ति, मेरा आनन्द तो इन बाह्य चीजोमे ही है।...अरे भाई जरा अपने अन्तःस्वरूपको निहारो तो सही। जब यह संसारी प्राणी अपने अन्तःस्वरूपको टटोलकर देखता है तो झट कह उठता है—ओह ! मिल गया मेरा सुख, मिल गया मेरा आनन्द, मिल गया मेरा शान्तिका धाम। मेरा सब कुछ तो मेरे ही पास है। कहां मेरा कुछ भी मेरेसे बाहर गया ? लो उसका सारा दुःख मिट जाता है, तो बात क्या करना है ? मूल बात यह करना है कि हमे सदा सावधान रहना है, जागरूप रहना

है। मेरा मात्र यह मैं ज्ञान ज्योति प्रकाश मात्र हू। इस ज्ञान ज्योतिसे अतिरिक्त मैं अन्य कुछ भी नही हूँ। ऐसा अपनेको अनुभवना है, ऐसा अनुभव करनेके लिए बहुतसे त्याग बनेंगे। बहुत सी चीजोकी बलि देनी होगी। जैसे अनेक लोग ऐसा कहने लगते हैं कि भाई इस कामको करनेके लिए बलिदान करो, बलि दो। किसका ? यही शत्रु है, यही विपदा है, यही इन्द्रिय विषय है, यही दुश्मन है।

(४८) **विविध अनुभूतियोंकी आधारशिला ज्ञानवृत्ति**—अपने आपको ज्ञानस्वरूपमय देखनेपर यह भली भांति परिचय हो जाता है कि मैं ज्ञानपुञ्ज हू, ज्ञानघन हू। ज्ञान-ज्ञान जो है सो ही मैं हू और इस तरहके निर्णयके बाद जब आगे परिणति पर दृष्टि देते है तो विदित होना है कि मैं ज्ञानको ही करता हू। जब कभी अशुद्ध-परिणति भी हो रही हो तो स्वरूपकी ओरसे देखिये—यहां क्या किया जा रहा है ? कुछ न कुछ ज्ञान ही किया जा रहा है। एक ज्ञान द्वारा देखिये अपने सारे जीवनमे तो विदित होगा कि मैं कुछ ज्ञान ही ऐसा करता हू जिसमे दु ख होता है, ज्ञानको ही इस प्रकार करूँ कि सुख होता है और ज्ञानको ही इस प्रकार करूँ तो आनन्द होता है। परिणतियाँ ये तीन हैं—सुख, दु ख और आनन्द वैसे तो दो ही परिणति हैं—आनन्द और निरानन्द, क्योकि सासारिक सुखमे और दु खमे खेद बराबर है। सुख भी क्षोभपरिपूर्ण है और दु.ख भी क्षोभपरिपूर्ण है। वैषयिक सुखको भोगते हुए सब लोग अनुभव करते होगे कि बहुत क्षोभ होता है जब वैषयिक सुखके लिए प्रवृत्तिकी बात करनी पडी। विषय भोगते हुए क्षोभ होता है तब तृष्णाके कारण उसमे प्रवृत्ति हो रही है और विषय भोगनेके बाद भी क्षोभ महसूस करते हैं। तो वैषयिक सुख भी क्षोभसे भरे है और दुःख भी। एक मोहभाव लगा है इस कारण सुखमे हर्ष मानते हैं और दु खमे विषाद मानते है, पर देखा जाय तो सुख भी व्याकुलतासे पूर्ण है और दु ख भी व्याकुलतासे पूर्ण है। अतः सासारिक सुख और दु ख दोनो एक-समान हैं और उनकी तुलना मे आनन्द दीखे तो इन दोनो परिणतियोमे महान अन्तर है। तो ये सब बातें हमारे ज्ञानके मूलपर निर्भर हैं कि मैं कैसा ज्ञान करूँ कि सुख हो, कैसा ज्ञान करूँ कि दु ख हो और कैसा ज्ञान करूँ कि आनन्द हो। यद्यपि भेद दृष्टिसे यह बात है कि ज्ञानके साथ जो एक रागद्वेषका परिणाम लगा है, इष्ट अनिष्टकी बुद्धि लगी है उससे ये दु.ख होते हैं, किन्तु एक आत्माको ज्ञानस्वरूप देखकर जब इतनी सारी विचित्रतायें देखते है तो एक ज्ञानद्वारसे ही देखें। किसी जीवको जब दु.ख होता है तो यह मेरे लिए भला था, इसके बिना मेरा क्या जीवन है, आदिक कोई कल्पनायें हो रही हैं जो कि ज्ञानमे एक तरग हो रही है। उन कल्पनाओसे दु ख हो रहा है और जो सुखी होता है वह भी अपने मनमे कोई कल्पना कर

रहा है जिससे उसे सुख हो रहा है और जिन संतोको आनन्द हो रहा है, प्रभुको आनन्द हो रहा है तो उनका ज्ञान एक अविशिष्ट सामान्य ज्ञातादृष्टा मात्र एक जाननहार स्थितिका ज्ञान चल रहा है उसमें कोई आनन्द हो रहा है, तो हमको एक निर्णय बना लेना चाहिये कि हमे ज्ञानकी ही दृष्टि मोडना है, ऐसा ज्ञान न करें जिससे दुःख हो या झूठा सुख हो, किन्तु ऐसा ज्ञान करे कि जिससे आनंदभाव आये। ऐसा ज्ञान है स्वभाव ज्ञान, स्वभावदृष्टि। तो हम सबको व्याकुलतासे छूटनेके लिए स्वभावदृष्टिकी आवश्यकता है। स्वभावदृष्टिमे स्वभाव ज्ञात होता है। स्वभाव कैसे जाना जाता है? स्वभाव होता है अनादि अनन्त। जो वस्तुका प्राण है वही मेरा स्वभाव है। तो ज्ञान, दर्शन, चेतना ये मेरे स्वभाव है, यह स्वभाव अनादि अनन्त है, उसमें परिणमन होते रहेगे, फिर भी किसी परिणमनरूप न कह पायेंगे, क्योकि उसके बाद फिर एक स्वभाव तो न रहा, परिणति तो दूर हो गई। जैसे किसी मनुष्यका सही ज्ञान करना है कि मनुष्य कहते किसे है? तो जो बच्चा है उसका नाम मनुष्य न पडेगा। बचपन एक अवस्था है। बचपन मिटनेके बाद भी मनुष्य रहता है। जवान भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है, बुढापा भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है। तब कहना होगा कि इन तीनो अवस्थावोमे रहने वाला जो एक है वह मनुष्य है। इन सब अवस्थाओमे रहकर भी किसी एक अवस्थारूप नही बता सकते। इसी प्रकार यह आत्मा यह ज्ञानस्वरूप मैं नाना परिणतियोमें रहता हुआ भी जो एक अनादि अनन्त शाश्वत है उसे कहते है स्वभाव। इस स्वभावकी दृष्टि होनेमे प्रसंगमे जो एक ज्ञानधारा चलती है उस ज्ञानधारामे आनन्द बरसता है और कर्मक्षय हो, सुख दुःख दूर हो, संसारके दुःख दूर हो, ये सब कलायें इस स्वभावदर्शनमे है।

(४६) स्वभावदृष्टिके लिये समस्त नयविज्ञानोंकी उपयोगिता—परम,उपकारक स्वभाव दृष्टिके लिए क्या प्रयास करना है? देखिये विज्ञान परिचय होता है नयो द्वारा। जब हमने अपने जीवनमे एक उद्देश्य बनाया है कि स्वभावदृष्टि ही एक कर्तव्य है, मैं अपने अन्दर अन्त. प्रकाशमान परम ब्रह्मस्वरूपको ज्ञान द्वारा देखूं, उसको प्रतिभासू, ऐसी जब हमने एक प्रतिज्ञा की है चित्तमें कि मुझे ऐसा करना चाहिये, स्वभावदर्शनके लिए ही हमारे समस्त विज्ञानो का उपयोग होना चाहिए, परिचय होता है नयोके द्वारा, और उन नयोका मूल विस्तार है निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनयके वर्णनसे भी हम स्वभावदृष्टिका उपयोग करें और व्यवहारनयके वर्णनसे भी हम स्वभावदृष्टिका प्रयोग करें, जब हमारा केवल एक ध्येय हो जायगा तो हमारे लिए कही विवाद न रहेगा। प्रत्येक कथनोंसे, निश्चय व्यवहारके समस्त कथनोसे, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि समस्त कथनोसे हम एक स्व-

भावदृष्टिका उपयोग बना सकते है । हम उसे ऐसा ढालें कि जिससे हम स्वभाव दृष्टिके अभिमुख हो । जैसे जब जीवोका वर्णन आता है कि इतनी बडी अवगाहनाके जीव होते हैं—एक हजार (१०००) योजन लम्बा ५०० योजन चौडा और २५० योजन मोटा एक महामत्स होता है, अथवा यह कहा जाय कि इतनी छोटी अवगाहनाका जीव होता है जो कि तंदुलके असख्यातवें भाग प्रमाण होता है, तो इस सब वर्णनसे हमे यही साराश निकालना है कि अहो एक ब्रह्म स्वरूपके दर्शन बिना इस जीवकी ऐसी ऐसी दशायें हो जाया करती है । उससे भी हम स्वभावदृष्टिका उपयोग कर सकते है । यो प्रत्येक वर्णनसे हम स्वभावदृष्टिका उपयोग करें । चित्तमे जब यह धारणा बन जाय कि मुझे तो सर्वत्र स्वभावदृष्टिका ही कार्य करना है तो उसे सब जगहसे यह बात मिल जायगी । जैसे श्रोताके लक्षणोमे बताया है कि जिसके चित्तमे यह है कि कैसे मैं कल्याण पाऊँ तो फिर उसकी बाह्य परिस्थिति भी इस तरहकी हो जाती है कि वह रागमें नही पड़ता । अपने हितके लिए उसका प्रयोग कर लेता है । देखिये वस्तुका परिचय कराया जाता है निश्चयनयसे और व्यवहारनयसे । निश्चयनय बताता है एक वस्तुका सब कुछ उस एक ही वस्तुमे निहारनेको । इस पद्धतिसे जब हम निहारते हैं तो हम पर क्या प्रभाव होता है, कोई अन्य वस्तु हमारे ख्यालमे नही रहती । निमित्त कहो, उपाधि कहो, अन्य भी इससे सम्बंधित पदार्थ कहो, कुछ हमारी दृष्टिमें नही रहता और हम केवल उस एक वस्तुको निहारते रहते हैं । यद्यपि निश्चयनयमे दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध, और एक उन दोनोसे परे है परमशुद्ध निश्चयनय । तो परमशुद्ध निश्चयनयकी बात स्पष्ट है और शुद्ध निश्चयदृष्टिमे जब यह निहारा जाता है कि यह केवलज्ञानी जीव, इसका केवलज्ञान इसमे अपने स्वभावका उपादान करके वह केवलज्ञान निरन्तर परिणमता रहता है । देखो ना तो उस दृष्टिमे उस पर्यायमुखेन भी ज्ञान किया जा रहा, लेकिन स्वभावके ऊपर हम शीघ्रतासे पहुच जाते हैं । जिससे पर्याय निकली उसका स्रोत यह मुख्य रह जाता है और जब अशुद्ध निश्चयकी पद्धतिसे विचारते हैं तो वहाँ बद्ध अबद्ध आदिक बातें न देखकर देखा जा रहा है शुद्धपरिणमन मगर जैसे सामने दर्पण है और पीछे लडके खडे हैं तो यद्यपि लडकोका सन्निधान पाकर दर्पणमे छाया हुई, लेकिन यह कोई जरूरी तो नही कि देखने वाला उन बच्चोका ख्याल करता हुआ ही देखे । न ख्याल करे । जैसा वर्तमान परिणमन है वह देख रहा है और यह समझ रहा है कि यह परिणमन तो इस पर्यायका है । है वह अशुद्ध परिणमन, लेकिन बाहरी उपाधिका ध्यान न हो ऐसे वह एक द्रव्यमे देखता रहता है तो उसे अवकाश मिलेगा । एकद्रव्यमे देखनेके कारण, परद्रव्यको न निहारनेके कारण अब एक व्यवहार पद्धतिसे देखो—जैसे बताया है स्वय समयसारमे कि उदय विकार नाना प्रकारका है

और वह कर्मविपाक है तो वह मेरा स्वरूप नही है । मै तो एक टंकोत्कीर्णवत् ज्ञानस्वभावी हू । मुझमे जो रागद्वेष क्रोधादिक विभाव हो रहे है ये पुद्गल कर्मके उदयसे निष्पन्न है तब ही तो इतना तक कहा जाता कि ये पौद्गलिक है, उनको देखें तो किसलिए देखें ? इससे हमे यह शिक्षा मिली कि यह मैं नही हू । यह पुद्गलकर्मका ठाठ है । इससे मैं निराला एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू । उस व्यवहारनयके प्रयोगसे भी जान सकते । मैं ज्ञान-मात्र हूं, मैं क्रोधादिक भाव नही, क्योकि ये पुद्गलकर्मके विपाक है । इस तरह जब देखा तो इस स्वभाव दृष्टिके प्रयोगके लिए हमारा ज्ञान बना । तो हम नयोका नाना प्रकारसे ज्ञान करके प्रयास करें स्वभाव दृष्टिको निहारनेका ।

(५०) **आत्मशान्तिके अर्थ ज्ञानसुधारकी आवश्यकता**—देखो ज्ञानकी बदलसे बहुत बदल हो जाती है । जैसे किसी बालकको जब हुचकी आती है तो कुछ बालक क्या उपाय करते है कि कोई ऐसी बात उसके प्रति कह देते है कि वह सोचनेमे लग जाता है । कोई अपराध लगा दिया, कोई और गड़बड बात कह दी, तो उसका ज्ञानोपयोग बदल जाता है और उस की हुचकी बन्द हो जाती है । ज्ञानकी बदलका लोकमे भी बडा प्रभाव देखा जाता है, अगर अध्यात्म बदल जाय तो फिर उसके प्रभावका तो कहना ही क्या है । तो हमे स्वभावदृष्टिके लिए प्रयास करना है । एक दृष्टान्त लो—यमुना नदीमे रहने वाला कोई कछुवा अपनी चोंच को पानीसे बाहर निकालकर तैर रहा था । उसकी चोचको चोटनेके लिए सैकड़ो पक्षी उस पर मंडरा रहे थे । वह कछुवा इधर उधर भगता फिरता था और दुःखी होता फिरता था । पर अरे कछुवे तू क्यो व्यर्थमे दुःखी होता फिरता है । अरे तेरे पास तो ऐसी कला है कि अगर उसका उपयोग कर ले तो तेरे सारे दुःख तुरन्त ही समाप्त हो जायें । मानो कछुवा पूछ बैठे कि बताओ वह क्या कला है ? तो कहेगे कि अरे तू ८ १० अंगुल पानीमे जरा डूब तो जा, बस तेरे सारे संकट खतम । फिर तो हजारो लाखो कितने ही पक्षी तेरा कुछ बिगाड न कर सकेंगे, ठीक यही बात अपने आपमे देखिये–हम ज्ञानहस है, ज्ञानसागरमे ही रहते हैं, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है । ज्ञानमे ही हम बसते हैं । इतना भी भेद क्यो करें ? ज्ञान ही ज्ञान रूप हैं हम । तो ऐसे ज्ञानरूप होकर, ज्ञानसरोवर होकर हमने क्या किया है ? उपयोगकी चोचको इस ज्ञानसागरसे बाहर निकाल रखा है, मायने पर-वस्तुवोमे हम नेह लगाये हैं, ध्येय लगाये हैं, ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे सर्वस्व है, इनसे मेरेको सुख होगा, इनसे मेरेको मगल आनन्द है, इनसे मेरा जीवन है । कितनी ही बातें सोच रहे है । मान प्रतिष्ठा आदिक अनेक बातोमे यह उपयोगकी चोच लग रही है । जिसने अपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है, जो परद्रव्योमे फसाव रखे है उसे हजारो सकट आयेंगे ही । मित्र लोग सतायें, राजा सताये, चोर

सतायें, डाकू सतायें, रिस्तेदार लोग सतायें, इष्ट अनिष्ट संयोग वियोग आदिके अनेक सकट आते हैं। क्यो ये सकट आते है कि इसने अपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है। इसे कोई समझाये—जैसे हमारे आचार्योंने नये नये ढगोसे समझाया है कि रे जीव तू क्यो दु खी होता है ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि हजारो लाखो कितने ही संकट आ जायें तो भी तेरा कोई बिगाड नही कर सकते। क्या है वह कला ? अरे अपने उपयोगकी चोच जो बाहर निकाल रखी है उसे अपने ज्ञानसागरमे डुबो दे अर्थात् उपयोग जो इतना बाहर बाहर चल रहा है उस उपयोगको तू अपने आपमे प्रवेश करा दे, फिर तेरेपर कोई भी सकट नही आ सकते हैं

(५१) **अज्ञानसंकटके विनाशका उपाय सम्यग्ज्ञान**—देखो—यद्यपि कहनेको सकट नाना हैं, क्योकि किसीसे पूछो कि भाई तुम्हे क्या दु ख है ? तो वह अपना दु ख अलग ही बतायगा। हमारे सामने यह विरोधी आ गया, मेरा अमुक काम अभी पूरा नही बन रहा यो नाना कष्ट बतावेगे, लेकिन वे सब कष्ट नाना कुछ नही है। वे सब कष्ट एक ही हैं। कितने ही कष्ट इकट्ठे कर लें, करोडो दु खियोसे पूछो कि भाई तुम्हे क्या कष्ट है ? तो सभी लोग अपना अपना अलग अलग दुःख बतावेंगे। तो उन सब कष्टोका मूल कारण क्या है ? मूल कारण यही है कि एक अपने आपके स्वभावसे चिगकर पर तत्त्वोमे लग गए, यही कष्ट है। चाहे धनकी बात हो चाहे परिजनकी, सभी कष्टोका मूल कारण यही है। इन समस्त कष्टोको मिटानेका उपाय केवल एक ही है, जो व्यक्ति लाइनपर है उसे तो इन कष्टोका मिटाना सरल है और जो व्यक्ति लाइनपर नही है उसे इन कष्टोका मिटाना अति सुगम है। तो हम स्वभावदृष्टिके लिए अधिकाधिक प्रयास करें, यही धर्म है, यही धर्मका पालन है। पर यह प्रयास कैसे होगा ? देखो सभी उद्यम एक इस ही उपायके लिए हैं। गृहस्थधर्म, मुनिव्रत, व्रतसयम आदिक जो भी इसके उपाय हैं वे सब इसीलिए है कि स्वभाव दर्शनमे मेरी स्थिरता हो जाय। स्वभावदर्शन कहो, प्रभुदर्शन कहो, यह अहकार मेटे बिना नही हो सकता। अह-कारके मायने है कि जो मैं नही हू, उसे माना कि यह मैं हू। देह मैं नही हू, पर माना कि यह मैं हू, तो यह अहकार हो गया। जैसे लोग कहते हैं कि नाक रखना, अपनी टेक रखना यह कहलाता है अहकार। जब तक अहकार है तब तक हम प्रभुदर्शनके पात्र नही हो सकते। सब जीव मेरे ही स्वरूपके समान हैं। मेरे स्वरूपमे किसी अन्य जीवके स्वरूपसे कोई विशिष्टता नही है, ऐसा जब परिचय होता है तो फिर अहकार नही रहता। अहकार तब होता है जब बाह्यदृष्टि हो। यह कार्य होना ही चाहिये, ऐसे इस अहकारके जीवनमे चलने वाला प्राणी न तो कभी अपनेको शान्त कर सकता और न उसके जीवनमे कभी अध्यात्म-

प्रगति ही हो सकती ।

(५२) **शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमें प्रथम तथ्य**—जिसको शान्त होनेकी अभिलाषा हुई हो उसको इन चार तथ्योका निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है । मैं क्या हू, मेरा क्या है, मैं क्या करता हू, मैं क्या भोगता हूं ? इन चार समस्यावोका सही निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है । अब इन बातोपर क्रमसे ध्यान दीजिए । मैं क्या हूं ? इसका उत्तर चाहेगे तो मोटेरूपसे समझ लीजिए कि कोई भी जीव यह नही चाहता कि मैं मिट जाऊं । किसी बाह्यवस्तुके प्रसगमे भी जैसे किसीसे कहा जाय कि भाई तुम खोम्चा फेरते हो, तुम हमसे यह लाखोकी जायदाद ले लो, मगर एक वर्षके बादमे सब कुछ तुमसे छुडा लिया जायगा, तो क्या वह उस स्थितिको पसंद करेगा ? न पसंद करेगा, मैं थोडे दिनोको अच्छा बन जाऊँ और फिर पहिले जैसा गरीब बन जाऊँ ऐसी स्थिति वह नही चाहता । ऐसे ही परख लीजिए कि मैं वह हू, जो कभी मिटता नही । मै ध्रुव हू, सदा रहने वाला हू । यह भ्रम लगा हुआ है कि मै मिट जाया करता हू । मिट जाने वाली चीज दशा है, और जिसपर लोगोकी दृष्टि है वह एक विकार दशा है, औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है, वह मिटने की चीज है । उसकी भावना करो कि जडसे मिट जाय, लेकिन मैं स्वयं क्या हू ? मैं वह हू जो कभी मिटता नही अच्छा कुछ अनुभवसे भी विचारो कि मै क्या हू ? ये तो सभी पदार्थ हैं जो मिटते नही है । जो मिटता है वे सब दशायें है । जो पदार्थ है वह कभी मिटता नही । तो यह तो सब पदार्थोंमे पायी जाने वाली बात है । कुछ असाधारण बात तो देखिये जिससे अनुभव जगे कि मै क्या हू ? तो मै कुछ समझ रहा हू, जान रहा हू, कुछ तो बात जानकारीकी बन ही रही है । सभीमे यही बात है यदि कोई पुरुष यह कहता है कि आत्मा नही है, मैं नही हू, यह झूठा भ्रम बना रखा है कि यह आत्मा है, यह भौतिक चीज और भूत चतुष्टयसे एक यह बिजली पैदा हुई है । मै कुछ नही हू । जो ऐसा जानता है कि मैं कुछ नही हूँ, आत्मा नहीं हूँ यह जानकारी तो कमसे कम बन रही है ना ? चाहे निषेध रूपमे रहो । जिसे यह ज्ञानकारी है वही आत्मा है । मैं क्या हू ? एक ज्ञानमय पदार्थ । जिसमे जानन बना हुआ है वह मै आत्मा हूँ, जिसमे जानन बना है उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श तो हो नही सकते क्योकि वह ज्ञानमय पदार्थ है, तो मैं जानने वाला पदार्थ हू, जानता हू इसीसे यह सिद्ध है कि मै रूप, रस, गंध, स्पर्श ये मै नही । उपयोग है एक जानन । तो इसका विशिष्ट परिचय पानेके लिए जाननस्वरूपको ही ध्यानमे लाना होगा । जाननका क्या स्वरूप है ? जानन क्या कहलाता है ? जानन क्या स्थिति है ? वह रूप जाननके द्वारा जाननेकी स्थितिको पहिचानने चलेंगे तो पहिचानमे आ जायगा । तो आत्मामे ऐसी ज्ञान कला है कि

जिसमे यह जाननेके लिए चले तो उसे जानकर रहेगा। पर जाननेके लिए चले तो सही। जैसे एक्सरा यन्त्र होता है हड्डीका फोटो लेने वाला, उससे फोटो लिया जाय तो वह यंत्र चाम मास मज्जा, खून आदि सबको छोड करके सिर्फ हड्डियोका फोटो ले लेता है, इसी तरह हमारा एक ज्ञानयत्र है। हम जिसे जानना चाहे, बीचमे चाहे कितने ही आडे आयें, कितनी ही बाधायें आयें उनको न जानेंगे किन्तु जिसका हमने लक्ष्य किया है उसे जानकर रहेंगे। मै अगर अपने इस जाननस्वरूपको जानने चलूं। दृढ सकल्प बन जाय तो मैं अपने जानन स्वरूपको जानकर रह सकता हू, पर जीवोकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंकी ओर लगी है, वह एक ऐसी बडी बाधा है कि जाननस्वरूपकी ओर यह चल ही नही पाता। मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, आकाशवत् निर्लेप अमूर्त हूँ, किन्तु ज्ञानसे अधिष्ठित हूँ, ऐसा मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ अपने को मत समझें, जैसे माना कि मैं देह हूँ, देहको मत माने कि मैं देह हूँ। शरीर तो शरीर है। शरीरको तो उर्दू मे कहते है दुष्ट प्रकृति वाला। इस ही शरीरके कारण हम आपको नाना दु:ख लगे है। भूख प्यास, ठढी गर्मी, सम्मान अपमान आदिक ये सब दु:ख इस शरीरके कारण ही तो लगे हैं। यह शरीर मैं नही हूँ। यह शरीर रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है। शरीर भी क्या है ? एक माया रूप। यह मैं नही हूँ। मैं तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, ऐसा ज्ञानस्वरूपमय अपने आपका बोध हो तो बहुतसी समस्यायें इसकी दूर हो जाया करती हैं। मैं वह ज्ञानमय पदार्थ हूँ और और रूप नही हूँ।

(५३) **शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमे द्वितीय तथ्य**—दूसरी बात सोचिये—मेरा क्या है ? लोग तो कहा करते है कि यह मेरा धन है, मेरा मकान है, मेरा वैभव है, मेरा परिवार है, मेरा शरीर है, यो पर पदार्थोंको अपना बताते हैं। जरा विचार तो करो—मकान तो ईंट पत्थरोका है वह तो आपसे दूर जगह पडा है, वह आपका क्या हो सकता है ? आपका मकान कुछ नही है, आप यहाँ मन्दिरमे बैठे हैं तो मकान आपके साथ चिपट कर तो नही आया। धन वैभव भी आपका कुछ नही है, वह भी एक पौद्गलिक पिण्ड है। जरा निकट आया, आपने ममता कर ली, पर ममता करनेसे वह आपका न बन जायगा। वह तो भिन्न चीज है। और, ममता करके खुश तो होते हैं, मगर ममता करके क्लेश मिलता है जीवोको। सुखकी बात नही मिलती। जिसके पास धन है उसमे ममता है, वह जानता है कि रात दिन यह उपयोग ऐसा बाहर भटकता रहता है कि अपने अन्त: प्रकाशमान प्रभुके दर्शन नही कर पाता। ये बाह्य पदार्थ धन वैभव आदिक मेरे कुछ नही हैं। ये नही हैं तो शरीर तो मेरा कुछ है ? शरीरके साथ आया हूँ, शरीरके साथ रहता हूँ, शरीरमें वेदना होती है तो मेरेमे कष्ट होता है। शरीरसे सारी बात लगी है और नीतिकार यहाँ तक लिखते है कि शरीरमाद्य

खलुधर्मसाधनं । तो शरीर तो मेरा हुआ, इस पर तो विचार करो । देखो जैसे किसी दुष्टसे फस जाय तो उससे बचनेका जो रास्ता बनाया जाता है वह कुछ और है, मगर यह कुछ और है। इस शरीरसे हम फँसे हैं तो इससे निपटना है, मगर इससे दुश्मनी करके हम नही निकल सकते । इस शरीरका घात कर दें तो दूसरा शरीर मिलेगा । कैसे निपटे ? इसे तो विधिवत् ही निपटाना पडेगा तब ही इससे पिण्ड छूट सकता है । हमारा जब तक जीवन है तब तक आहार करना और ढंगसे रहना यह सब करना पडता है, मगर यह सब कुछ करते हुए भी मैं क्या हू, मेरा क्या है, इसका सही निर्णय बनाना होगा । तब ही इससे निपट सकेंगे । मेरा देह नही । देह जड है, पौद्गलिक है। मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं, सारे क्लेश इस देह के सम्बंधसे है, यह देह जो कि किसी दिन परिजनो, मित्रजनो द्वारा मरघटमे जलाकर राख बना दिया जायगा उस देहसे क्या ममता करना ? अरे जिस शरीरको पक्षी लोग चोट खायेंगे । जो शरीर अत्यन्त घिनावना है, क्या मैं ऐसा हूँ ? मैं ऐसा निराला ज्ञानमय पदार्थ हूँ । अब समझमे आया कि देह मेरा नही है लेकिन कषाय, विचार, उद्यम ये तो सब मेरे हैं ? अरे कषाय भी मेरे नही है, कषाय क्या चीज है ? पूर्व बद्ध कर्म उदयमे आते हैं, उनमे एक विलक्षण दशा बनती है, उसको यह जीव चेतता है, अनुभवता है, अपना मानता है। इसने अपने उपयोगमे एक ऐसी कल्पना बना ली है कि बस यही तो कषाय है। तो यह कषाय मेरी नहीं है । जैसे दर्पणमे बाहरी पदार्थोंकी छाया प्रतिबिम्बित हुई तो दुनियाके लोग कहते हैं कि यह दर्पणकी छाया नही है, यह तो अमुककी है। उसका निमित्त पाकर दर्पणमे स्वच्छताका विकार हुआ है, ऐसे ही कर्म विपकका निमित्त पाकर इन विकारोमे स्वच्छताका विकार हुआ है, वह मेरा नही है । अच्छा रागद्वेषादिक भाव मेरे न सही, मगर जो विचार बनते है, वे विचार तो मेरे होंगे ? तो विचार भी मेरे नही ।

(५४) **विकल्पोंकी अनात्मीयता**—देखो बहुत मोटी दृष्टिसे यह कहा जाता है कि बाहरी पदार्थ मेरे कुछ नही । पुद्गल मेरे नही, अन्य जीव मेरे नही, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य मेरे नही, उनसे ममता हटानेका जहाँ उपदेश दिया जाता है वहाँ यह तर्क उत्पन्न होता है कि भाई पुद्गलको तो लोग कहते है कि यह मेरा है इसलिए इसको तो मना करनेका उपदेश दें कि ये मेरे नही है, मगर धर्म, अधर्म, आकाश, कालके बारेमे कौन विचार करता है ऐसा कि यह धर्मद्रव्य मेरा है, अधर्मद्रव्य मेरा है। कोई ऐसा कहता है क्या ? कोई नही कहता; फिर क्यो निषेध किया जाता है कि यह समझलें कि धर्मद्रव्य मेरा नही, अधर्मद्रव्य मेरा नही ? तो उसका उत्तर यह बनेगा कि यद्यपि कोई धर्मद्रव्यके बारेमे सीधा तो नही बोलता कि धर्मद्रव्य मेरा है मगर एक बात तो बतलाओ कि धर्मद्रव्यके स्वरूपके बारे

मे अगर तत्त्वचर्चा हो रही हो और उस तत्त्वचर्चामे कोई हमारे जाने हुए तत्त्वके मुताबिक न बोले तो वहाँ क्रोध उमड जाता है, लडाई हो सकती है, बातचीत बढ जाती है, यह क्यो बढ गई ? धर्मद्रव्य तो तुम्हारा है ही नही, पर धर्मद्रव्यकी बातचीतके प्रसगमे इतना बडा झगडा क्यो बन जाता है ? यो बन जाता है कि धर्मद्रव्यके बारेमे जो मेरा विकल्प हुआ, जो विचार हुआ, जो जानकारी बन रही उस विकल्पमे यह मेरा है, यह मैं जानता हूँ यह मेरी चीज है, वहाँ ममता लगी है। धर्मद्रव्यके बारेमे सीधी ममता तो नही लोगोको मालूम होती मगर उसके सम्बन्धमे जो विकल्प उत्पन्न होता उस विकल्पमे तो ममता है ना। कैसे जाना अगर विकल्पमे ममता न होती तो धर्मद्रव्यकी चर्चाके प्रसगमे लडाई झगडा क्यो यह ठानता ? अब समझ लीजिये कि विकल्प भी मेरा नही, ये विचार भी मेरे नही। तब मै क्या हूँ ? एक सहज प्रतिभास मात्र ज्ञानतत्त्व हूँ। अहो विशिष्ट प्रतिभास होना, किसी वस्तुकी जानकारी होना, कोई तर्क उत्पन्न होना, यह विशिष्ट जानन भी जब मैं नही हूँ, मेरा नही है तब फिर जगतमे मेरा क्या है ? मेरा शाश्वत् सहज ज्ञानस्वरूप, यही मेरा है, अन्य कुछ नही। ये जड वैभव तो प्रकट पर हैं, ये मेरे क्या हो सकते है ? और जिन शरीरोमे मै ऐसा घुला मिला अनादि कालसे चला आया हू वह घुला मिला शरीर भी जब मेरा नही रहता है तो इन प्रकट भिन्न ढलोकी तो बात ही क्या है ? और तो जाने दो। ये रागादिक भाव भी मेरे बनकर नही रह पाते। ये मिट जाते है। ये सब मै नही हूँ। ये सब मेरे नही हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और जो मेरा ज्ञानस्वभाव है वह ही मेरा वैभव है। दूसरे प्रश्नका यह निर्णय है कि मेरा क्या है ?

(५५) शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमे तृतीय तथ्य—अब तीसरी बातपर विचार करें मैं क्या करता हू ? तो इसका उत्तर तो तब ही बनेगा जब पहिले उस "मैं" को तो समझ लूँ। मैं समझमे आयगा तो इसका करना भी सही समझमे आयगा। मैं क्या करता हू ? मैं हूँ ज्ञानस्वरूप जानन मात्र। तो स्पष्ट बात यह है कि मै उपयोगका काम करता हू, मैं जाननेका काम करता हूँ। देखो हर समय यह जीव जाननेका काम करता है। जाननेका काम हो तो उसे आकुलता नही, अशुद्ध जाननेका काम हो तो इसे आकुलता है, जितने भी जीव को सुख दुःख होते हैं वे परवस्तुमे नही होते या बाह्य वस्तुसे सुख दुःख नही प्राप्त करता यह जीव, किन्तु अपने आपकी कल्पनामे कुछ ऐसी बात बनायें कि जिससे सुख महसूस करता, दुःख महसूस करता। जैसे मानो कही बहुत दूर पर किसीकी दुकान है, वहाँ हुआ तो हो फायदा और यहाँ आपके पास खबर ऐसी आ जाय कि लाखका नुक्सान हो गया है तो आप यहाँ बैठे हुए दुःखी हो गए और मान लो हुआ तो हो एक लाखका नुक्सान, पर

खबर आ जाय कि इस बार एक लाख रुपयेका फायदा हुआ तो आप सुखी हो जाते है। तो भाई किसी परवस्तुसे सुख दु:ख नही होता। किन्तु सुख दुःख होता है आपकी कल्पनासे जैसी आपकी कल्पना बनी उसके अनुसार सुख दुःख मानते। तो सुख दुःख भी क्या चीज है? कल्पनाका ही नाम सुख है और कल्पनाका ही नाम दुःख है। कल्पना क्या चीज है? उपयोगकी ही एक लीला है तो मैं प्रति समय उपयोग ही करता हूँ, जानन ही करता हूँ। कल्पनायें करूं या कल्पनायें न करके शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहू, मैं एक ज्ञाताद्रष्टा रहू तो शान्ति है या कल्पनायें करूं तो अशान्ति है, पर करता हूं मैं उपयोगका ही काम। मै बाह्य पदार्थोंको कुछ नही करता। जो लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि मैंने मकान बनाया, मैंने दूकान बनाया, मैंने अमुक काम किया तो ये मेरी सारी बातें केवल एक कल्पनामात्र हैं। मैं उनको करता नही। तो मैं क्या करता हूं? मैं केवल अपनेमें अपने भावोको करता हू। भावोके सिवाय मैं और कुछ नही करता। अशुद्ध श्रद्धा है तो अध्यवसान करता हू; शुद्ध श्रद्धा है तो ज्ञाताद्रष्टा-रूप परिणमन करता हूं मगर उपयोगकी कला करनेके अतिरिक्त मैं और कुछ नही किया करता हू; ये सारे भ्रम हैं मैंने मकान बनाया, दुकान बनाया, मैंने अमुकको यो पढाया लिखाया। बहुतसे दु.ख तो यह जीव व्यर्थ ही मुफ्तमे लेता रहता है। अज्ञान बने, भ्रम बने, दु खी हो गये। बात सत्य समझें। मैं बच्चोको पालता पोसता हूँ, पढ़ाता लिखाता हू, बड़ा बनाता हूं, धनी बनाता हू आदिक ये सब भ्रम है। अभी कोई साल दो सालका ही बच्चा है, उसे देखकर यह पिता क्या क्या बातें सोचता है? यह सुखी रहे, यह खूब फले फूले, यह आनन्दमग्न रहा करे और उनकी सेवाके लिए बाई भी रख देते हैं, रिस्तेदार भी बुला लेते है, हर समय यही चाहता है कि यह बच्चा खुश रहे। और वह बच्चा उस पिताके बारेमे कुछ नही सोचता कि यह सुखी रहे। उस बच्चेको अपने पिताके प्रति तो कुछ भी चिंता नही है। तो भला बतलावो कि जिस बच्चेके लिए पिता इतने विकल्प करे, इतना पुरुषार्थ करे, इतनी नौकरी करे, तो इसमे पुण्य किसका बडा है? उस पिताका पुण्य बडा है या पुत्रका? पुण्य तो उस पुत्रका ही बड़ा है जिसका कि पिता चिन्ता करता है। अरे जिसका पुण्य बड़ा है उसकी तो चिन्ता करते है और जो खुद नौकर बने फिर रहे हैं, गरीब बन रहे है उसकी कुछ भी चिन्ता नही करते। मैं क्या किया करता हू। मैं बाहरमे कुछ नही किया करता। इस जीवके शुभ अशुभ कर्म लगे हैं उनके उदयानुसार इसे सुख दुःख होते हैं। इनको करनेमे मैं समर्थ नही। इन सुख दुःखोको मैंने नही किया। सुख दु ख करनेमे समर्थ नही, मुक्ति दिलानेमे समर्थ नही। उनका ही वीतराग परिणाम होगा तो मुक्ति पा लेंगे, उनका सराग परिणाम होगा तो वे संसारमे फसे रहेगे।

(५६) परपरिणति करनेकी अशक्यताका दिग्दर्शन—बाहरी पदार्थोंका कुछ भी करनेमें मै समर्थ नही। कहेगे वाह ! मै बोल रहा हूँ इतना तो मानोगे। क्यो तुम कहते कि मै कुछ भी करने मे समर्थ नही हूँ ? अरे भाई तुम बोलते भी नही हो। तो फिर ये शब्द कैसे निकल रहे ? यो निकल रहे कि मै उपयोग स्वरूप आत्मा अपने भावोको बनाता हूँ। इच्छायें करता हूँ, यहाँ तक तो मेरा काम है, अब इच्छा किया तो इच्छाका निमित्त पाकर प्रदेशोंमें परिस्पद हुआ। यह ही काम मान लीजिये मगर इसके बाद तो कुछ काम ही नही है मुझ आत्माका तो फिर हो कैसे गया ? हो यो गया कि शरीरके बंधनमे है आत्मा। उसने इच्छा की। इच्छाके अनुकूल शरीरमे प्रदेश परिस्पद हुआ। परिस्पदके अनुकूल इस शरीरमे रहने वाली वायु चली, और वायुके चलनेके अनुकूल ये ओठ, दंत, जिह्वा आदिक चल पडे। बस ये शब्द निकल पडे। यह मुख तो एक हारमोनियम है। ओठमे ओठ मिलाकर प फ ब भ आदि शब्द निकले, दाँतोमे जिह्वा लगानेसे त थ द ध आदि शब्द निकले, जिह्वाको ऊपर के मूर्धामे लगानेसे ट ठ ड ढ आदि शब्द निकले। यो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे ये शब्द निकल पडे। तो इन शब्दोका भी कर्ता मै नही हूँ। शरीरकी क्रियायें भी मै नही करता हूँ। इच्छा हुई फिर उस इच्छाके अनुकूल प्रदेश परिस्पद हुआ, उसके अनुकूल शरीरमे वायु चली, फिर उसके अनुरूप ये हाथ पैर चले। जरा तत्त्वस्वरूपपर दृष्टिभेद कर देखो—मै क्या करता हूँ ? मै केवल अपने भाव करता हूँ। भावोके अलावा मै और कुछ नही कर सकता। देखो जब मै भाव ही करता हूँ तो फिर क्यो न बुद्धिमानी करूँ। ऐसे भाव बनायें कि जिससे ससारके सकट टल जायें। ऐसे भाव क्यो बनायें कि जिससे मुझे सक्लेश हो ? देखा होगा कि ये बच्चे लोग परस्परमे प्रीतिभोजका नाटक रचते हैं। वहाँ खाने पीनेको कुछ नही रखते पर वह तो उनका खेल है। किसी पेडकी पत्तियाँ तोड लिया, कहींसे कुछ ककड उठा लाये बस प्रीतिभोजका खेल चालू कर दिया। उन पत्तोको वे बच्चे यह कहकर परोसते हैं कि लो रोटी, ककडोको यो कहकर परोसते है कि लो गुड। वहाँ केवल भाव ही बनाते हैं वे बच्चे। कही वहाँ रोटी नही रखी, कही वहाँ गुड नही रखा। अरे भाई जब भावोका ही प्रीतिभोज है तो वहा रोटीके बजाय कचौडी क्यो नही कहते ? गुडकी जगह लड्डू क्यो नही कहते ? पर यह तो उनके उपादानकी बात है। उनमे जैसी योग्यता है वैसे वे भाव बनाते हैं। तो उसी प्रकार हम आप जब केवल भाव ही बनाते हैं, भाव बनानेके अतिरिक्त और कुछ करते नही तो फिर अच्छे भाव क्यो नही बनाते जिससे अपना कल्याण हो ? अपने भाव शुद्ध बनावें। अपने आत्माके सत्य स्वरूपका निर्णय बना लें। मैं क्या हू ? क्या करता हू ? सिर्फ भाव ही करता हू। बाहरमे मैं और कुछ करता नही। देखो सम्यग्दृष्टिको कृतकृत्य

की समस्या एक यह ही है कि क्लेश दूर हो और शान्ति मिले और जितने भी प्रयत्न करते
हैं वे इसी प्रयोजनसे करते हैं कि क्लेश टलें, शान्ति प्राप्त हो, लेकिन बहुतसे प्रयत्न करनेपर
भी शान्ति नहीं मिली । यह बात सभी लोग सोच रहे होगे । क्या वजह है, क्या कारण है ?
देखिये जिसको शान्ति चाहिए न तो उसका सही पता है और न जो शान्ति चाहिए उसका
पता है सही । तो बतलावो जब न पात्रका पता है और न वस्तुका पता है तो प्राप्ति कैसे हो
सकती ? उन दो बातोपर विचार करना है कि शान्ति कौन भीतरमे चाह रहा है ? यद्यपि
सभी लोग कहेगे कि मैं चाह रहा हू, अरे उस मैं का अभी निर्णय कहाँ लिया ? कोई कहेगा
कि मैं अमुक जातिका हू, शान्ति चाहता हू, मैं निर्बल हू, सबल हू, गोरा हू, कुरूप हू यह मैं
आनन्द चाहता हू । देहको निरखकर, उसे मैं मानकर शान्ति चाहनेकी बात सोच रहे होंगे ।
वह तो मैं हू ही नही । मैं क्या हू ? पहिले इसका ठीक ठीक निर्णय करो । मैं क्या और मेरा
है क्या ? तो देखिये—जगतमे जितने बाहरी पदार्थ हैं मकान धन सोना चाँदी आदिक ये तो
[illegible] लोग सोच लेते हैं कि ये मै नही हू, ये जड़ हैं, बाहर रहने वाले
मैं नही हू । इतना तो सभी [illegible] मैं नही हूँ और वे मेरे हैं क्या ? वे भिन्न जगहमे
हैं, मैं तो जो कुछ हूं देहके अन्दर हूं, [illegible] कुछ भी चिपक कर नही आया । आपका कुछ
ठहरे हुए है, आप यहाँ पड़े हैं । आपमें [illegible] इतना तक नही बन रहा है तो फिर बाहरी
होता तो कमसे कम यहाँ तक तो साथ आता । [illegible] कुछ थोडा भीतरी जडसे हटकर अन्दर
धन वैभव कैसे कहा जा सकेगा कि यह मेरा है ? [illegible] सब गलत है, ये भिन्न क्षेत्रमे हैं, जुदे
मे आयें, घरमे रहने वाले परिजन ये मेरे हैं, यह [illegible] होते नही, मै चाहता हू कि दु:खी हो,
जुदे ठहरे हुए हैं । मैं चाहता हूं कि ये सुखी हो [illegible] तो मेरे करने सोचनेसे नही होता ।
किन्तु मेरे सोचनेसे नहीं होता । [illegible] होते हैं । बाहरी परिजन ये भी मेरे
उनका उदय उस प्रकारका है, वे अपने [illegible] वे, यह शरीर क्या यह मै हू ? अरे
नहीं, ये भी मैं नहीं । जरा और अन्दरमें आयें - यह [illegible] का तो पता ही न पडेगा । हमने
यह तो किसी दिन खाक हो जायगा, लोग जला डालेंगे, [illegible] जड है, मैं तो एक भीतर चेतन
दूसरोको भी तो जलाया जाते देखा । यह मैं नहीं हूं, [illegible] हू । अच्छा तो अब समझ गए ।
हूं, शरीर तो कुछ समझता नहीं । मैं समझनहार [illegible] रहा, क्या ये मै हू ? अरे वे
भीतर जो गुनगुनाहट कर रहा, कषाय कर रहा, विचार [illegible] होती हैं और विषय
भी मैं नहीं हूं । ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक जो [illegible] है, यह कहो कि
सम्बंधी इच्छायें जगती हैं, ये तो मल हैं, [illegible] वाला चैत-
न्य कर्मका छाया है, यह सब कर्मका [illegible] । बन रहा,
स्वभाव है । तो कोई मांगे कि अब मैं [illegible]

मूलमे अमुक चीज है, अमुक चीज है, यह जो जानकारी हो रही, यह मै नही हू। अब कुछ ठिकाने आये कि जो यह जानकारी है वह मैं नही हूं, लेकिन यह जानकारी क्षण-क्षणमे बदलती रहती है। क्या मैं बदलने वाला हूँ? क्या मेरा स्वरूप चलित होता है? उन सब जानकारियोका आधारभूत जो एक ज्ञायकस्वरूप है सो मै हूँ। अच्छा, मुझे चाहिये शान्ति। अब समझ गए। तो मुझे क्या शान्ति चाहिए। वह तो स्वयं शान्त है। हाँ शान्त ता है, किन्तु उसपर दृष्टि आये तब शान्त है। नही दृष्टि है तो भीतर भगवान परमात्मतत्त्व अनादि अनन्त शाश्वत अन्तः प्रकाशमान होकर भी करे क्या? जैसे किसीकी गाँठमे लाल बधा है, पर पता नही है तो वह तो उसका गौरव नही समझता, वह तो अपनेको दीन समझता है। इसी तरह हम आप अनादि निधन प्राणी स्वरक्षित हैं, जहाँ रंच भी बाधा नही है। ऐसा होकर भी हम अपने स्वरूपको नही सम्हालते। सम्हालते है जड पदार्थोंको, इस भिन्न अशुचि शरीरको, जिससे आकुलतायें ही होती हैं। शान्ति नही प्राप्त होती। तो यह मै हू, इसे चाहिए शान्ति।

(५६) **शान्तिलाभकी दिशामे साधक द्वितीय निर्णय**—अब शान्तिका भी निर्णय करें। कैसे शान्ति मिले? जैसे भोजन करनेमे आनन्द आता, जैसे स्त्री प्रसगमे सुख होता। जैसे खेल खेलनेमे सुख माना जाता तो वही तो शान्ति है। अरे वह शान्ति नही है, उनमे तो क्लेश भरे हैं। तो भोग भोगनेके पहिले क्लेश, भोग भोगनेके समय भी क्लेश और भोग भोगनेके बाद भी क्लेश। खूब अनुभव करलो—अगर क्लेश न चाहिये तो फिर ये इच्छायें न करें, विषयोमे प्रवृत्त होनेके लिए कोशिश न करें। कोई सुखी हो, शान्त हो तो वह किसी प्रवृत्तिके लिए क्यो उद्यम करे? विषयोमे प्रवृत्तिका उद्यम करते हैं। यह ही एक प्रमाण है कि हम दुःखी हैं, आकुलित है। इच्छावोके द्वारा पीडित किए गए हैं तब ही विषयोमे प्रवृत्ति करते हैं। अच्छा तो विषयोमे जिस समय प्रवृत्ति कर रहे है उस समय देखो कि शान्ति है कि आकुलता? तो भोग भोगने वाले लोग समझते है कि कितनी व्याकुलतायें होती है। कैसा झट झट भोगना चाहते हैं, विषयप्रसग करना चाहते हैं, कितना क्षोभ करना होता है। बल्कि कोई दूसरा तर्के या खुद साक्षी बनकर देख सके तो उसे विदित होगा कि इतनी आकुलतायें तो भोगनेसे पहिले भी न थी। इतनी आकुलतायें भोगनेके बाद भी नही होती, जितनी कि भोगते समय होती है। सभी लोग अदाज कर लेंगे। एक खाने पीनेके स्वादका ही विषय ले लो, उस समय कितना यह जीव हडप करना चाहता है। कैसी इसकी प्रवृत्ति होती है। कोई समतासे खाता है क्या? विषयोके भोगनेके समय भी क्लेश है और बादमे भी बडा क्लेश है। खूब खाया, पेट भर गया तो अब प्रमाद आयगा ही क्योकि डट कर खाया है। ज्यादा खा गया, पेट दर्द करने लगा, दुःखी हो गया। और विषयोके प्रसंग

के बाद देखो—जैसे एक स्पर्शन इन्द्रियका प्रसग देखो। भोग भोगनेके बाद जब यह दुर्बल, कमजोर, हताश होता है तो यह क्लेश मानता है, तो भोग भोगनेसे पहिले क्लेश, भोग भोगते समय क्लेश और भोग भोगनेके अन्तमे क्लेश। ये कोई शान्तिके उपाय नही। ये तो जैसे सुख वैसे दु ख। सिर्फ नाम बदल गया। जैसे नागनाथ कहो, या सांपनाथ कहो, काटेंगे दोनो। कहे नागनाथ कह देनेसे वह मेहरबानी न करेगा, ऐसे ही चाहे सुख कहो चाहे दु ख कहो, परन्तु क्लेश दोनोमे है। फर्क इतना है कि सुख इन्द्रियोको सुहावना लगता है, सु का अर्थ है सुहावना और ख का अर्थ है इन्द्रिय, जो इन्द्रियको सुहावना लगे उसका नाम सुख है। और दु ख इन्द्रियोको बुरा लगता है, दु का अर्थ है बुरा और ख का अर्थ है इन्द्रिय। जो इन्द्रियको बुरा लगे उसका नाम दुःख है। मगर "दु" की जगह 'सु' धर देनेसे फायदा क्या हुआ ? भले ही लोग कहते हैं कि कु बुरा कहलाता है और सु अच्छा, जैसे कुपूत कहा तो कु का अर्थ है बुरा और सुपूत कहा तो सु का अर्थ है अच्छा। पर कु की जगह सु धर दिया तो उससे फायदा क्या हुआ ? जैसे एक बार कोई पढा लिखा लडका था, वह हिन्दी अच्छी जानता था। उसकी सगाईकी बात हुई, लोग लडका देखने आये तो देखने वालोंने उसके आदरके लिए कहा—आइये कुवर साहब बैठिये तो लडकेने सोचा कि ये तो मुझे कुवर साहब कह रहे। कु का अर्थ तो होता है खराब। तो झट बोल उठा कि साहब मैं कुवर नही हू मैं तो अच्छा हू। तो ठीक ऐसे ही चाहे सुख कहो, चाहे दुःख कहो याने दु की जगह सु लगा दो तो उसमे फायदा क्या हुआ ? ये सुख दु ख दोनो हेय हैं।

(६०) **प्रभुभक्तिमे आत्मज्ञानकी प्रयोजकता**—प्रभुकी भक्ति करके अगर मांगो तो सुख न मांगो, यह मांगो कि हे भगवन मैं कष्ट सहिष्णु बनूं, बस मुझे और कुछ न चाहिए। इस दु.खसे परे जो एक परम विश्रामकी अवस्था है, जिसमे कोई कल्पना न उठे, जहाँ रच मात्र भी आकुलता व्याकुलता नही है, ऐसी अपने आत्माकी स्थिति चाहिए। यह होगा आत्मज्ञानसे। सो आत्मदर्शन चाहो। मैं निजका दर्शन चाहता हू, इसका अर्थ यह लगावो कि **मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू, मुझे तो स्वभावके अनुरूप स्थिति चाहिये और न चाहिए और इस विधिसे कोई पौरुष करेगा तो उसे अवश्य सफलता मिलेगी।** अब जरा दुबारा विचार करें एक साधारण शब्दोमे। हम दुःखी हैं, हम कष्टमे है। क्या कष्ट है ? बाहरी पदार्थ मेरे पास नही हैं इसलिए कष्ट है ? अरे यह कष्ट है ? ये तो बाहरी परिणतियाँ हैं। 'सुख दु.ख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दु खकी खान'। ये रागद्वेष मोह, इनकी वजहसे मैं दु खी हू। मोह क्या चीज है ? मोह कैसे मिटे ? मोह मिटानेके लिए बहुतसे लोगोने बहुत-बहुत प्रयास किए। किसीने सोचा कि ऐसा मान लो कि यह दुनिया एक ईश्वरका बगीचा है, इस बगीचेमे हाथ

न दो, मोह खत्म हो जायगा। किसीने सोचा कि शरीरमे ही कोई उद्यम करें, शरीरमे श्वास लें, भीतर प्राणायाम करें, तो इससे शान्ति मिल जायगी, किसीने सोचा कि समाधि ले लें, कुछ समयके लिए जमीनमे गडकर ऊपरसे मिट्टी बिछा दें, तो वहाँ शान्ति मिल जायगी, मोह दूर हो जायगा। यो मोह दूर करनेके लिए अनेक लोगोने अनेक उपाय किये, पर वे उपाय काम न कर सके। यह दुनिया ईश्वरका बाग है, इसमे हाथ न दो ऐसा सोचनेसे दुःख तो न मिट पायगा। अरे अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत होकर कही बाहरमे अपनी दृष्टि लगाया तो उस का फल क्या होगा ? जैसे मछली जलसे बाहर निकल जाय तो उसकी कुशलता नही, इसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानसे बाहर निकल जाय तो वहाँ भी उसकी कुशलता नही है। कहाँ पाया शान्ति। किसीने बताया कि प्राणायाम करो, योगसाधन करो, उससे मोह हट जायगा। अरे उससे मन एक जगह तो हो जायगा मगर मन कहाँ टिके ? उसके द्वारा लक्ष्य भी तो बनाना चाहिए। वह ज्ञानद्वारा सुख है। कोई कहे कि खूब श्वांस भरें। तो ठीक है, उससे स्वास्थ्य तो कुछ अच्छा हो जायगा, कुछ रोग दूर हो जायेंगे मगर उस परमात्मतत्त्व, ज्ञानमूर्तिके तो दर्शन न हो पायेंगे। शान्ति कैसे मिलेगी ? ये तो थोडे समयके उपाय हैं। मान लो कि सुखी हो गए, मगर इसका निभाव तो नही होगा। सत्य शाश्वत शान्तिके लिये शान्ति क्या है और किसे चाहिए, इन दो बातोका निर्णय बना ही लेना चाहिए।

(६१) **सकल कष्टोंका मूल भ्रम**—जितने भी क्लेश होते है वे भ्रमसे होते है। मोह कहो, भ्रम कहो, अज्ञान कहो, एक ही बात है। प्रत्येक पदार्थ जुदे जुदे हैं, अपना द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव सबका अपने आपमे है। किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही, याने न द्रव्य मिला, न क्षेत्र मिला, न काल मिला, न भाव मिला। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। रहे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, पर यह तो देखिये कि पदार्थ जो कुछ भी परिणम रहा है वह अपने आपमे ही परिणम रहा है या निमित्तमे ? या निमित्त उपादानमे लेकर परिणम रहा। निमित्तनैमित्तिक भावका निषेध करनेमे कुछ पौरुष मत बनावो। वह तो है। उसीका फल संसार है। ये सब स्वभाव विकार चल रहे है, है पर उसे जान लीजिए। है ऐसा। उपाधिके समयमे है, ससार चल रहा है लेकिन उससे निकलनेका उपाय क्या है ? इस पर अधिक दृष्टि डालें। उपाय क्या है ? देखो मूलमे एक गल्ती होती है कि हममे जो कषायभाव जागृत होते है उन्हे अपना लेते है। मैं हू, ठीक कर रहा हू। इतनी भीतरी गल्ती के फलमे ये सब दुःख भोगने पडते हैं, पशु बनें पक्षी बने, पेड पौधे बनें, नाना प्रकारकी कुयोनियोमे जन्ममरण करना पड रहा, उसका मूल कारण यह है कि हम विभावपर्यायोको अपना लेते है। तब फिर न अपनायें ऐसा उपाय बतावो। सोचिये—उपाय यह है कि

पहिले अपना स्वरूप जान लें और विभावोका स्वरूप जानें, विभाव मेरे स्वरूप नही, विभाव मेरे स्वभाव नही। ये विभाव तो मेरी बिगडी हुई दशायें हैं। और बिगडी दशायें हुआ करती हैं किसी पर सम्बन्धमे। तो कर्मउपाधिका सम्बन्ध है उस सन्निधानमे हम बिगडी दशाओमे बने चल रहे हैं। तो यहां आत्मदृष्टि बनायें। निमित्तदृष्टिसे यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नही हैं, ये तो पौद्गलिक हैं। और स्वभावदृष्टिसे यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नही। मैं तो एक ज्ञानमात्र हू। आप पहुचें, स्वभावदृष्टिकी ओर हो, यह मैं हूँ, जो सहज ज्ञानमात्र है सो मैं हू, ऐसा अपने आपका निर्णय कर लेनेपर सारा नक्शा बदल जाता है। एक बार कोई दो चित्रकार राजाके पास आये, मानो उनमेसे एक तो था जापानी और एक था यूनानी। तो दोनो चित्रकारोने कहा—महाराज हम भीतपर बहुत बढिया चित्र बनाते हैं। आप अपने महलमे बहुत बढिया चित्र हमसे बनवावें।—अच्छी बात। अब राजाने क्या किया कि महलके एक हालमे बीचमे पर्दा डाल दिया और दोनो चित्रकारोसे एक एक ओरकी भीतमे चित्रकारी करनेको कहा। तो जो यूनानी चित्रकार था वह भीतको ६ माह तक कुछ मसाले लगाकर रगडनेका काम करता रहा और जो जापानी चित्रकार था वह ६ माह तक रग बिरंगे सुन्दर चित्र उस भीतपर बनाता रहा। जब ६ माह पूर्ण हो गए तो दोनो चित्र-कारोने कहा—महाराज अब आप हम दोनो चित्रकारोकी चित्रकारीका मुकाबला देखिये। राजा ने हालके अदर लगा हुआ पर्दा निकलवा दिया। वहां क्या देखा कि जिस जापानी चित्रकारने रंगोसे रग रगकर चित्र बनाया था वे तो भद्दे मालूम हो रहे थे और जिसने केवल भीतमे रगडनेका काम किया था उसकी भीतमे दूसरी ओरके बने हुए चित्र झलक रहे थे। उनमे एक सुन्दर चमक थी। राजाने यूनानी चित्रकारको पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया। यहाँ हमे शिक्षा यह लेना है कि हम आप धर्मके लिए बहुत-बहुत प्रवृत्तियां करते हैं तो करें, ठीक है, लेकिन पहिले अपने हृदयको, उपयोगकी भूमिको स्वच्छ कर लें। स्वच्छ होगा ज्ञानसे। यहां खूब निरख लो—देखिये—जितने भी जो कुछ तत्त्वज्ञानके मार्गमे प्रयास किये जाते हैं, वे स्वभाव-दृष्टिके लिए किये जाते है। आप यहां देखो—इस तत्त्वज्ञानसे हमको स्वभावदृष्टिके लिए बाधा तो नही पडती। नही पडती बाधा तो बस ठीक है, उसे ग्रहण करें, और यदि बाधा पडती है तो वह ग्रहण करनेके योग्य नही है, हां तो स्वभावदृष्टिमे बाधा देने वाला है मोह। मोह कहते है दो वस्तुवोको एक मानकर और उसके समान मानकर अपना परिचय बनाना। यही है अज्ञान, मोह, भ्रम।

(६२) भ्रमज दुःखके विनाशका उपाय भ्रमविनाश—भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख भ्रम के नाशसे ही दूर हो सकता है, अन्य उपायसे नही। वेदान्तकी जागदीशी टीकामे एक कथा

दिया है कि कोई १० जुलाहे थे, वे एक दूसरेके घनिष्ट मित्र थे। वे सभी जुलाहे पासके दूसरे गांवमें कपडा बेचनेके लिए जाया करते थे। बीचमें एक नदी मिलती थी, उसको पार करके वे प्रतिदिन आया जाया करते थे। एक दिन वे शामके समय कपडा बेचकर लौटे, रास्तेमें नदी पार किया, नदी पार करके उस दूसरे तटपर उन्होने सोचा कि देखो अपने १० लोग गए थे, गिन लिया जाय कि अपन सब लोग हैं या नही। जब वे गिनने लगे तो सभीको गिन लेते थे, पर अपनेको न गिनते थे। इससे उन्हे ९ मित्र मिल रहे थे, पर एक न मिल पाता था। यो ही सभीने अपनेको छोडकर बाकी सबको गिना तो वे ९ दीखे, सब घबडा गए। सोचा कि देखो अपन १० लोग तो गए थे और अब रह गए ९ ही। हमारा पता नही एक मित्र कहाँ गया ? नदीमे बह गया या कही गायब हो गया। वे सभी जुलाहे उस जगह बड़े दुःखी हो रहे थे——वहांसे एक घुडसवार निकला, उसने एक सरसरी निगाहमे ही देख लिया कि ये १० लोग है और समझ गया कि ये सब दुःखी हो रहे हैं। तो उनके दुःखी होनेका कारण पूछा। तो उन जुलाहोने बताया कि देखो हम लोग १० मित्र आये तो थे कपडा बेचने पर पता नही हमारा एक मित्र कहाँ चला गया ? तो उसने सोचा कि है तो ये १० के १०, पर समझ लिया कि ये सब भ्रममे हैं, इसलिए कहा कि देखो अगर हम तुम्हारा १० वाँ मित्र बता दें तो ? ··· अरे हम सब आपके बडे आभारी होगे। सो हाथमे बेंत लिए ही था। सबको एक लाइनमे खडा कर दिया और एक तरफसे धीरे धीरे बेंत मारकर गिनाना शुरू किया। देखो १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और जो १० वाँ होता उसे जोरसे मार कर कहता—तू ही तो १० वाँ है। यो ही एक एकको बारी बारीसे गिन कर और जोरसे मार कर बता दिया कि तू ही तो १० वाँ है। यो सभी को मार मारकर बता दिया कि तू ही तो १० वाँ है। तो वे जुलाहे समझ गए कि हम अभी तक भ्रममें थे। हम लोग अपने अपने को नही गिन रहे थे। तो सही जानकारी बनी नही कि उनका सारा दुःख खतम। अभी स्कूलके बच्चोको ही ले लो कोई पूछे बताओ बच्चो ८ × ८ = कितने होते है ? तो जब तक वे सही सही नही जान पाते तब तक आकुल व्याकुल रहते है और जब सही जानकारी हो जाती है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी वह प्रसन्नता किस बातसे आयी ? क्या कोई मिठाई वगैरह खानेसे ? नहीं। अरे वह प्रसन्नता है भ्रमके मिटनेसे और सही जानकारी बननेसे भ्रम मिटा कि सब दुःख खतम।

(६३) **आत्मज्ञानकी आवश्यकताका कारण**—प्राचीन और अर्वाचीन सभी संतोका यह उपदेश होता है कि आत्मज्ञान करें, अध्यात्मज्ञानी बनें। तो यहाँ यह सोचना है कि आत्मज्ञानकी आवश्यकता है क्या ? जिस पर सभी लोग इसी प्रकार बहुत जोर दिया करते

है। अच्छा, मान लो आत्मज्ञानकी आवश्यकता तो नहीं है क्यो व्यर्थमे एक ज्ञानका व्यायाम कराया जाय, तकलीफ दी जाय, पर यह तो बतलावो कि दुःख दूर करनेकी भी आवश्यकता मालूम होती है या नही ? आत्मज्ञान न सही, आत्मज्ञानके यत्नमे यदि बाधा आती है तो उसे छोडो, आत्मज्ञानके पौरुषमे तकलीफ होती है तो उसे छोड दो, पर यह तो सोच लीजिए कि दुःख दूर करनेकी आवश्यकता भी मालूम होती है या नही। इतना तो सभी कह देंगे कि दु ख दूर करनेकी आवश्यकता तो जरूर है और दु ख भी सब जानते हैं कि हमे दु.ख लग तो रहे है प्रतिदिन. महीनो दुःखी रहते हैं, जीवन भर दुःखी रहते है, कभी थोडा एक झूठा मौज ले लेते हैं, वह झूठी हँसी है। अज्ञानीजन तो नही समझ पाते कि यह हमारा झूठा मौज है, वे तो बडा मौज मानते हैं, लेकिन वे अन्दरमे दु'खी रहते हैं। और प्रकटमे कुछ ही समय बाद जब कोई बडा दु ख ख्यालमे आ जाता है तो दु'खी हो जाते हैं। तो जब सुखी हो रहे हो, जब मौज मान रहे हो, जब खूब सम्पदा आ रही है, परिवारका बडा ठीक काम चल रहा है, लोग बडाई भी करते हैं ये ही तो सुख (मौज) माननेकी चीजें हैं। तो लो परसो ऐसो सुख और मौजकी चीजोसे भी भीतरमे निरन्तर क्लेश बना हुआ है। उसे कोई लोग पहिचान सकते हैं और कोई नही पहिचान सकते। इतना तो सब कोई जान जाते हैं कि उस समय क्लेश यदि नही है तो थोडी देर बाद अनेक समस्यायें आ जाती हैं। उन समस्यावोमे दु खी हो जाते है। वह तो एक व्यक्त दु ख है, प्रकट दु ख है, लेकिन जिस वक्त सुख भोगा जा रहा हो उस वक्त भी अन्दरमे क्लेश बना हुआ है, जिसके कारण पापका ही बन्ध होता है। मतलब यह है कि व्यक्त अव्यक्त सब ही क्लेश हमारे दूर हो इसकी आवश्यकता जरूर मालूम होती है।

(६४) **वर्तमान क्लेशोपर एक विहंगम दृष्टि**—अब यहां देखो कि क्लेश क्या है और कैसे दूर वह होता है ? मोटी बात सोचो कि हम इस भवमे जी रहे हैं कुछ दिन को जी रहे हैं। मरण हो जानेके बाद यह जीव यहांसे विदा हो जायगा पता नही कहां पैदा हो जाय किसी भी जगह पैदा हो अच्छी जगह पैदा हो या दुर्गतिमे जाय। पर इतना तो निश्चित है ना सबको कि यहांका समागम, यहां को सम्पदा, यहां की कुछ भी चीज मेरा साथ न देगी। जिस बच्चा बच्चियोपर, नाती पोतोपर इतना लाडप्यार किया जा रहा है, जिनसे बड़ी ममताकी जा रही है, जिनको देख देखकर बडा मौज माना जा रहा है, लोग समझ लें कि इनका बडा अच्छा परिवार है, उनमेसे कोई भी जीव क्या इसका मरण होने पर थोडा भी साथ दे सकेंगे ? इतना तो प्रकट सिद्ध है कि मरण होने पर ये कोई लोग साथ न दे सकेंगे। अच्छा तो अब दूसरी बात विचारो कि जब तक हम जिन्दा हैं तब तक भी क्या ये मेरा

कुछ भी साथ दे रहे है ? अरे जब विवेकसे विचारेंगे तो यह बात विदित हो जायगी कि ये साथ दे ही नही सकते, क्योकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि परसे परको कुछ मिलता नही है। इसमे किसीकी निन्दा नही की जा रही है कि सभी लोग बडे खुदगर्ज है, कोई किसीका साथ नही देता, कोई किसीका शरण नही। अरे यह तो वस्तुका स्वरूप बताया जा रहा है कि किसी भी परवस्तुसे मेरेको कुछ मिल सकनेका है ही नही। जब कभी परिजनोकी बडाई करके या उनका कुछ महत्त्व देखकर हम दुःखी होते हो उस वक्त भी हम अपनी कल्पनायें करके अपने वर्तित ज्ञानसे ही सुखी हो रहे हैं, उन बच्चोके कारण सुखी नही हो रहे है। तो न इस जीवनमे, न मरणके बाद कोई पर जीव मेरा कुछ भी पूरा निभाव न कर सकेंगे, साथ न दे सकेंगे। जब इतनी बात सोचते है तब तो ऐसा लगता होगा कि ये तो सब वेकारकी बातें है। जब मरणपर भी ये साथ नही दे सकते और वस्तुका स्वरूप ऐसा है कि जीवनमे अब भी साथ नही दे रहे, तब तो इनसे मोह करना बिल्कुल बेकार है,

(६५) ज्ञानी गृहस्थमें निर्मोहता व सरागताका समन्वय—हां सोचो—बात सही है, समागम प्राप्त अर्थोंसे मोह करना बिल्कुल बेकार है, लेकिन फिर बात सामने आती कि इसके बिना गृहस्थीमें चलता भी तो नही। तो दूसरी भी बात सुनो—मोहके बिना तो चल जायगा पर रागके बिना न चलेगा गृहस्थोको, यह है उसका एक समाधान। लोग समझते है कि मोह किए बिना गृहस्थी न चलेगी, पर भाई मोह किए बिना तो सब चल जायगा हाँ राग किए बिना घरमे चल नही सकता। और घरमे न चल सकें, राग भी न करें ऐसा बल है तो यह तो बहुत अच्छी बात है। कोई अपनेको फंदेमे चलानेकी जरूरत भी नही है कि घरमे हम रहे, चलायें, करें, मगर परिस्थिति ऐसी है कि आप सबको छोड नही सकते। क्या करे, किस जगह जायेंगे ? कष्ट सहनेका अभ्यास भी नही है अथवा अन्दरमे ऐसा ज्ञानप्रकाश भी प्रकट नही हुआ है कि जिसमे तृप्त रहे, तो समय कैसे कटेगा। ? घर छोड दें, कमायी छोड़ दें तो समय कैसे कटेगा ? इसलिए गृहस्थी है, ठीक है, यह एक कमेटी है, जैसे किसी संस्थाकी कमेटीमे १० १२ सदस्य होते है, मीटिंग होती है, निर्णय होता है, विचारोका आदान प्रदान होता है अपना जैसा लगता है, इतना होनेपर भी किसी सदस्यको किसी दूसरे सदस्यसे मोह भी होता है क्या ? संस्था चले, इस ढगसे चले, जीवोका कल्याण हो, इस ढगकी बात चले। इस एक लक्ष्यके पीछे १०—१२ सहयोगी सदस्य बने हुए हैं तो वह एक प्रयोजनसे ही तो है। कही मोहवश नही है। इसी तरह घर गृहस्थीमे प्रयोजनसे हैं, यह कुटुम्बका सहवास मोहवश नही है। घरमे रहना पड़ेगा, भोजनादिकका प्रबंध भी ढगसे करना होगा, कुछ जीवन भी आरामसे गुजरे, शरीरको बहुत कष्ट न हो, इसकी भी कुछ जरूरत सी समझी जा रही है।

ये घरके लोग क्या है ? वे भी एक कमेटीके मेम्बर हैं । कोई निर्वाचित मेम्बर होते है कोई अनिर्वाचित, पद्धति भिन्न-भिन्न है । घरके सभी लोग आरामसे जीवन गुजारें, इस उद्देश्यको लेकर एक गृह नामकी सस्थाकी कमेटीके मेम्बर है, इससे अधिक उनका और कोई महत्त्व नही है, जिनके अज्ञान है वे इस परिवारका बडा महत्त्व समझते हैं वे भ्रममे है, दु खी होते हैं और सार बढावाका काम करते है । मिल गए, मेरे ये सब सहयोगी हैं । इस प्रसगमे हमे भी उनका ख्याल करना है, वे भी हमारा कुछ ख्याल रखें, यह बात व्यवहारकी है । तो राग तो रहा, राग बिना गृहस्थी तो न चलेगी, मगर मोह बिना गृहस्थी चल सकती है । जेसे कि जानते रहो कि सब द्रव्य न्यारे हैं कोई वस्तु किसी वस्तुका कुछ कर सकती नही है, ऐसा वस्तुका परिचय बना रहे । बात बन जायगी, निर्मोहता आ जायगी । काम भी होते रहेगे ।

(६६) **निर्मोहतामे विलक्षण उपलब्धि**—जिसके निर्मोहता होती है उसके चूँकि यह आग्रह नही होता कि इतनी ही सम्पदा हो तब मेरा जीवन है अन्यथा मेरा क्या जीवन ? इतना ही लाभ हो इतना ही वैभव हो तब ही मेरा जीवन है, अन्यथा मेरा क्या जीवन है ? यह बात है निर्मोह ज्ञानी गृहस्थकी । उसका तो यह भाव रहता है कि पुण्यके अनुसार जितने जीवोके पालन पोषणमे यह कमायी हुई है वह इन सब जीवोके पुण्यसे हुई है । हममे तो ऐसी कला है कि जितनी आय होगी उसीके अन्दर विभाग बनाकर हम अपना गुजारा कर लेंगे । ज्ञानीका भाव यह रहता है । पर होता क्या है कि जो निर्मोह पुरुष होता है उस के सम्पदा अटूट आती है और जो मोही पुरुष होता है तो चूँकि वह तुरन्त बडा पाप कर रहा है, अज्ञानका पाप बना रहा है, भ्रम और मोह कर रहा है तो उसके पापका क्षय बहुत देरसे होगा, उसके सम्पदा अटूट नही हो सकती । कदाचित् यह भी दिख जाय कि जो कुछ लोग पाप काम करते हैं फिर भी सम्पदा आती है तो यह समझिये कि उनके पूर्व पुण्यका सग्रह विशेष है, लेकिन बुरा काम करने वाला सम्पन्न हो जाय, यह बात एक आम बात नही है । आम बात यह है कि जो निर्मोह है, ज्ञानी है वह पुरुष जब तक ससारमे रहता है तब तक उसके सम्पदा भी अटूट चला करती है । ऐसे ही लोग तो चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण आदिक बडे-बडे पद प्राप्त करते है जहाँ विपुल सम्पदा होती है । होता सब कुछ है मगर ज्ञानी पुरुषको उनसे मोह नही रहता । निर्मोह होने का सदा महत्त्व है । सबके बीच रहकर भी इन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसा जिसके बोध रहता है उसके मोह नही रहता । मोह न रहनेसे उसे दु ख नही रहता ।

(६७) **दुःख दूर होनेका उपाय भ्रमविनाश**—हमे आवश्यकता है दु ख दूर करनेकी गे दु ख दूर कैसे होगे ? भ्रमके नाश होनेसे दु.ख दुर होगे । भ्रममे कोई सुखी नही हो

सकता। भ्रम तो भ्रम ही है। तो भ्रमको नाश करनेकी आवश्यकता तो आयी ना। दु:ख दूर करनेकी आवश्यकता तो है पर दु.ख दूर हो सकेगा तो भ्रमके नाशसे ही हो सकेगा। भ्रम रहते हुए दुःख दूर नही हो सकता। जब ऐसा जाना कि घर मेरा ही है, और किसका है मेरेसे बँधा है, मेरे साथ है, मेरा सब कुछ है, तब अनेक विकल्प चलेंगे, अज्ञान रहेगा, क्लेश रहेगा। मोहका दु:ख निरन्तर बना रहेगा और जब जान जायेंगे कि मैं तो एक मुसाफिर हू। बडी मुसाफिरी करते-करते अनादि कालसे अब यहाँ आया हू तो एक धर्मशालामें इस घरमे, मकानमे, इसमे मैं कुछ दिनको ही ठहरने वाला तो हू। सदा तो नही ठहर सकता। सोच लीजिए। मोही लोग मरे जा रहे है लौकिक सम्पन्नता बनानेके लिए। मेरा सब जगह खूब यश हो, मान हो, सब लोग मुझे खूब जान जायें, समाजके सभी लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, अरे ये सब बेकार जानो। कैसी इज्जत ? मरनेके बाद ये सब बातें बेकार है। दूसरी बात यह हैं कि जब तक जी रहे हैं तब तक भी ये मेरी शान्तिके कारण तो न बनेगे। कोई किसीको निन्दा करके दुःखी करता है तो कोई किसी की प्रशंसा करके उसे दु खी करता है। दुःखी करनेके दोनो उपाय हैं। निन्दा करने वाले ने तो कुछ समयके लिए ही दुःखी किया, वह अधिक समय तक कष्ट न पायगा जिसने निन्दा सुना है। पर प्रशंसा सुनने वाला और उस प्रशंसामे राजी होने वाला व्यक्ति तो उस प्रशंसा करने वालेका बडा कृतज्ञ बनेगा और उसको सुखी करनेके लिए बडा परिश्रम भी करेगा। अब यह बडा लम्बा काम खिच जायगा। तो प्रशसासे दु:ख अधिक हुआ या निन्दासे सभी जगह देखो दुःख दोनो स्थितियोमे हैं, और जिससे समझते हैं कि मुझे सुख मिलता है वह और भी अधिक दु खका कारण है। यह बात इसलिए बतायी जा रही है कि जिससे चित्तमे यह बात आ जाय कि ये सब दुःख हैं और दु ख दूर करनेकी हमे आवश्यकता है। जैसे पुत्र कपूत हुआ तो उससे कम दु ख है, पर पुत्र सपूत हुआ तो उससे दुःख अधिक होता है। मोहमे यह जीव समझता नही है। कपूत हुआ तो थोडा सोच लिया और निपटारा कर लिया कि इससे मेरा कुछ सम्बन्ध नही। लोगो को भी बता दिया कि मेरा इससे कोई मतलब नही, लो दुःखसे बहुत बच गए, और अगर पुत्र सपूत हुआ तो उसके लिए जीवनभर मरते समय तक बड़ा सकल्प विकल्प करते है, बडा राग करते है। यह बडा अच्छा बने, बडा सुखी हो, बडे मौजमे रहे, ऐसा भाव बनता रहता है वह तो दुःख निरन्तर शल्यकी तरह इसके चुभते रहते है। तो भैया ! लोग विवेक नही करते। दुःख इन सभी साधनोसे है। जितने परवस्तुके समागम हैं वे सब समागम हमारे क्लेशके ही कारण हैं, शान्तिके कोई कारण नही। तो जब सारे परवस्तु हमारे दु खके ही कारण बनते है निश्चित समझ लीजिए तब आवश्यकता है कि उन पर

वस्तुओका हम ध्यान छोडें, उनका आश्रय छोडें, जब सब परवस्तुओका समागम व्यक्त और अव्यक्त रूपसे हमारे दु खके ही कारण बन रहे है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उन सब समागमोमे मोह न करें। रागी न हो।

(६८) **सन्मार्गके निर्णयका प्रभाव**—पर वस्तुवोमे राग न जगे यह बात जब बने तब सही मगर वर्तमानमे इतना निर्णय तो बना लें कि ये सब समागम मेरे कुछ नही हैं। इनसे मेरा कुछ भी पूरा न पडेगा। मरकर तो जैसा मेरा धर्म है, जैसा मेरा ज्ञान बना है, जैसी मेरी भावना बनी है उसके अनुरूप बीतेगा अगले भवमें। ऐसा नही है कि यह मनुष्य ही बने। कीट पतिगा आदि कुछ भी बन सकता है। इन बाहरी समागमोंके कारण मेरेको पर भवमे कुछ सुविधा रहेगी यह बात गलत है, किन्तु भीतरमे आत्मज्ञानके कारण, ज्ञानसस्कारके कारण, शुद्ध भावना बनानेके कारण और प्रभुभक्तिके कारण, प्रभुताके स्वरूपको चित्तमे बसाने के कारण जो ज्ञानसस्कार होगा उसके अनुरूप अगले भवमे बीतेगी, सुखकी बात बनेगी, शाति का साधक बनेगी। बात यह पूरे निर्णयकी है इसमे रचमात्र सन्देह नहीं। तब अगर अगले भवकी बात, अगले अनन्त कालकी बात ठीक बनाना है तब तो आत्मज्ञानकी ओर आयें। अपनेको पहिचानें जिससे कि इस भवमे भी शान्ति रहे और निकट कालमे सारे दु खोसे मुक्त होकर मैं परमात्मत्वका अनुभव करता रहू। इसके लिए आवश्यकता है बाह्य पदार्थोंका आलम्बन छोडनेकी, बाह्यपदार्थोंमे मोह त्यागनेकी, बाह्य पदार्थोंमे भ्रम ठाननेकी। क्या-क्या भ्रम ठाने जाते है ? यह वस्तु मेरी है, यह मुझे सुख देती है, यह मेरे लिए हितकारी है, इसके बिना मेरे प्राण नही रह सकते, आदिक जो धारणा बनती है वह सब भ्रम है, अज्ञान है, अधेरा है। जिसका फल दुर्गतियोमे भ्रमण करना है। एक ही बात सोच लो—अगर कोई नुस्खा ऐसा मिलता है बात ऐसी प्राप्त होती है कि जिससे कारण अभी इस जीवनके अन्त तक भी हम शान्त रह सकेंगे और इसके बाद भी हम शात सुखी रह सकेंगे, अगला भव भी हमारा अच्छा गुजरे और निकट कालमे मैं सदाके लिए सकटोसे छूट जाऊँ, इन सब लाभोका उपाय केवल एक है, वह उपाय अगर हम करें तो उसमे आनाकानी क्यो होनी चाहिए ? कारण बतलाओ—एक इस आत्मज्ञानके उपायसे वर्तमानमे भी शान्ति रहेगी। सम्पदा तो उदयानुसार आयगी, जैसी आनी है आयगी, उसमे बाधा नही आती, बल्कि उसमे भी बहुत सहयोग मिलता है। वर्तमान जीवन भी सही गुजरेगा, आगेका जीवन भी सही गुजरेगा और सारे सकटोसे मुक्ति पा ली जायगी, ऐसी बात यदि मिल जाती है तो उसकी उत्सुकता होनी चाहिए। उससे तो आनाकानी न होनी चाहिए। बल्कि एक चित्त होकर उसीके लिए ठन जाना चाहिए। मेरेको जीवनमे ज्ञानानुभूति करके ही रहना है। इसके बिना जीवन बेकार

है, और ज्ञानानुभूति हो जाय तो मेरे सारे क्षण सफल हैं। संपदासे जीवन सफल नही होता, परिजनोसे जीवन सफल नही होता, लौकिक यशसे जीवन सफल नही होता। यहाँ बड़प्पन मानने वाला है भी कौन ? बड़प्पन जो मानता है वह भी अपने स्वार्थ सिद्धिके कारण मानता है। यहाँ कौन किसका बड़प्पन मानने वाला है ? तो है ना सारी बाते ये बेकारसी। तो यह बात चित्तमे ठान लीजिए कि तन, मन, धन, वचन और प्राण ये सब कुछ न्यौछावर करनेके बाद भी हमको आत्मज्ञान मिलता है तो मैंने बडी सरलतासे सर्वोच्च वैभव पा लिया इतना निर्णय चित्तमे रखना।

(६६) सत्य श्रद्धालुके लोकभयका अभाव—भैया ! सम्पदाकी बात यहाँ बीच बीच यों करनी पडती है कि चूँकि सस्कार ऐसा ही बना है, उस ओर ही बराबर चित्त जाता है, और वह जीवनमे काम भी कुछ दे रहा है, जब तक गृहस्थीमे है, इसलिए कहना पडता है। यह लक्ष्मी तो आपके आँगनमे बरषेगी, आपके घरमे आयगी, वह कही आपके मोह करनेसे न आयगी। वह तो उदयानुसार सब लोगोके पुण्योदयके कारण आयगी। आपका कर्तव्य यह है कि निर्णय ऐसा बनालें कि जो आयगा उसमे भी हम सात्विक रहन सहनके हिसाब से अपना खर्च करेंगे, ताकि कभी इतना न आये तो हमें विपदा न आये, उसी ढंगका रहन सहन, खान पान रखें और अधिक धन आता है तो उसे अच्छे कामोमे खर्च करना। वह भी एक यश बढाने वाली बात है। सम्पदाको तो यश बढानेके लिए ही ना लोग जोडते है। पर सम्पदा जोडनेसे यश नही होता, किन्तु अपनी आवश्यकतासे अधिक धन आ जाय तो उसे अच्छे कामोमे व्यय करनेमे यश होता है और सम्पदा जोडी, अचानक मिट गई तो उस का कुछ भी फल हाथ न लगेगा, किन्तु उस धनको अनेक प्रकारके धर्मकार्योंमे खर्च करनेपर जो यश बनेगा वह निकटकालमे मिटेगा नही। तो इसके लिए अपना एक यह निर्णय बनाये रहें। पर अन्तरंगमे अपनी यह धुन बनाये रहे कि बस मुझे तो यह समझना है कि मैं क्या हू, मेरा क्या है, मैं क्या करता हू, मैं क्या भोगता हू ? मेरी दुनिया कितनी है ? बस सबका उत्तर है एक। क्या ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या हू ? ज्ञानस्वरूप। मेरा क्या है ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या करता हूं ? ज्ञानको। मैं क्या भोगता हू ? ज्ञानको। मेरी दुनिया कितनी ? जितना कि यह ज्ञान। मेरा परलोक कहाँ ? जितना यह ज्ञान। मेरा सर्वस्व, मेरी निधि मेरा यह ज्ञान ही है। इसके आगे मेरा कही कुछ नही। इसको चिन्तनमे लेवें। एक बार सबका विकल्प छोड़कर विश्रामसे बैठ जावें तो अपने आप यहांसे उत्तर मिलेगा। सहज ही ऐसा उत्तर मिलेगा कि जिसके बाद फिर कभी भूलेंगे नही। अपने आपके परम विश्रामके प्रयोगसे जो आप अपने भीतरके स्वरूपका ज्ञान करेंगे वह आपका ठोस ज्ञान होगा

मुझे उसके लिए बढना है । बाहरी बेकार बातोके लिए मुझे उपयोग नही लगाना है । वे तो आयेंगे उदयानुसार । चित्त लगाना है इस आत्माकी ओर । तो दु:ख दूर किए जानेके लिए आवश्यकता है आत्मज्ञानकी । इसलिए संत महंत आत्मज्ञानके उपदेशकी बडी चर्चा किया करते हैं ।

(७०) **अनर्थका कारण निजका अदर्शन**—अब तक संसारमे रुलते-रुलते इन प्राणियोने सब कुछ देखा बाहरी अनेक बातें देखी, किन्तु एक निजको न देख सका । इसका परिणाम यह है कि यह जन्ममरणके दु ख भोगता चला आ रहा है । इस एकको देख लेना, अपने आपको पहिचान लेना और अपने आपमे लीन रहना बस इसीका नाम धर्म है । आज धर्मके नामपर कितने ही विवाद, कितने ही सम्प्रदाय, कितने ही भेदभाव बन गए, लेकिन धर्म तो वस्तुका स्वरूप है । धर्म तो एक ही कहलायगा । धर्म अनेक नही हो सकते । जिसमे जो बात स्वभावकी हो बस वही उसका धर्म है । हमारा धर्म क्या ? आत्माका धर्म क्या ? मेरेमे जो स्वभाव हो वही मेरा धर्म है । क्या है मेरा स्वभाव ? जाननहार रहना, ज्ञाता द्रष्टा रहना, प्रतिभास करना, जानना, याने ज्ञानतत्त्व यही मेरा स्वभाव है । तो क्या क्रोध, मान आदिक कषायें करना मेरा स्वभाव नही है ? वह मेरा स्वभाव नही है । स्वभाव जो होता है वह सदा रहता है, निरन्तर रहता है । जो स्वभाव नही है वह कभी होना है कभी नही होता है, वह निमित्ताधीन बात है, तो देखिये जीव जब क्रोध कर रहा है तब भी उसमे ज्ञान चल रहा है । जब मान, माया, लोभ आदिक कुछ भी कर रहा है तब भी ज्ञान चल रहा है, कषाय नही कर रहा है तो भी ज्ञान चल रहा है । तो ज्ञान प्रतिसमय जीवमे रहता है, कषाय हमेशा नही रहती इससे जानना चाहिए कि कषाय तो धर्म नही है, किन्तु ज्ञान मेरा धर्म है । अब इस ज्ञानधर्मको जिन सत महंतोने, जिन महापुरुषोने, भगवन्तोने बताया है, कृतज्ञ होकर हम उनकी महिमा गाते हैं और वे हमारे पुराण पुरुष कहलाते हैं । इतना सम्बन्ध है पुराण पुरुषोसे, पर धर्मके नातेसे सम्बन्ध तो हमारा हमारे स्वभावसे है, यह बात जिन जीवोने पा लिया उनका कल्याण हो गया ।

(७१) **एक चिद्ब्रह्मका तथ्य**—यह शरण्य चित्स्वभाव ब्रह्म एक है, स्वभाव एक है । जगतमे जितने भी जीव है सबकी अनुभूति जुदी-जुदी है । जिस सुखका एक व्यक्ति अनुभव करता है, उसे दूसरा नही करता । दुःखका, क्लेशका, समाधिका जो एक जीव अनुभव करता है वह दूसरा नही करता । सबका अनुभव जुदा-जुदा है, जीव जुदे-जुदे हैं, व्यक्ति जुदे जुदे हैं, फिर भी जब हम सभी जीवोके स्वभावपर दृष्टि देंगे तो वह एक नजर आयगा । एकस्वभाव है केवल ज्ञानस्वभाव जाननहार रहना यही एकमात्र स्वभाव है । तो जब स्वभाव दृष्टिसे निरखते हैं तो सब जीव एक विदित होते है । एकको देखनेकी बडी महिमा है । एकमे

विकल्प नही होते । किसीका एक पुत्र है, आरामसे जीवन व्यतीत करता है । समझता है कि सारा धन इसका ही तो है । जहाँ दो पुत्र हुए वहाँ विचार विकल्प होने लगते कि अब दो अलग-अलग मकान हो । उन दोनो पुत्रोमे परस्परमे कलह रहती है तो उसे निपटाना । मतलब यह है कि लोकमे भी देखो, अपने आपके भीतरमे भी देखो एक रहेगा तो उसमे अनाकुलता रहती है, जहाँ दो बातें आयी वही विवाद हो जाता है । और देखो—एक गणित शास्त्रकी बात कि १ को सख्यामे ही नही गिना । सख्या दो से शुरू मानी जाती है । जिसमे परस्पर गुणा करनेसे कोई वृद्धि ही नही हो उसे गणना नही कही जाती है । यद्यपि १ के बाद २ कहे जाते हैं, मगर सख्या १ नही मानी गई है । १ संख्याविहीन चीज होती है, वह है, एक है, जो है सो है, क्योकि संख्या जहाँ होगी वहाँ दुविधा होगी । संख्यारहित बातमे दुविधा नही होती । तो इस जीवने सब कुछ जाना, किन्तु उस एक स्वभावको नही जाना । उस एक स्वभावकी परखमे कोई पक्ष नही, कोई आकुलता नही । वही धर्म है । उस ही धर्म के पालनमे इस जीवका मोक्ष होगा, कल्याण होगा । धर्म कहाँ पालना है ? स्वयंमे स्वयं का निरखना, विश्राम पाना यही धर्मपालन है, पर इतना ज्ञान इतनी बात सबकी समझमे कैसे आ सकती ? लोग तो केवल अपने पुराण पुरुषोके नामपर धर्मके अलग-अलग रूप रेखा बना लेते है, चाहे बात सबमें एक हो । जैसे दया अहिंसा, सत्य । प्रायः बहुत सी बातें एक समान हैं, तिसपर भी चूंकि यह हमारे पुरुषोने कहा है, यह उनके पुरुषोने कहा है इस तरह पुराण लोगोके नामपर धर्मकी धारणा जुदी-जुदी हो गई है । एक स्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो धर्म एकस्वरूप है और इससे भी जब हम एक आन्तरिक स्वरूपको देखें तो वह जो एक स्वरूप है, वहाँ जब तक उसके प्रति एकका भी ध्यान रहता है तब तक भी उसमे कमी रहती है । उस एकको भी भूल जाय और जो स्वरूप जाना है उस ही मे मग्न हो जाय तब एक धर्मका स्वाद आया समझिये । तो धर्म नाना नही है । धर्म एक रूप है । वह प्रत्येक आत्मा का धर्म है । जो अपने धर्मको संभाल लेगा उसका कल्याण हो जायगा । इसमे किसी पर ऐहसानकी बात नही है, और न किसीका इसमे कोई अपनेपर ऐहसान है । हाँ कृतज्ञता जरूर है कि पुराण पुरुषोने यह बात समझाया और हमारी समझमे आ गया है, स्वभाव एक है जैसे जल भिन्न-भिन्न स्थितिमे हो, पर जब स्वभावकी दृष्टिसे कहा जायगा तो यह कहा जायगा कि जलका शीतस्वभाव है । ऐसे ही जीव कितने ही हो, जब स्वभावकी दृष्टिसे बोला जायगा तो यह ही कहा जायगा कि सब जीव एक ज्ञानस्वरूप ही है ।

(७२) **अनेकोमें एकत्वके दर्शनकी विधि**—अब देखिये—जो और मन्तव्य उत्पन्न हुए हैं सबका आधार यह ही बैठता है । है तो वे स्वभावसे एक लेकिन कुछ लोगोने मान लिया

व्यक्तिशः एक तो उनका हो गया अद्वैतवाद । जैसे सारा जगत एक ब्रह्मस्वरूप है । एक ब्रह्म क्या ? जैसे कोई एक आदमी, जैसे कोई एक पदार्थ, इसी तरह वह सब कुछ एक ब्रह्म है । बात यह सत्य है, पर स्वभावदृष्टिसे सत्य है, अनुभूतिकी दृष्टिसे सत्य नही । अनुभव तो सबमे जुदा-जुदा है । यदि सारा जगत एक ब्रह्म होता तो एकका परिणमन तो पूरे एकसे होता है। अगर एक जीव सुखी होता तो सब जीव सुखी रहते, तब समझिये कि एक ब्रह्म है । एक दुःखी होता तो सब दुःखी होते । जब कहा जाय कि एक ब्रह्म है तो यह बात तथ्यकी है लेकिन यह स्वभावदृष्टिसे परखी होनेपर तथ्य है, अनुभूतिकी दृष्टिसे नही, व्यक्तित्वकी दृष्टिसे जुदे-जुदे है । कहनेका भाव यह है कि हम अपने आपमे प्रकाशमान एक ज्ञानस्वरूपको देखें तो वहाँ कोई विवाद नही है । वहाँ न धर्मका झगडा रहता है, न समुदायका झगडा रहता है । मैं आत्मा जैसा मेरेमे स्वरूप है, ज्ञानमात्र है उसको मै देखूं उसमे ही मग्न होऊँ, उसीका सहारा लूं, इसीको कहते है समाधिभाव । जितना बन सके उतना झुकाव हो । जो जितना इस ओर झुके उसे उतना ही लाभ है, ऐसा स्वरूप जब नही जानते तो क्या दशा होती है ? नाना विकल्प होते है । यह घर मेरा, सम्पदा मेरी, मेरे परि जन, मित्र जन । लोग तारीफ करते है कि ईसा जी ने यह बताया कि दुश्मनसे भी प्यार करो । लेकिन उनको यह नही समझाया किसीने कि आत्मधर्मने यह बताया है कि जगतमे कोई दुश्मन ही नही है । प्यार करनेकी, विरोध करनेकी नौबत ही न आनी चाहिए । एकको माना कि यह शत्रु है तो इस से प्यार करो, यह सेवाभाव है, तो उससे उत्कृष्ट चीज यह है कि सब जीव भगवत्स्वरूप हैं । कोई जीव मेरा शत्रु नहो, जो मैं हू सो सब हैं, अगर कोई मेरेको पीटता भी है, गाली भी देता है, विरोध करता है तो वह नही करता, उसके साथ प्रकृति लगी है, उस प्रकृतिका विकार है । कर्मका उदय है, वह प्रकृतिकी लीला है, वह अज्ञानका नाच है । यह जो सहज स्वरूप चैतन्य है यह तो निरपराध है, उस स्वरूपको देखना है । उसे शत्रु नही मानना है और कैसी विलक्षण आन्तरिक दृष्टि होती है कि कदाचित विरोधीका मुकाबला भी करना पडे, उसका प्रतिकार भी करना पडे तो प्रतिकार करते हुए भी, युद्ध करते हुए भी भीतरमे यह बात रहती है कि यह तो भगवत्स्वरूप है । इसका कोई अपराध नही है । जो जानने मे आ गया वह कैसे मिट सकेगा ? वह तो ज्ञानमे आ ही चुका है ।

(७३) **ज्ञानीका आन्तरिक समत्व**—जिसने अपने एक स्वरूपको जाना उसके सब जीवोमे समता बुद्धि हो जाती है । सर्व जीव समान है । यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि उसके नही रहती । उसकी निगाहमे गैर है तो सब गैर हैं, जो परिवारमे पैदा हुए वे भी गैर है । जैसे अन्य कीडा, मकोडा, आदमी और पशु पक्षी हैं इसी तरहके ये भी मुझसे गैर ही हैं ।

और अगर मेरे है तो सब जीव मेरे हैं, क्योकि मेरे स्वरूपके समान उनका स्वरूप है, और जगतके सब जीवोका स्वरूप मेरे ही स्वरूपके समान है। समताभाव बर्त जाता है। ऐसा पुरुष दुनियामे लोगोके द्वारा चाहे बेवकूफ, कर्महीन कहा जायगा, किसी भी शब्दसे कहा जायगा, यो समझिये कि दुनियाकी दृष्टिमे वह पागल है, लेकिन इस ज्ञानीकी दृष्टिमे तो सभी पागल है। परवाह नही करता कि कौन किस तरह मुझे देखेगा। उसने तो जो अपनेमे देखा सो सब जीवो मे देखा। इसके लिए सब जीव इसके ही समान है। नीतिकार भी कहते हैं कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" जो सर्व प्राणियोमे अपने स्वरूपकी तरह निगाह डाले,—ये भी मेरे ही समान है, उसे पंडित कहते हैं, विद्वान कहते हैं, ज्ञानी कहते है। जैसे गेहूँका बहुत बडा ढेर लगा है तो लोग यही तो कहते हैं कि इस गेहूँका क्या भाव है? इस तरह थोडे ही बोलते हैं कि इन गेहुवोका क्या भाव है? गेहूं गेहूं सब समान होनेके कारण उनमे सबकी एकत्व बुद्धि रहती है। यह गेहूँ अच्छा है। ऐसा कोई नही कहता कि ये सारे गेहूँ अच्छे है। ढेर है मगर उसे एक ही कहा जा रहा है, क्योकि सब गेहुंवोका स्वरूप समान है, पर वे सारे दाने क्या एक हैं? जुदे-जुदे है। उनसे जुदे-जुदे अंकुर पैदा होगे, उनका जुदा-जुदा विभाग बनता है। एक किलो गेहूँ कोई ले गया, दो किलो कोई ले गया। तो अनेक होनेपर भी चूंकि स्वरूप पूर्ण समान है अतएव एक कहलाते, इसी तरह जगतके सर्व जीव अनेक होनेपर भी सब जीवो का स्वरूप एक समान है, इसलिए सब जीव एक कहलाते है। स्वरूपदृष्टिसे ब्रह्म कहलाते हैं। ऐसे इस एक स्वरूपको कोई पहिचान लें तो बस वह धर्मात्मा है, वह ज्ञानी है, वह संसारके सकटोसे पार हो जायगा। और जिसने इस एकको नही जाना वह संसारके विकल्पोमे रुलता ही रहेगा। तो कर्तव्य यह है कि अपने आपके इस एक स्वरूपको समझ लें। मैं क्या हूँ? एक ज्ञानस्वरूप।

(७४) **निज एकके जाननेका महत्त्व**—देखो भैया! एक को जाननेकी कितनी बडी महिमा है। १ संख्यामे कितना बडा महत्त्व है। १ संख्यामे नही माना गया, पर १ संख्याका मूल है। १ का महत्त्व देखो कि १ न लिखा हो और बिन्दियाँ धरते जायें तो वे कुछ गिनती मे तो न आयेंगी। १ लिखा हो और बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १० गुनी हो जायगी, २ बिन्दियाँ धरेंगे तो उसकी कीमत १०० गुनी, ३ बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १००० गुनी होती चली जायगी। और अगर १ को मिटा दें और बिन्दियाँ कितनी ही धरते जायें, उनका कुछ भी महत्त्व नही है। इसी तरह धर्ममार्गमे भी यही बात है कि एक निजको ध्यानमे रख लिया जाय फिर धार्मिक क्रियायें करें, भक्ति करें, स्वाध्याय करें, गुरूपासना करें, दुखियोकी दया करें, दान करें, तपश्चरण करें, त्याग करें तो उन सबका महत्त्व बढ़ता जायगा

और एक निजको ही न समझ पाया तो उन सब क्रियावोंका महत्व उतना ही है जितना कि शून्यकी कीमत । तो इस एकको जानने पर सब जान लिया और एक इस निजको न जाननेपर कुछ नही समझा । तो यह मनुष्यभव बडी कठिनाईसे मिला है । इस भवमे यहाँ वहाँके बहकावेमे आकर या अपनी मौलिक परम्पराकी पद्धतिका आग्रह बनाकर हम यदि बाहरी-बाहरी उपयोगमे ही समय गुजार दें, धर्मके नामपर भी तो हमने अपना जीवन खोया और एक अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपके ही स्वरूपको समझलें तो हम अपने जीवनको सफल समझें । क्यो न मैं स्वय खुद अपने उस सही स्वरूपको जान सकूगा । जानने वाला मैं हू । जानने वाला यह मैं जाननेके स्वरूपको न जान सकूं तो यह तो एक बडे अधेर की बात होगी । दृष्टि लगा दी है बाहरकी तरफ इसलिए लगता है कि हम न जान सकेंगे खुदको, मगर जो खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही तो यह जान रहा है, अगर मेरेमे ज्ञानस्वरूप न हो तो मैं कैसे जान सकू ? भीतमे ज्ञानस्वरूप नही है । यह तो किसीको जानती ही नही जो जानने वाला है वह खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही वह जान सकता है । तो जब मैं ज्ञानस्वरूप हू और मैं जानता रहता हू तो बाहरकी चीजोको तो मैं जान लूं और जो स्वय निज ज्ञान स्वरूप पदार्थ है उसको न जान सकूं तो यह तो बडे अधेरकी बात कही जायगी । मैं अपने ज्ञानस्वरूपको जान लूं यह तो है सरल बात और मैं बाहरी पदार्थोंको जान लूं यह है कठिन बात । कैसे ? बाहरी चीजोको जाननेके लिए इन्द्रियाँ चाहिएँ नाक, आँख, कान वगैरह । इन्द्रियका व्यापार चाहिए । इन्द्रियाँ भी निर्दोष चाहिएँ और फिर उन इन्द्रियोके द्वारा जानने की मेरेको उत्सुकता चाहिये ? यो अनेक कठिनाइया हैं तब हम बाहरकी चीजें जान सकते हैं । लेकिन खुदके ज्ञान स्वरूपको जाननेके लिए ये इन्द्रियाँ भी न चाहिए । इन्द्रियां हैं तो रहो, ये विश्रामसे बैठी रहे, इनका व्यापार न चाहिए । खुदके ज्ञानस्वरूपको जाननेके लिए कुछ भी चीज न चाहिए, किन्तु जो भटक गए बाहरमे उसका विराम चाहिये । यह ज्ञान **स्वयं अपने आपके ज्ञानब्रह्मको जान लेगा कि मैं क्या हू ? ऐसे इस ज्ञानस्वरूपको जाननेपर** इस मनुष्यभवकी सफलता कहलाती है ।

(७५) **सर्वव्यापी एक चित्स्वरूपकी उपलब्धिकी क्षमता**—जैसे मनुष्यकी दृष्टिमे मनुष्य मनुष्य सब एक हैं, एक तरह पैदा होते हैं, एक तरह मरते है, एक ही तरहसे सुख दुःख पाते हैं, सबकी एक ही विधि है. ऐसे ही जब जीवकी दृष्टिसे देखें तो सब जीव एक समान है । सब ही ज्ञानस्वरूप हैं, सभी आनन्दमय हैं, सभी शान्तस्वरूपको रख रहे हैं, "किन्तु आशवश खोया ज्ञान" बाह्य पदार्थोंमे भ्रम बनाया, यह तो हितकारी हैं—मेरा

सुखदायी है, ऐसा भ्रम बनाया, बाहरकी तरफ उपयोग लगाया कि हम अपनेसे हट गए और अज्ञान दशाको प्राप्त हो गए। थोडा कुछ दृष्टि भीतर लगाना है, बाहरके विकल्प छोडना है, सब जीव एक समान है, सब इसको पा सकते है। जो इसको पा लेता है उसे कहते है ज्ञानी, उसे कहते है योगी, धर्मात्मा, भव्य। मुक्ति मार्गमे ले जाने वाला। एक भगवत्‌रूपको प्रकट करने वाला, तो वह चीज सबके पास है। हमारे पास है। जैसे किसी लकडहारेकी साफेकी गांठमे लाल बँधा हो और उसे पता न हो तो वह अपनेको भिखारी ही समझता है। बँधा तो लाल है लाखो रुपयोकी कीमतका, मगर उसे उसका ज्ञान नही है तो वह तो भिखारी बन रहा है, इसी तरह हम आप सबके स्वरूपमे यह चैतन्यप्रकाश है, यह अतुल वैभव है, यह सहज स्वरूप है, पर इसका जब पता नही रहता तो यह जीव भिखारी बना रहता है, मोही बना रहता है। ये बाल बच्चे ही मेरे है, ये ही मेरे सब कुछ है, यह इज्जत ही मेरे लिए सब कुछ है, बस यही फंसाव बना रहनेसे इस फंसावके कारण भीतरमे बिराजमान जो एक भगवानस्वरूप है उसे प्रकट नही कर पाता। इसके लिए अहकार छोडनेकी आवश्यकता है। जो मैं नही हू उसे "मैं" मत माने। देह मैं नही हूं इस देहको मैं मत मानें। जब देहको माने कि यह मैं नही हू तो ये रिस्ते भी खतम हो गए, शत्रु मित्रके भाव भी खतम हो गए। एक शुद्धचित्प्रकाश ज्ञानमे आया कि जिसके आश्रयसे आत्माका कल्याण होता है। यह ही चीज काममे आयगी, बाकी सारी चीजें ये कोई इस आत्माकी श्रद्धा नही बन सकती जैसे मानो राजस्थानमे कोई पगडी रंगने वाला था। उससे कोई कहे कि भैया यह मेरी पगडी लाल रगमे रग देना। ··· अच्छा साहब ··· यह हरे रंगमे रग देना···अच्छा साहब यो रखा तो लेता था सबकी पगडी, पर अन्तमे कहता था कि देखो चाहे लाल रगाओ, चाहे हरी, चाहे पीली, पर रंग तो आसमानी ही उत्कृष्ट होता है। वह आसमानी रगकी पगडी अच्छी रंगता था इसलिए ऐसा कहता था। तो इसी तरह ज्ञानी पुरुषको चाहे जिस रगमे रंगो, मगर उसकी उत्कृष्टता यही होगी कि जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपको समझ ले। तो अपनेको समझना है, उसमे ही मग्न होना है, यही धर्म है और इससे नियमसे कल्याण है।

(७९) **परसंपर्कमे ही बुराईकी संभवता**—सबके चित्तमे यह इच्छा रहती है कि हम बुरे न रहे, हम अच्छे रहे। तो यहाँ विचार करना है आज कि कोई भी चीज बुरी कैसे होती है ? और अच्छी कैसे बनती है ? इतना तो निश्चित है कि कोई भी पदार्थ अकेला अपने आप स्वय ही बुरा नही हो सकता। किसीकी भी सत्ता खुदके विनाशके लिए नही हुआ करती। कोई भी पदार्थ हो, जीव हो पुद्‌गल हो, बाहरमे भी कोई वस्तु हो,

रहती है। फिर कोई कहे कि ऐसे सारे ज्ञानी ही जुड जायें तो फिर कैसे घर चले, कैसे देश चले? प्रथम बात तो यह है कि क्या हर्ज है। अगर ससारके सब जीव ऐसे सब ज्ञानी हो जायें और वे सब शान्त हो जायें, सकटोसे मुक्त हो जायें, और ससार खाली हो जाय, शून्य हो जाय तो इसमे आपको क्या आपत्ति आती है? किन्तु ऐसा होता नही है, होनेका नही है, घबड़ाहट क्यो लायी जाय कि सब जीव ज्ञानी बन जायें तो फिर क्या होगा? अरे ससारको स्थिर रखनेका तुमने ठेका लिया है क्या? न रहे संसार, न रहे सकट, न रहे कुछ तो मत रहो। क्या बिगाड है, लेकिन बात यह है कि ऐसा कभी होता नही, न हो सकेगा। अनन्त अज्ञानी अभी जीव यहाँ रहे ही जायेंगे। उनमेसे कोई भी जिसका भवितव्य अच्छा है, ज्ञान और वैराग्य मिलता है, वह यहाँसे मुक्त हो जाता है। जैसे कोई चना भूनने वाला कारीगर भूनते समय क्या यह शका करता है कि आज अगर सारे चने उचट जायेंगे तो क्या करेंगे? अब क्यों परिश्रम करें? वह जानता है कि ऐसा होता नही है कि सारे चने उचटकर बाहर आ जायें। कोई विरला ही उचटता है। दूसरी बात देखिये—ज्ञानी और स्वरूपके ज्ञाता होने ... विरक्त हुआ पुरुष जब तक गृहस्थीमे रहता है तब तक उसके ये बाहरी विकार तरग ... रहते हैं और उसे सुध है कि ये विकार चल रहे हैं, उन्हे जानता है और भीतर समझता ... है कि मेरा स्वरूप विकारसे दूर है। तो विकार हुआ परके सम्बघसे। एकमे कोई विपदा ... एकमें कोई विकार नही। एकका कोई बिगाड नही, जहाँ द्वितीयका सम्बध हुआ ... दूसरा भी बिगडा और यह पहिला भी बिगडा। इसीलिए ज्ञानी सतोने एकका, अद्वैत ... अकेलेका, स्वतत्रका बहुत महत्त्व वर्णित किया है तो द्वितीयके सपर्कम बुराई होती है।

(...) भलाईके आधार, अथवा सवर और निर्जरा—अब भलाईकी बात देखो। ... समझो कि भलाईके मायने क्या? मैं केवल अपने आप अपने ही सत्त्व ... परका सम्बन्ध न हो, परभाव न हो। खालिस केवल एक अकेला ही मैं ... है इसकी स्वच्छता, उत्कृष्टता, निर्मलता। तो ऐसा होनेके लिए क्या ... यह करना होगा कि परके सम्पर्क जो होते रहते है, जिनसे मैं ... सम्पर्क रोक दें, आगे तो मैं बुरा न बनू। भविष्यके लिए ... सम्पर्क रोक दें, और जो सम्पर्क रहा है पहिले से ... ल और स्वच्छ बनानेके लिए ये ही ... बन गई, नाव डूबने वाली है, ... काम करना

कषायवान होता हुआ स्वच्छताका मेरेमे विकार जगा है तो यह अकेले सत्व ही कारण नही जगा किन्तु पर कर्मप्रकृतिके सम्बंधमे जगा है। इतना होनेपर भी कर्मप्रकृति और यह मैं आत्मा दो मिलकर एक मलिनताका परिणमन नही कर सक रहा हूँ, किन्तु निमित्त तो है प्रकृतिका और मलिन बन रहा हू मै अकेला। जैसे दर्पणमे विकार या मलिनता स्वच्छ दर्पण अकेला द्रव्य ही हो तो नहीं हो सकता। कोई परपदार्थ सामने आये, उपाधि लगी हो तो दर्पणमें विकार होता है, स्वच्छताका विकार बनता है। इतना होनेपर भी दर्पणमे जो विकार बना, प्रतिबिम्ब बना सो दर्पण और बाहरकी चीज दो मिलकर नही बना, किन्तु बाहरकी चीज तो बाहर ही है। हाथ सामने किया तो हाथ तो हाथमे ही है और दर्पण दर्पणमे ही है, पर हाथका सन्निधान पाकर यह दर्पण प्रतिबिम्बित हुआ, विकृत हुआ, इसमे स्वच्छताकी हानि हुई। तो ऐसे अपने आपको ये दो निर्णय बनाना है। मैं खराब हू, मलिन हूँ। आकुलित हूँ, रागी द्वेषी मोही हूं, इस तरहकी मेरी खराबी मेरे अपने आपके कारण नही हुई है। किसी परवस्तुका सम्पर्क है, सम्बंध है जिस योगसे यह आत्मा मैं मलिन विकृत रागी द्वेषी होता हू। होता हूँ निमित्तके सन्निधानमे मैं विकारी, तिसपर भी मैं विकारी अकेला ही बन रहा हू। प्रकृति और जीव दो मे मिलकर एक विकार नही हो रहा। प्रकृतिका विकार प्रकृतिमें चल रहा, मेरा विकार मेरे मे चल रहा, पर ऐसा योग है कि प्रकृतिके सम्पर्क बिना मेरेमे मलिनता नही जग सकती। ये दो बुराईके निर्णय बनते है।

(७८) बुराईके प्रकार अथवा आस्रव और बन्ध—अब उस बुराईके दो भेद देखिये कि वह बुराई आयी और गई। ठहरी नही, एक तो यह स्थिति होती है और एक बुराई आयी और बंधकर रह गई, एक यह स्थिति होती है तो ये दोनो स्थितियाँ आयें, और जायें, ठहरें नही और आकर ठहर जाय तो ये दोनो ही बुरी दशायें होती है। परके सपर्कसे इतना निर्णय करनेके बाद अब इस ओर दृष्टिपात कीजिए कि बुराई निकालनेका तरीका क्या है? मेरेमे बुराई आयी, राग हुआ, कल्पना जगी। यह कम आपत्ति न समझें कि मैं पुत्र या धन या घर या किसी मित्रको देखकर हर्षित होता हूँ। अपनाता हूँ, यह मेरा है, ऐसी कल्पनायें उठाता हूं, तो यह कल्पना तरग उठाना इस आत्मदेवपर बडी आपत्ति है। पर इसे कौन विपत्ति माने? सब खुश हो रहे, सब राजी हो रहे और अनेक काम कर करके राजी हो रहे। कौन विपत्ति समझता कि मेरेमे ये कल्पनायें जगना सो विपत्ति है। तो ये सब विकार कहलाते हैं, ये सब विपत्तियाँ कहलाती है। जिसको अपने आपके कल्याणकी इच्छा जगी है वह यह चाहता है कि मेरे आत्मापर किसी भी प्रकारका विकल्प तरंग न आये। मैं सम रहूँ, स्थायी रहूँ, स्वरसमय रहूँ, शान्त रहूँ, मेरेमे कोई तरंग न उठे, ज्ञानीकी यह भावना

रहती है। फिर कोई कहे कि ऐसे सारे ज्ञानी ही जुड जायें तो फिर कैसे घर चले, कैसे देश चले ? प्रथम बात तो यह है कि क्या हर्ज है। अगर ससारके सब जीव ऐसे सब ज्ञानी हो जायें और वे सब शान्त हो जायें, सकटोसे मुक्त हो जायें, और ससार खाली हो जाय, शून्य हो जाय तो इसमे आपको क्या आपत्ति आती है ? किन्तु ऐसा होता नही है, होनेका नही है, घबडाहट क्यो लायी जाय कि सब जीव ज्ञानी बन जायें तो फिर क्या होगा ? अरे ससारको स्थिर रखनेका तुमने ठेका लिया है क्या ? न रहे संसार, न रहे संकट, न रहे कुछ तो मत रहो। क्या बिगाड है, लेकिन बात यह है कि ऐसा कभी होता नही, न हो सकेगा। अनन्त अज्ञानी भ्रमी जीव यहाँ रहे ही जायेंगे। उनमेसे कोई भी जिसका भवितव्य अच्छा है, ज्ञान और वैराग्य मिलना है, वह यहाँसे मुक्त हो जाता है। जैसे कोई चना भूनने वाला कारीगर भूनते समय क्या यह शका करता है कि आज अगर सारे चने उचट जायेंगे तो क्या करेंगे ? व्यर्थ क्यो परिश्रम करें ? वह जानता है कि ऐसा होता नही है कि सारे चने उचटकर बाहर आ जायें। कोई विरला ही उचटता है। दूसरी बात देखिये—ज्ञानी और स्वरूपके ज्ञाता होने से सहज विरक्त हुआ पुरुष जब तक गृहस्थीमे रहता है तब तक उसके ये बाहरी विकार तरग चलते रहते है और उसे सुध है कि ये विकार चल रहे हैं, उन्हे जानता है और भीतर समझता है यह कि मेरा स्वरूप विकारसे दूर है। तो विकार हुआ परके सम्बधसे। एकमे कोई विपदा नही, एकमे कोई विकार नही। एकका कोई बिगाड नही, जहाँ द्वितीयका सम्बध हुआ वहाँ वह दूसरा भी बिगडा और यह पहिला भी बिगडा। इसीलिए ज्ञानी सतोने एकका, अद्वैत का, निरपेक्षका, स्वतत्रका बहुत महत्त्व वर्णित किया है तो द्वितीयके सपर्कमे बुराई होती है।

(७६) भलाईके आधार अथवा सवर और निर्जरा—अब भलाईकी बात देखो। पहिले भलाईकी बात समझो कि भलाईके मायने क्या ? मैं केवल अपने आप अपने ही सत्त्व मात्र रहू। कोई परका सम्बन्ध न हो, परभाव न हो। खालिस केवल एक अकेला ही मैं सत् रह जाऊँ, यही है इसकी स्वच्छता, उत्कृष्टता, निर्मलता। तो ऐसा होनेके लिए क्या करना पडेगा ? पहिले तो यह करना होगा कि परके सम्पर्क जो होते रहते हैं, जिनसे मैं बुरा बनता रहता हू। तो परका सम्पर्क रोक दें, आगे तो मैं बुरा न बनूँ। भविष्यके लिए बुराई तो न रहे। तो पहिले तो परका सम्पर्क रोक दें, और जो सम्पर्क रहा है पहिले से उसका धीरे-धीरे विनाश करें। किसी भी चीजको निर्मल और स्वच्छ बनानेके लिए ये ही दो तरीके किये जाते हैं। जैसे नावमे पानी आ गया, बुरी बन गई, नाव डूबने वाली है, पर उसके बचनेका उपाय क्या कोई हो सकता ? हाँ हो सकता। पहिले तो यह काम करना चाहिये कि जिस छेदसे पानी आता था उसे बन्द कर दें, नया पानी वहाँ न आ सके। और

दूसरा उपाय यह करना होता कि जो पानी पहिले से आ गया है उसको दूर कर दें। बस नाँवका उद्धार हो जायगा। उसपर बैठने वाले लोग सकुशल पार हो जायेंगे। तो इसी तरह आत्मामे जो मलिनतायें आयी है, रागद्वेष, क्रोधादिक विकार आये है, तो पहिला काम यह है कि नये विकार न आने दें, नये कर्म न बँधने दें। उनकी रोक करें? अशुभभावोंकी रोक करे और दूसरा काम यह करना है कि जो पहिलेका संस्कार बसा है, जो पहिलेसे कर्म बँधे है, सत्तामे हैं, उस सस्कारको, उस सत्त्वको दूर करें। जिस समय यह परका सम्पर्क पूरा दूर हो जायगा उसी समय अपनी निर्मलता हो जायगी।

(८०) भलाईके प्रसंगमें सप्त तत्त्वोंका दर्शन—परसपार बुराई भलाईके प्रकार आदि इन्ही तत्त्वोको बताया है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। मैं जीव हू, मेरेमे वर्तमानमे बुराई चल रही है, क्योकि दुःखी हो रहे ना, पीडित भी होते, कष्ट भी मानते। कल्पनायें भी करते। तो मैं मलिन हू। दुःखी हू। विकृत हूँ, तो इसका कारण जरूर है कि मेरे साथ कोई अजीव लगा है। विपरीतका सग बुरा ही करता है। अनुकूल सजातीयका सग बुराई नही करता। मैं बुरा बन रहा हू तो उससे यह साबित है कि मेरे साथ मेरेसे विपरीत स्वभाव वाला कोई पदार्थ लगा है, उसे ही कहते हैं प्रकृति और कर्म। तो इसीको कहेगे अजीव। जीवके साथ अजीव लगा है तो जीवकी कुशल नही है। वरबाद हो रहा, जन्म मरण कर रहा, कषायवान हो रहा। तो जब जीवके साथ अजीव है तो जीव मे अजीव आये, अजीवका प्रभाव आये, इसीका नाम है आस्रव। आया है वह। आस्रव आनेको कहते हैं, लेकिन आनेमे और आस्रवमे फर्क है। आना तो कहलाता है किसी बाहरी देशसे, बाहरी विधिसे स्वतत्रसा होता हुआ किसी जगह आ जाय उसे कहते है आना और आस्रव कहते है चूकर आनेको। जैसे ताजे सकोरेमे, घडेमे पानी भरें तो वह ऊपर तक आ जाता है अगर छटाक दो छटांक पानीसे धोवेंगे तो उतने पानीके सब छीटे सूख जायेंगे। उसका आना हुआ चूकर। तो मेरेमे जो दूसरा पदार्थ आता है और दूसरे पदार्थके सम्बन्धसे जो विकार आते है सो कही बाहरी देशसे दौड़ दौडकर नही आते किन्तु मेरेमे ही मेरे समस्त प्रदेशोमे ही चू कर आते हैं। वहाँ यह न विदित होगा कि लो यहाँसे आया है। सारी बात यही हो रही है, तो ऐसा चू कर आनेका नाम है आस्रव। तो मेरेमे अजीवका सम्बन्ध है अतएव बुराइयोका आना हो रहा है और वे बुराइयाँ बँध रही हैं, इसे कहते है बंध। उनका सस्कार बांधे है, धारणा बनाये है वहाँ बंध है और वे प्रकृति कर्म भी बहुत दिनोसे यही पडे है। यह है बध। यह तो है हमारी बुरी दशा। देखो एक धर्मकी बात कही जा रही है। हमारा धर्म क्या है, जिस धर्मका हम पालन करें तो हमारे संकट दूर हो जायें।

यह बाहरकी बात नही कही जा रही है। जो देख लेगा, निरख लेगा, समझ लेगा, उसका बेडा पार हो जायगा। इसमे कोई शास्त्रमे कही इसलिए यह बात है या किसी पुरुषने कही इसलिए यह बात है, ऐसा नही, किन्तु ऐसा हो रहा है वह बात सतोने बताया है। तो मेरे मे कषायका आस्रव, कषायका बध है तो इससे हटनेका उपाय क्या है ? उपाय है यह कि पहिले आस्रवको रोकें, ऐसा ज्ञानबल बनायें, ऐसा भेद विज्ञान बनायें, मैं तो एक ज्ञानमात्र हू, स्वच्छतामात्र हू। मेरेमे स्वयमे कोई अपराध नही होता। मैं तो स्वच्छ स्वभावरूप ही हू, पर ये विकार आये हैं, ये सम्बन्धसे आये है, प्रकृतिके सम्पर्कसे आये हैं, ये मैं नही हू। देखो जिसके यह बुद्धि जग जाती है कि कषायें मैं नही हू। कषायें प्रकृतिकी विकार है, ये कषायें मलिनभाव हैं, ऐसा जो जानते हैं वे उन कषायोको अपनाते नही हैं। नही तो ऐसे ऐसे मोही जीव पडे है कि कोई किसीसे लड रहा है और लडते लडते कोई बचाव करे या कुछ बात बने और उसमे वह सोचता है कि मेरे क्रोध कम हो रहा है। तो वह कोशिश करता है कि उस क्रोधको और उभाडनेका, क्योकि वह जानता है कि मेरेमे तीव्र क्रोध जब तक न जगेगा तब तक मार न सकेंगे तो अज्ञानी जीव तो कषायमे लगाव रखते हैं और कषायोको बढावा देते है। लेकिन ज्ञानी पुरुष जिन्होने इन कषायोसे भिन्न अपने ज्ञान स्वरूपको देखा है वे ज्ञानकी भावना बनाते हैं, कषायोसे उपेक्षा करते है, कषायोसे विमुख होते है, तो ऐसी निर्मल परिणतिमे आगामी विकार न आयेंगे, आगेके कर्म न आयेंगे, और जो पहिलेसे आये हुए कर्म है वे भी दूर किसके द्वारा किये जायेंगे ? इस ही ज्ञानबलके द्वारा। इसे कहते है सवर और निर्जरा। जब विकार न आयें और पहिलेके विकार सब हट जायें तो इस जीवका हो जाता है मोक्ष याने स्वय अकेला केवल रह जाय, सर्व परभावोसे, पर सम्बन्धसे छुटकारा हो गया। यह काम करना है हम आप सबको। अगर अपनी भलाई चाहिये है तो सबको यही पद्धति अपनानी होगी। मेरे अन्दर बुराई न रहे, बुराई सब मिट जाय और मैं केवल, स्वतंत्र, स्वच्छ, अकेला, शुद्ध बनजाऊँ। इसके लिए ७ तत्त्वोकी बात कही गई है कि हम ७ तत्त्वोका सही श्रद्धान बनावें। मैं जीव हू। प्रकृति अजीव है। मुझ मे प्रकृतिका सम्पर्क आ रहा है, यह बुराईकी चीज है, यह प्रकृति बँध जाती है यह भी बुराई है। यह प्रकृति रुकें। यह रुकेगी भेदविज्ञानसे। यह है कल्याणका उपाय और ऐसे आगामी प्रकृतियोको रोकें कि जिस पौरुषमे पहिलेकी बँधी हुई प्रकृति भी दूर हो जाय। तो जब यह जीव केवल अकेला रह जाता है, प्रकृतिके सम्पर्कसे हट जाता है तो इसे कहते हैं मोक्ष और ऐसा जो ज्ञानस्वरूप है उसे कहते हैं परमात्मा।

(८१) परमात्मस्वरूपके ध्यानकी धुरा—परमात्माके स्वरूपका ध्यान करने से हमे

अपने अन्तः बसे हुए परमात्मस्वरूपकी सुध हो जाती है, परमात्मा तो आदर्श है, उसका ध्यान करें और अपनी सिद्धि प्राप्त करें। परमात्मा अपनी जगह छोडकर, अपना आनंद तज कर विकल्पमे आने वाला नही होता। वह निर्विकल्प है, अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमे लीन रहा करता है। वह आदर्श है मेरे लिए जिसको जो कुछ बनना चाहिए वह बनता ही है उस उपायसे। आदर्शकी श्रद्धा करो, आदर्श बननेकी विधिका ज्ञान करो और उसपर चलने लगो। जैसे कोई संगीत सीखना चाहता है तो सगीतमे जो आदर्श हो, जो एक बहुत बडा सुन रखा हो संगीतज्ञ, उसका लक्ष्य रहता है बच्चोको कि मुझे ऐसा बनना है। वह संगीत सीखने की विधिका ज्ञान करता है और उसका प्रयोग करता है। तो जो आदर्श है वह तो संगीत का देव है और जो कापी है, पुस्तकें है, सीखनेकी विधियां है वे हैं संगीतके शास्त्र और जो गांवमे मिल जाय, ऐसा कोई सिखाने वाला गुरु हो तो वह है सगीतका गुरु। इसी तरह परमात्मस्वरूप अगर बनना है, सदाके लिए सकटोंसे मुक्त होना है या यो कहो कि परमात्म-स्वरूपमे मग्न होता है तो परमात्मस्वरूपका आदर्श चित्तमे रखें, ऐसा होता है और ऐसा होनेकी विधि जहाँ वर्णित हो उन शास्त्रोका अध्ययन करें और गांवमे, आसपासमे जो ऐसे गुरुजन मिलें, जो इस धुनमे रहते हो, इस प्रयोगमे रहते हो कि मेरी मलिनता दूर हो। निर्मल स्वरूप प्रकट हो, उन गुरुवोका संग करें, उपासना करें, सीखें तो इस विधिसे हमारी मलिनतायें दूर हो जायेंगी और हम निर्मल स्वच्छ हो जायेंगे। स्वच्छतामे आनन्द है और मलिनतामे क्लेश है। हमे इस मलिनताके साधनोसे हटकर अच्छे बननेके साधनोमे लगना चाहिए।

(८२) **जीवकी अनादिकालीन दशा एवं उस दशाके क्लेश**—जीवकी सबसे जघन्य अवस्था क्या होती है और सबसे उत्कृष्ट अवस्था क्या होती है और उसके बीचमे क्या अव-स्थायें बनती हैं, इस ही विषयपर आज कुछ विचार करना है। वैसे आंखो देखें तो कोई यह पता पायगा कि पशुपक्षी कीडा मकोडा पेड पौधे, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमे भी जिसने जीव समझ रखा हो, वह बता देगा कि यह अवस्था जीवकी जघन्य है, किन्तु इससे भी और गई बीती अवस्था एक और है जिसका प्रायः लोगोको कम परिचय है। वह अवस्था है वन-स्पतिकायका ही एक भेद जिसे कहते है साधारण वनस्पतिकाय, जिसका दूसरा नाम है निगोद। सबसे जघन्य बुरी अवस्था जीवकी निगोद है। इस बातको इस ढगसे सुनें कि यह अवस्था हमारी थी और किस किस किस तरहसे क्रमिक बढ बढकर जीव कैसी उत्कृष्ट अवस्थामे पहुच लेता है? इसमे कोई सदेहकी बात नही कि जितने भी जीव हैं वे सब नियम से पहिले निगोद थे। निगोदके शरीर दिखते नही है जैसे कुछ निगोद तो रहते हैं निराधार

आकाशभरमे, लोकाकाश भरमे फैले हुये हैं, किसके सहारे ? याने कोई त्रसकाय नही, हरी नही, कीडा मकोडेका शरीर नही, किन्तु इन सारे शरीरोके आश्रयके विना भी दुनियाभरमे फैले हुये हैं। इसे कहते है सूक्ष्म निगोद जीव, जिसको किसी पशु, पक्षी, मनुष्य, फल, फूल आदिक किसीके भी आधारकी आवश्यकता नही रहती। अब दूसरा निगोद सुनो—वह होता है हरी वनस्पतिकायके आधारमें। ये जो दिखने वाले वनस्पति है आलू आदिक, जिसे लोग साधारण कहकर अभक्ष्य कहते हैं, ये दिखने वाले आलू वगैरह निगोदके शरीर नही है, ये तो सब प्रत्येक वनस्पति है और सही दिखता है—वे सब प्रत्येक वनस्पति हैं, साधारण नही हैं, लेकिन आलू आदिक प्रत्येक वनस्पतिमे साधारण वनस्पति रहती तो इस कारण उन्हे अभक्ष्य कहा है। तो आलू आदिक फलोमे भी, फूलोमे भी जो और साधारण वनस्पतिके शरीर हैं उनके एक शरीरके आधारमे अनन्त निगोद जीव रहते है, देखो कितनी बडी परतंत्रता है, एक शरीर है और अनन्त निगोद शरीर उसके सहारे जन्मे, मरें तो बतलावो यह कितनी दयनीय स्थिति की बात है ? किन्ही दो मनुष्योको अगर किसी एक शरीरके आधीन बनाया जाय तो क्या पसद करेंगे ? न पसंद करेंगे, लेकिन उन अनन्त निगोदियोको एक शरीरके आश्रय अपना जन्म मरण सब कुछ भोगना पडता है। जहाँ एक श्वासमे १८ बार जन्ममरण करना पडता है—वह श्वास भी कौन ? मुखकी श्वास नही, नाडीके एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है वह श्वास, जिसका गणित बैठेगा एक सेकेण्डमे २३ बार जन्म मरण करना पडता है। ऐसे जन्ममरणके सकट अनन्त काल तक सहे। यह हम आप सबकी शुरूकी कहानी है।

(८३) **एकेन्द्रिय पर्यायोके क्लेश**—हम आप आज मनुष्य हैं, अनेक विचार कर सकते है, पर जहाँ सब प्रकारसे समर्थ है, इन्द्रियाँ भी पुष्ट हैं, सब आरामके साधन है; जहाँ बडे साहित्यिक ढगके वचन व्यवहार हैं तो वहाँ कौन इसका मुख ले ? हम पहिले निगोदमें थे। यह सभी जीवोकी कहानी है। जितने जीव मुक्त हो चुके है वे भी कभी नियमसे निगोद थे। अब ऐसी निगोद राशिसे हम आप कुछ उद्धारको प्राप्त हुए हैं तो क्या कारण बतायें कि कैसे निकलें ? अब निकल आये, उसकी तो चर्चा ही क्या करना है ? वहाँसे निकले तो जरा थोडा थोडा उत्कृष्ट स्थितियोकी चर्चा करलें। उस निगोद राशिसे निकले तो प्रत्येक वनस्पतिके जीव हुए। जैसे आलू आदिक हैं, ये ही जीव हुए। इससे और बढे तो यो समझलो कि साधारण वनस्पति रहित प्रत्येक वनस्पति हुए, जैसे लौकी आदिक, पृथ्वी हुए, जल हुए, अग्नि हुए, वायु हुए, ऐसी भी अगर पर्याय पायी तो इसमे कौन सी बडी महिमाकी बात हुई ? कितना कष्ट है ? पृथ्वीको जो चाहे काटे, खोदे, लोग मिट्टी निकालते हैं। पृथ्वीकी कितनी हिंसा होती है।

कैसा प्राण घात होता है, उसकी कौन दया करता है ? जलको बिखेरना, गर्म करना, रोकना आदिक अनेक प्रकारकी क्रियायें होती हैं, उनको कौन बचाता है ? अग्निपर राख डालना, पानी डालना, बुझाना, आदिक ये सब प्रयोग किये जाते हैं। इस अग्नि-कायके दु खको कौन बचाता है। वनस्पतिकायके जीव फल पत्ते आदिक तोडना ये सब बाते चलती है। तो ऐसे ऐसे हम आपने दुःख भोगे। आज उनकी खबर नही आ रही। उनकी तो खबर क्या आये ? जब गर्भमे थे तो कितने दु ख सहन कर रहे थे—मांके पेटके अन्दर उल्टे औंधे पडे थे, जहाँ पर कि श्वांस लेने तकका भी स्थान न था, जहां मां की श्वास और आहारके साथ ही साथ उसका भी सम्बंध था वहाँ क्या कम दुःख थे। ये दुःख हम आप सभीने सहे, पर इन दु.खो की कथा किसीको याद है ? जब एक इस ही भवकी बात याद नही तो फिर अन्य भवोकी तो बात ही क्या कही जाय ? हाँ कोई ५-७ वर्षकी उम्रसे लेकर अब तककी बात याद हो सकती है। देखो, रहे सभी लोग गर्भमे, निकले सभी लोग उस गर्भके अन्दरसे, पर वहाँके दुःखोका किसीको पता नही है। जब एक इस ही भवकी बातकी याद नही तो फिर अन्य भवकी बात क्या कही जाय, पर युक्ति, अनुभव, शास्त्र, आगम ये सब यही बताते हैं कि ऐसे दु ख पाये हैं, हम दु खकी चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यह समझमे आये कि देखो हमने आज ऐसा बड़ा दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसे विषय कषायोमे रमकर न खोयें, मोह ममतामे न पडें। दूसरे पदार्थोकी प्रीतिमे पडकर इस जीवनको न गवायें किन्तु अपने स्वभाव परमात्माकी सुधलें, जिस के परिणाममें हम ससार सकटोसे पार हो जायेंगे।

(८४) **त्रस पर्यायके क्लेश**—हम सब हुए है एकेन्द्रिय जीव, वहाँसे निकले। तो क्रम-क्रमसे वर्णन कर रहे हैं, ऐसा कोई नियम नही कि एकेन्द्रियसे दोइन्द्रिय हो, फिर तीन इन्द्रिय हो, कोई पञ्चेन्द्रिय भी हो सकता है, मगर क्रम क्रमसे वर्णन यो कर रहे कि यह पता हो जाय कि उससे दुर्लभ यह, उससे दुर्लभ यह, ऐसी दुर्लभ दुर्लभ कितनी पर्यायें हैं जिनको बिता बिताकर ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया। एकेन्द्रियसे निकला तो जीव दो-इन्द्रिय हुआ। दो इन्द्रियमे भी उस जीवको क्या मिला ? केचुवा, जोक, शंख आदिकको देख लो—चावलमे सफेद लट हो जाते है वे दोइन्द्रिय ही तो हैं, उन्हे क्या मिलता है ? एकेन्द्रिय याने स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा कुछ बोध चलता था, अब जिह्वा द्वारा भी बोध चलने लगा, रसका परिचय हो गया, मिट्टी खाते हैं, चावलकी भुसी खाते, पर उन्हे क्या स्वाद आया ? यहाँ तो आप लोग हलुवा पूडीसे कमका स्वाद लेना ही नही चाहते, पर वहाँ दोइन्द्रियमे किस तरह का जीवन बितायें, वह दोइन्द्रियकी बात है। खा रहे हैं, आहार संज्ञा है, उसका कुछ विकल्प भी नही कर पाते, ऐसी बुरी स्थिति है दोइन्द्रियकी। वहाँसे यह जीव निकला तो तीनइन्द्रिय

हुआ । तीनइन्द्रिय जीव कौन है ? ये चीटा चीटी आदिक तीनइन्द्रिय जीव कहलाते हैं । तो इनका क्या विकास हो गया ? एक नासिका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करनेका और विकास हो गया । वे सूंघ लेते हैं, जहां शक्कर रखी हो वहां सूंघनेके सहारे पहुच जाते है । तो कौनसी बडी विभूति मिली ? एक गन्धका ज्ञान और हो गया तो उसका क्या सदुपयोग ? तीनइन्द्रिय से बढे तो चारइन्द्रिय हुए । मच्छर, ततैया, भंवरा, मक्खी आदिक चारइन्द्रिय जीव कहलाते हैं । इनको और क्या मिल गया ? आंखोसे देख लेते हैं, कोई अगर हाथ मारे तो वे उडकर भाग लेते है, इतनी भर सुविधा मिली आंखोके हो जानेसे । तो यह भी बहुत बडी बात है । आंखोका कितना महत्त्व है, तो मनुष्य जानते हैं कि जब आंखोसे नही दिखता है तो उनकी क्या दशा होती है ? वे तो यही कह बैठते हैं कि अगर आंखें नही है तो कुछ भी नही है । न रहे आंखें, न रहे कान, बहिरे हो जायें और भीतरमे भेदविज्ञानकी बात और आत्मस्वभाव के जाननेकी बात अगर बनती है तो भले ही रहे अधे, भले ही रहे बहिरे, मगर वहां टोटा कुछ नही पडता, बल्कि आंखोसे देखते है सुन्दर रूप, तो इससे तो और सक्लेश होता है । तब ही तो देखो प्रकृतिने आंखोको दो ढक्कन दिये हैं । और इन्द्रियोका तो ढक्कन नही है । अगर कही नाकमे दुर्गन्ध जाने लगे तो उसे कैसे बचा सकें ? हां हाथसे दबा लेते हैं, मगर नाकको स्वय ढक्कन नही मिला, मगर आंखोको तो ढक्कन मिला है । आंखोको बन्द करके बैठ जावो, मुझे नही देखना है कुछ, इतनी सुविधा मिली है, मगर ये विषय कषायोंके लोभी प्राणी इस सुविधाका कहां उपयोग करते है ? तो चार—इन्द्रिय जीवोको आंखें मिली हैं । आंखोके द्वारा उन्होंने कुछ देख लिया, इतना भर काम कर लेंगे, इससे अधिक वे क्या करें । मन नही मिला तो उन सब जीवोकी तरह रहेगे, कुछ विवेक न कर सकेंगे । कुछ आगे बढे तो असज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए । मानो पशु पक्षी हो गए तो इसमे कौन सा बडा उत्थानका काम कर लेते है ? नारकी हो गए, देव हो गए तो कौन बडे उलझनका काम कर लिया ? इन सब से भी दुर्लभ जीवन है तो हमारा मनुष्यभवका है ।

(८५) **मनुष्यभवकी व योग्य साधनोंकी दुर्लभता** — भैया ! लगता है ऐसा कि मनुष्य भवमे बडा कष्ट है, कभी भी मर जाते है, वियोग हो जाता है । छोटी-छोटी उम्रके बच्चे मर जाते, दादा, बाबा आदिक मर जाते, वियोग हो जाता तो यह बडा कष्ट है । अरे भाई जहां मर जाते है, जहां वियोग हो जाता है, जहां इतना कष्ट है, उद्धार वहीसे हो सकता है, जहां कोई नही मरता याने वियोग नही होता, एक साथ मरते हैं भोगभूमिमे अथवा देवोमे कोई देवी गुजरी तो थोडी देरमे दूसरी देवी हाजिर । कोई देव गुजरा तो थोडी देरमे दूसरा देव हाजिर । वहां वियोग कहा भोगना पडता ? इसलिए वहांसे मुक्ति नही है । मुक्ति वहांसे है

जहाँ वियोग होता रहता है । आज हम आपने मनुष्यभव पाया है तो यहा कुछ विवेक और बढाकर चलना चाहिये । विषय कषायोमें तो सारा जीवन खोया, ऐसी संगति बनाये ऐसी स्वाध्यायकी परम्परा चलायें, ऐसी तत्त्वज्ञानकी गोष्ठी बनायें कि बराबर ऐसी प्रेरणा मिलती रहे और विषय कषायोसे दूर होते रहे, यह रहा सहा थोडा सा जो जीवन है वह इस ढगसे गुजरे तो यही एकमात्र असली बात है । बाकी तो सब बेकार बात है । तो हमने ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव पाया और उसमे भी अगर हम लब्ध अपर्याप्त मनुष्य होते तो वह तो निगोद जैसी बेकार स्थिति थी । वह नही हुए । मानो खोटी जातिमे, खोटे क्षेत्रमे, खोटे धर्मशासनमे पैदा हो गए होते तब भी हमारा क्या उठता ? तो इतनी बातें जो आज हम आपको मिली हैं अच्छी जाति, अच्छा कुल, अच्छा धर्मका वातावरण अच्छी सगति, इन्द्रियां भी पुष्ट, आयु भी पर्याप्त, तो यह हम आपका एक बहुत बडा उत्थान है । मान लो कदाचित् आज तक जीवित न रहते, गर्भमे ही मर गए होते तो क्या ऐसा हो नही सकता था ? पर आज तक जीवित है तो समझो कि यह देखनेके लिए जीवित हैं कि कैसे मेरी धर्म आराधना बने और कैसे मैं मुक्तिमे अपनेको ले जाऊँ । ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसमे हम आपका कर्तव्य क्या है ? वह कर्तव्य होना चाहिए जो दुर्लभ हो । इसे कहते हैं बोधिदुर्लभ ।

(८६) मिथ्यात्वविनाशकी दुर्लभता—अहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रका लाभ बने तो यह हमारी उत्कृष्टता है । सम्यग्दर्शन क्या ? जाननेके लिए तो अनेक कथन है, लेकिन सीधी सादी बात थोडी सी जान लें सम्यक्त्वके लिए । आखिर मेढक, गाय भैंस, बैल आदि भी सम्यग्दृष्टि हो सकते, तो वे कहाँ व्याकरण पढ़ें ? कहा बहुत बहुत बातें समझें ? वे तो ७ तत्त्वोंके नाम भी नही बोल सकते, फिर भी सम्यक्त्व होता । तो सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए यद्यपि बहुतसे ज्ञानकी आवश्यकता नही, फिर भी पशुपक्षियोकी अपेक्षा से कुछ विशेषताकी आवश्यकता है । हम अपना पहिले ऐसा व्यावहारिक जीवन बनायें, किसी पर अन्याय न करें, अभक्ष्य पदार्थ न खायें, कभी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी उपासना न करें, अपनेको एक सुरक्षित बनायें और अन्दरमे क्या देखें ? उससे पहिले हम क्या चिन्तन करें कि सुदेव क्या, सद्शास्त्र क्या और सद्गुरु क्या ? तो जो आत्मा रागद्वेष रहित, जन्म मरण रहित हो गया है उस आत्माको कहते हैं देव । देवके मायने आदर्श । मुझे क्या बनना चाहिए ? ऐसा आदर्श जो चित्तमे आये उसे कहते हैं देव । ऐसा विशुद्ध आत्मतत्त्व । देखो जो चीज है वह चीज अकेली रह सकती है । जैसे चौकीपर कूड़ा जम गया तो यह कूडा अलग हो जाय और चौकी खालिस रह जाय, यह बात सम्भव है ना ? तो जब मेरी सत्ता है, मैं स्वयं कुछ हूं तो मेरे पर जो कूडा जमा है, पर सम्पर्क लगा है, यह परसम्पर्क हट

जाय और मैं केवल आत्मा ही रह जाऊँ, यह बात तो सम्भव है ना, ऐसी स्थिति कभी हो तो उसे कहते है देव । उसका विश्वास हो कि मुझे तो यह बनना है और ज्ञान और आनन्द की स्वच्छता यहा ही है, अन्य किसी भी पदमे, सासारिक स्थितियोमे कोई सार नही है। इसही बातको बताने वाले शास्त्र सत्शास्त्र कहलाते हैं और इस ही विधि पर चलने वाले जन सद्गुरु कहलाते हैं उनकी सेवा उपासना हो और अपने आपमे क्या विचार हो ? सो भी सुनिये ।

(८७) अन्तः ज्ञानज्योतिविकासकी दुर्लभता—देखो यह तो सभी जानते हैं कि यह देह सदा साथ न देगी । इस देहको छोडकर जाना होगा । तो यह मान लीजिये कि देह जुदी चीज है और मैं जुदी चीज हूं । यदि देह और मैं एक होता तो यह देह मुझसे कभी अलग न हो सकता था । ये भिन्न-भिन्न चीजें हैं, जरा सी बात देखकर ही समझ सकते हैं कि मैं इस देहसे निराला हू । अब आगे और देखो कि जो मेरेमे क्रोध, मान आदिक कषायें जगती हैं तो इन भावोके समयमे मैं कितना हैरान हो जाता हू और कुछ समय बाद ये कषायें रहती भी नही हैं । तो जिन भावोसे हैरानी हुई, जो भाव रहे नही, उन भावोको मत समझें कि ये मेरे हैं जो चीज विनाशीक है, वह मेरी नही, वह तो किसी की छाया है । मैं तो हू उस शुद्ध परमात्माकी तरह स्वभाव वाला । इतनी बात समझमे आये बिना सम्यक्त्व नही होता और जिन गाय, भैंसा, बैल, मेढक मछली आदिकको सम्यक्त्व हो गया हो तो उनको यह स्वभाव तो समझमे आ ही गया था तब सम्यक्त्व हुआ, पर इतनी चर्चा करते नही थे, वह तो एक दृष्टिकी बात है । उनकी दृष्टिमे आत्मस्वभाव आया और उसमे ही उन्हे अहका अनुभव हुआ तब उन्हें सम्यग्दर्शन हुआ । सम्यग्दर्शनकी विधि तिर्यंचोमे और हो, मनुष्योमे और हो सो बात नही, लेकिन तिर्यञ्चोको बाहरी अटपट साधन ज्यादह नही लगे इसलिए पढे लिखे नही । अभक्ष्यका बोध नही होता, ऐसी स्थितिमे भी वे पार पा लेंगे, पर मनुष्य ... र न पा सकेंगे । एक उस योग्य आचरण चाहिये । आखिर हमको समझना है अपना आ... से निराला केवल ज्ञानस्वरूप हू । जरा सी ही तो बात बोला है, इतनी बारबार भावना ... एक ज्ञा... घरमे या और जगह कि मैं देहसे निराला, कर्मसे न्यारा, कषायोसे न्यारा मैं एक ज्ञा...ति स्वरूप हूँ । जब ऐसा कुछ भीतरमे मनन करें तो अपने आप यह बात समझमे आयगी और कि मेरा दुनियामे क्या है ? कुछ नही । तब अकिञ्चनता पूरी तरह समझमे आयगी ... कि मैं किसीको पुत्र मान रहा, स्त्री, पति आदिक मान रहा, अन्य कुछ ...झमे आयगा ... ओह इसा समझ रहा, उस समझमे कितनी विडम्बना थी, कितना अज्ञान बसा था ? ... मूर्ति मुझ आत्मतत्त्वका दुनियामे अणुमात्र

भी नही है। यह बात उसकी समझमें स्पष्ट आ गयी। पर वह जब तक गृहस्थीमे है तब तक सद्व्यवहार करता है। तो दुर्लभ क्या चीज हुई? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उससे भी दुर्लभ है सम्यक्चारित्र। याने ऐसे सहज आत्मस्वभावमे बसने के लिए इतना विरक्त हो जायें कि जिससे सहज जब चाहे बसा ही रहा करे तो उसे कहते है सम्यक्चारित्र। जिसको सम्यक्चारित्रका उदय हुआ है उसे ममता नही जगती, बाह्यवस्तुवोका सग्रह नही करता। बाह्य वस्तुओका सग्रह करना ही यह सिद्ध करता है कि इसको उसमे ममता है। तो ऐसी एक निर्ग्रन्थ अकिञ्चन स्थितिमें रहते हुए केवल ज्ञानमात्र अतस्तत्वकी ही भावना बनी रहे ऐसी स्थिति होती है सम्यक्चारित्रमें। सम्यक्चारित्र हम परिपूर्ण नही पा सकते तो दृष्टि दें कि हम अपनी शक्तिको न छुपाकर इस चारित्र और संयमकी आराधनामें लगें। तो यह बोधिभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये दुर्लभ है।

(८८) **जीवकी सर्वोत्कृष्ट आदर्श एवं अनुकरणीय अवस्था**—अब रत्नत्रयकी उत्कृष्टता मे और ऊपरकी स्थिति सोचिये—जिस भव्य पुरुषको रत्नत्रयका लाभ हुआ है उसको अधिक उत्कृष्ट स्थिति आजके कालमें तो न मिलेगी, लेकिन वज्रवृषभनाराचसहनन वाले बडे तगड़े हृष्ट पुष्ट बलिष्ट शरीर वाले, जो बडे बड़े परीषहोका कुछ भान ही नही करते, यो ही सहज सहते जाते हैं, उनमे ऐसी क्षमता है कि बाधायें कैसी ही आयें पर वे अपनी ज्ञान आराधनासे च्युत नही होते। यहाँ तो एक मच्छर भी काटे तो ये सब चर्चायें एक तरफ हो जायेंगी। उसी पर ध्यान जायगा। कदाचित् न जाय और बाधायें आयेंगी तो उससे चिग जाते हैं। क्यो तपस्या करना बताया है? तो समाधितत्रमे कहा है कि बड़े आरामसे, बिना कष्ट भोगे कुछ ज्ञान पा लिया तो कोई कष्ट आनेपर वह सब ज्ञान बिदा हो जायगा। इसलिए कष्ट भोगनेका अभ्यास करना चाहिए तपश्चरण करना चाहिए कि कभी कष्ट आये तो उस कष्टके समयमे भी मैं अपने आनन्दसे विचलित न हो सकूँ। उसके लिए ये बाहरी तपश्चरण बताये गए है। तो अब इन बाहरी तपश्चरणोको करके वे मुनिराज अपने आपमे ज्ञानस्वरूपकी आराधना कर के और ऊँची श्रेणी मारकर जहाँ विकल्प भी नही रहता, बडी समाधि रहती है, ऐसी स्थिति मे आकर वह एक शुद्ध आनन्दका भोग करता है और उसको आकुलता नही रहती है। सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव बनाये रहता है, ऐसी स्थिति उनके कुछ काल रहे तो उनका मोह मूल से क्षीण हो जाता है, फिर चारित्र मोह भी रच नही रहता। उन्हे कहते हैं क्षीण मोह। मोह मिटा कि नियमसे अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञान हो जाता है, फिर वे केवली हो गए, जिनकी हम पूजा करते हैं ये अरहत जिनेश्वर देव सिद्ध भगवान ये इस तरहसे उत्थान पा पाकर एक परमात्मस्वरूप हुए हैं। जब तक इन सारी बातोका परिचय न होगा तो भगवानकी महत्ता भी

विदित नही हो सकती। ऐसे भगवान जिनेन्द्र यह ही उत्कृष्ट स्थिति है और जब इनके बाकी अघातिया कर्म दूर होते, शरीर भी जुदा हो जाता है, जब इसकी और उत्कृष्ट स्थिति सिद्ध भगवतकी हो जाती है। तो हमको सिद्ध भगवत तक पहुंचना है, ऐसी स्थिति पाना है, यह ध्येय इस मनुष्यभवमे बना लिया जाय तो काम बन जायगा। हम पूर्वमे निगोदमे थे, वहांसे हटकर बहुत यात्रा कर चुके हैं। अब कोई ऐसा दुष्कर्म न हो कि फिर बडी खोटी दुर्गतियोमे जाना पडे। इन सब दुर्गतियोके जाननेसे यह शिक्षा मिली।

(८६) **क्लेशका कारण विरुद्ध परिणमन**—हम आप सब लोग जब कभी संकट और दु खकी चर्चा करते हैं तो बहुत सकट, बहुत क्लेश बताया करते हैं। जितने पुरुष हैं उतने ही मुह, उतनी ही बातें कष्टकी कही जाती हैं, किन्तु निर्णय करके आप समझ सकेंगे कि हम आपपर कोई कष्ट है मूलका तो वह है जन्ममरणका। जन्म लेते हैं, मरते हैं, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं, यह जो हमारी परिपाटी है, उससे हम आप दुःखी हो रहे है। जन्मके समय दुःख, मरणके समय दु ख। जन्म मरणके बीच जितनी सारी जिन्दगी है उस जिन्दगीमे भी दुःख। फिर मरे, फिर जन्मे याने दु खकी परम्परा निरन्तर बनी ही रहती है। यही हम आपके सामने बडी समस्या है। यहाँ तो लोग ये समस्यायें रख देते होंगे कि हमारा व्यापार नही चलता, हमारी आय अच्छी नहीं है, हमारे घरके लोग प्रतिकूल बने हैं अथवा पुत्र कुपूत निकल गया है या और और कुछ बातें, लेकिन सत्य समझिये कि ये सारीकी सारी बातें मेरे लिए कोई समस्या नही है। जो होता है हो, उससे मेरेमे क्या नुक्सान होता, अच्छा चलेंगे कोई लोग तो वे अपने लिए चलेंगे, बुरे चलेंगे तो वे अपने लिए चलेंगे, उनसे मेरेको क्या होता है ? यह कोई समस्या नही है। समस्या है तो यही है कि जन्ममरणके हम दु ख भोगते हैं। अनेक कुयोनियोमे जन्म लेते हैं और कल्पनायें करके दु खी होते है। यही सकट है हम आपपर। जैसे लोग सोचते हैं कि मेरा यह सकट मिट जाय, इसके लिए मैं सारी सम्पदा खर्च कर दूंगा मानो तबियत खराब हो गई तो सोचते हैं कि यह हमपर बडा सकट है, मैं इसके लिए सारी सम्पदा लगा दूंगा। बच्चेको कोई काम कराना है, सारी सम्पत्ति लगा देंगे, यो सारी समस्या बना डालते हैं, लेकिन जन्ममरणका सकट ऐसा है कि इसके लिए तो ये प्राण भी देने पडें, और अगर जन्ममरणका सकट मिटता है तो समझो कि मैंने बडे सस्तेमे यह सकट दूर कर दिया। अब जरा विचार करो कि ये जन्ममरणके सकट किस विधिसे मिट सकते हैं ? तो पहिले यह समझें कि ये जन्ममरणके सकट क्यो आ रहे है ? इनका कारण है उल्टा चलना। हम सीधे चलते नही, चलते हैं उल्टा तो बस संकट आ जाते हैं। लोग यह भी तो कहते है कि वह उल्टा उल्टा ही चलता है। साता कैसे पायें, आराम

कैसे मिले, तरक्की कैसे हो ? वह तो उल्टा ही चलता है । तो यही बात यहाँ समझिये कि मेरे जन्ममरणके संकट कैसे मिटें ? मैं तो उल्टा चल रहा हू । क्या उल्टा चल रहा हूँ कि मेरा स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ हैं । जगतके पदार्थोंका स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ है । हमे सहज अपने स्वरूपके अनुसार रहना चाहिए, पर रहते हम उल्टे है, इसी बातको संक्षेपमे इन तीन विभागोमे बताया है—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । इन तीनोके वश होकर ससारमे जन्ममरणका दुःख उठाया जा रहा है ।

(६०) **मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रका प्रभाव**—अब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीनोपर विचार करें । मिथ्यादर्शन क्या है ? मिथ्यादर्शनका अर्थ है—झूठा श्रद्धान करना, अपने आपके बारेमे झूठा विश्वास बनाना । मैं हू कुछ और मानते अपनेको कुछ, बस यह ही मिथ्या श्रद्धान है । मैं हू चैतन्यस्वरूप, अन्य समस्त पदार्थों से निराला, पर माना जाता है क्या कि मैं हू यह देह । जो कुछ पोजीशन है, जो कुछ बाहरी परिस्थिति है उसरूप अपनेको माना जाता है । यह हू मै । यही हुआ मिथ्या विश्वास । देखो भ्रम बनाकर मिथ्या विश्वास बनाकर कोई लोकमे भी तरक्की नही कर सकता । आत्माकी उन्नति तो पायगा कैसे ? अपने बारेमे कैसा मिथ्या विश्वास लगा है कि मैं अमुक गाँवका हूं, अमुक परिवार वाला हू, अमुक जातिका हूँ, अमुक पोजीशनका हू, व्यापारी हू, सर्विस वाला हू, और और प्रकारकी कितनी ही बातें मानते—मैं पुत्रो वाला हू, मैं बलवान हू, दुर्बल हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, निर्धन हूं, धनी हू, काला हूँ, गोरा हू आदिक कितनी ही तरहकी अपने आपमें यह कल्पनायें उठाता है यह है एक शुद्ध ज्ञानमात्र, केवल जानन, यही स्वभाव है, पर लोग मान रहे अपनेको कितना उल्टा । बस इस मिथ्यात्वके कारण हम ससारमे रुलते है । एक बात और भी सोच लो—आखिर हम सब लोग भगवतस्वरूप है । भगवान जैसा स्वभाव रखते है, इसीलिए ऐश्वर्यरूप है । कोई हँसी ठट्ठा नही है । जब हम इतने बडे हैं, ईश्वर स्वरूप है तो जो हम चाहे वैसा न हो ऐसा नही हो सकता । जो चाहते हैं सो होता है । आप सोच रहे होंगे कि बडी अच्छी बात है कि हम बडे हैं, ईश्वरस्वरूप है, हम जो चाहते सो होता है, ठीक है । देखो हम देह चाहते हैं तो देह मिलते रहते हैं । है ना खूबी । हम शरीर चाहते है, शरीरमे प्रीति करते हैं, शरीरमे मोह बसाते हैं, शरीरको मैं हू ऐसा मानते हैं तो फिर ये शरीर दनादन मिलते चले जायेंगे । देखिये जैसे लोग कहते हैं कि एक बडे बर्तनकी खुर्च भी एक दो आदमियोका पेट भर देती है, तो मैं बडे ऐश्वर्य वाला हू तो देखो यहाँ भी ऐश्वर्य चमक रहा है । जो देहको मानता हो कि यह मैं हू, तो देह बराबर मिलते रहते हैं । हाँ विवेक यह करना है कि यह देहका मिलना भला नही है, यह तो जन्ममरणकी

बात है। यह तो सकट है। जब यह देह न चाहे, देहसे उपेक्षा करें तो वैसा भी हो जायगा। तो विवेक करना है, कठिनाई कुछ नही है। कैसे उद्धार होगा ? इसमे मुश्किल जरा भी नही है। एक अपनी दृष्टि पलटनेकी जरूरत है। जैसा हम चाहेगे, जैसी हमारी दृष्टि होगी वैसा काम बन जायगा, इसमे कोई संदेह नही। तो हम देहको चाहते है, देहको मैं हूं ऐसा मानते हैं तो ये देह मिलते रहते हैं। यही तो कहलायी जन्म मरणकी परिपाटी। तो यह परिपाटी क्यो बनी ? मिथ्याश्रद्धानसे, मिथ्यात्वभावसे और भी देखो कैसे कैसे मिथ्यात्व लग रहे हैं। शरीर तो भिन्न वस्तु है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप भिन्न वस्तु हू। यदि शरीर उत्पन्न हुआ याने जन्म हुआ तो यह मानता है कि मैं ही उत्पन्न हो गया। शरीर न था, वे बिखरी वर्गणायें थी, शरीर बनने लगे तो यह मोही मानता है कि मैं बनने लगा हू। मैं उत्पन्न हो गया हू और जब शरीर मिटता है तो यह मोही मानता है कि मैं मिट गया हू। यह है इस का मिथ्या विश्वास। जहां उल्टी चाल चल रहा हो, भीतरमे श्रद्धा ही उल्टी बना रखी हो तो उसके ऊपर जो भी क्रियाकाण्ड चलेंगे वे सब मिथ्या चलेंगे। नीचे औधी डेगची रखें तो जितनी डेगची उसपर रखी जायेंगी वे सब औंधी रखी जा सकेंगी। उस पर सीधी डेगची नहीं रखी जा सकती। जब मिथ्या विश्वास है तो हमारी जो क्रियायें होगी वे भी मिथ्या होगी। ऐसा मिथ्यात्वमे लग रहे हैं तो जन्म मरण मिल रहे हैं।

(६१) सप्ततत्त्वविषयक अमिथ्याद्धान हटाकर सम्यक् श्रद्धान करनेका कर्तव्य— देखो जब भला होनेको होगा तो ज्ञानप्रकाश तो मानना ही होगा। अधेरा तो मिटाना ही होगा। ऐसा अपना दृढ निर्णय बनाना ही होगा कि मेरे आत्माका तो मेरा चैतन्यस्वरूप मात्र है और कुछ नही है। वह बात यदि अभी बना लें इसी भवमे तो हमारा क्या बिगाड है ? अभीसे मुक्तिमार्ग मिल जायगा। अभीसे शान्ति मिलने लगेगी। अभीसे हमे सन्मार्ग मिल जायगा, इसके लिए देर करना अच्छी बात नही है। सत्य निर्णय बना लें, सत्य विश्वास बना लें, अन्यथा समारमे जन्म मरण ही करते रहना पडेगा। इसके मिथ्यात्वकी दशायें देखो कैसा उल्टा उल्टा मान रहा है। बाहरी वस्तुवें हमे न सुख देती न दुःख देती, वे तो अपनी सत्तासे अपने आपमे पडी हुई हैं, लेकिन यह मोही मानता है कि मुझे अमुक सुख देता है, अमुक दुःख देता है और भीतरमे यह वासना बनाये हैं कि यह प्रेम यह राग बडा सुखदायी है। जो दुःखका कारण हैं उन्हीं कषायोको यह सुखदायी मानता है। जब क्रोध आता है तो क्रोध करते हुएमे यह मौज मानता है। दुःखी थोडे ही होते हैं कि हाय क्या करें ? मेरे को क्रोध आ गया। वह तो क्रोधको अपना स्वरूप समझता है और क्रोधमे कभी कमी आये तो उसको और तेज करना चाहता है। उसको अपना जीवन समझता है।

तो जो विकार कषायें हमे दुःख देने वाली हैं उन ही विकार और कषायोंको सुखदायी मानता है ? यह मिथ्या विश्वास है ना तो कैसे पूरा पडेगा ? इसके साथ ही यह भी देख लो कि जो वास्तवमे हितकारी है उसे दुःखदायी समझता है। जैसे गुरुजनोंका सत्सग, शास्त्र-स्वाध्याय, प्रभुभक्ति, पूजन आदिकमें शामिल होना, कुछ समय अपनेको बाहरी मोह चिन्त से हटाकर कुछ धर्मध्यानमे लगाना, यह कुछ हितकारी है। पर इसमे प्रीति नही जगती। जिनके जगती है। उनका भला हो रहा है और देखिये—भीतरमें ज्ञान और वैराग्य वास्तव मे ये ही हितकारी हैं, सही ज्ञान जग जाय और बाह्यपदार्थोंसे विषयोसे राग हट जाय, यह है हितकी चीज, लेकिन इसको दुःखदायी मानते हैं। तो ऐसा मिथ्या श्रद्धान है उसका फल यही है कि जन्मते हैं और मरते हैं। किसी पुरुषने एक बार यह शंका की थी कि जैसे गेहूंके दानोसे गेहूं ही तो पैदा होता, ऐसा ही मनुष्य कोई मरेगा तो मनुष्य ही तो बनेगा, फिर क्या हर्ज है– अधिक धर्म करनेकी। मनुष्य हैं, मरेगा तो मनुष्य बन जायगा, फिर मनुष्यकी बात मिलने लगेगी। घबडाहटकी बात तो तब है जब हम कीडा बन जायें, पेड पौधे बन जायें, सो ऐसा कैसे होगा ? चनेसे चने ही तो होते हैं, तो मनुष्य मर गया तो मनुष्य ही तो बनेगा। एकने यह शंकाकी थी। इस सम्बन्धमे जरा विचार करें। शंकाका जो अभिप्राय है वह तो यही था था कि गेहूंसे गेहूं बनता, तो यह ही बात यहाँ भी है। मनुष्य शरीरसे, मनुष्यके रजवीर्यसे मनुष्य बनेगा, इसमे शंका नही आती लेकिन जीवकी बात क्यो लगाते कि जो जीव मनुष्यगतिमे है वह मनुष्यगतिमे पैदा होगा,

देहकी बात देहमे लगावो, उसका हम विरोध कहाँ करते। गेहूँसे गेहूँ देह बनेगा, मनुष्य से मनुष्य देह बनेगा, पर जीवकी बात बीचमे क्यो लगाया ? उसकी सृष्टि तो भावोके अनुसार है। जैसा भाव करेगा वैसी बात पायेगा। तो एक तो जन्म मरण और फिर उसमे विश्वास भी नही कि मरकर क्या बनेंगे। तो है ना बडा भारी सकट ? अगर १०-५ वर्ष अच्छी तरह जी लिया तो इतना जीनेसे क्या पूरा पडता ? इतनी तो अनन्तकालकी यात्रा धरी है, वह यात्रा सही होनी चाहिए। मिथ्या श्रद्धान है इस कारण जीवको जन्म मरणके संकट सहने पडते हैं। मिथ्या विश्वासकी ही तो बात है। बताओ इच्छा करनेसे दुःख होता है कि आनन्द ? सब सोच लेते हैं कि जब इच्छायें करते हैं तब बडी बेचैनी होती है। सोच लो जरा जरासी इच्छा। आपको यह इच्छा हुई कि आज तो हमे पापड खाना चाहिए तो देखो—आप को तुरन्त आकुलता होती कि नही ? बच्चीसे कहलवाते कि माँसे कह दे कि आज पापड बनावे, अगर कोई सामान न हुआ तो उसे भी लाते, यो अनेक खटपट करनी पडती हैं। लगता तो यो है कि इसमे तो कोई खटपट नही करनी पड रही, घरमे सब प्रकारकी सुविधा है, लेकिन

किसी चीजकी इच्छा जग जाय तो नियमसे क्लेश होगा। उसी समय क्लेश होगा। क्यो क्लेश होता है ? देखो—जिस समय इच्छा है उस समय वह चीज मिली हुई है क्या ? अगर मिली होती तो इच्छा क्यो बनती ? इतना तो निश्चित है कि जब हम जिस चीजकी इच्छा करते है उस समय वह चीज हमारे पास नही है, और जब नही है तब उसकी प्रतीक्षा करते, घूमते, तो आकुलता है कि नही ? तो इच्छा प्रकट आकुलता है लेकिन लोग उन आकुलतावोंसे ही अपनी महत्ता मानते हैं। अपना सुख मानते हैं। तो ऐसे मिथ्या श्रद्धान जब किये जा रहे हैं तो इनका मूल सकट कैसे दूर हो सकता है ? एक बात और खास समझ लीजिये—हर एक कोई किसी न किसी बातको बडा समझकर उसकी बाट हेरता रहता है यह रोज की पद्धति है। जिसमे जिसने नफा समझा, जिसमे अपना हित समझा उसकी बाट जोहते कि नही ? जिससे प्रीति लगी हो उसकी बाट जोहते ना ? तो बाट जोहनेका सबमे माद्दा पडा हुआ है। अब सोच लो कि हम किसकी बाट जोहा करते है ? फर्मकी, पुत्रकी, पुत्रीके विवाह आदिककी। तो ये सारी बाट जोहा इस जीवने, मगर एक मोक्षकी बाट नही जोहा। कब वह समय आये कि मैं कर्म और शरीरसे अलग रहकर एक केवल निज स्वरूपमात्र रहू, यह बाट नही जोहा, उल्टी बाट जोहा, तब इसके उल्टे ही तो काम होंगे। तो ऐसी मिथ्या धारणा बनाया है इस जीवने।

(९२) सम्यक्त्वकी संसारतरणमे कर्णधाररूपता—और ऐसे ही विश्वासके साथ ज्ञान भी नच रहा है, उसके अनुकून तो ससारके संकट आयेंगे ही। अगर सकट न चाहिए तो मिथ्या श्रद्धान छोड दीजिये। जब तक मिथ्याविश्वास लगा है तब तक हमारी जो गाडी चलेगी वह उल्टी चलेगी। देखो नाव खेने वाले मल्लाह चाहे कितने ही लोग नावको खेते रहे, मगर उन सबकी चोटी एक कर्णधारके हाथमे रहती है। कर्णधार वह कहा जाता है जो नावके पीछे एक डडेमे सूप जैसा लगा रहता है उसे घुमाता है। वह जिस दिशाकी ओर मोड देता है नाव उस ही ओर बहने लगती है। चलाने वाले लोग तो नावको तेजीसे चलाते रहते हैं पर नाव किस दिशामे चले यह उस कर्णधारकी करतूत पर निर्भर करता है, तो इसी तरह समझ लीजिये कि हमारा श्रद्धान जिस ढगका होगा, बस वैसी ही हमारी दिशा बन जायगी फिर चाहे क्रियायें कितनी ही तेज कर डालें। तो हमे मिथ्या श्रद्धानसे हटना चाहिए जिसके बलपर मिथ्या चारित्र चलता है। सो मिथ्याचारित्रमें प्राय सब जीवोंके बिना सिखाये मिथ्याचारित्र लग रहा है। कौन कह रहा है कि हिंसा करो, झूठ बोलो, चोरी करो, व्यभिचार करो, उनमे लालसा बनाये रहो ? ये कोई पाठशालामे सिखाये जाते हैं क्या ? अरे ये सब तो अपने आप ही लोग करने लगते हैं। तो यह मिथ्याचारित्र ही तो है, कुछ सिखा सिखाया

भी मिथ्याचारित्र बनता है। जिनकी कुछ पाठशालायें हैं, कुदेव मानो, कुशास्त्र मानो, कुगुरु मानो, बडे बडे शास्त्र रचे जाते है, बडा डर दिखाया जाना है कि देखो अगर तुम इसे न मानोगे तो काफिर कहलावोगे, नरकमे जावोगे। सब तरहसे अपना मोर्चा बनाया जाता है कि ये गृहीत मिथ्यात्वमें बने रहे। तो यह मिथ्या चारित्र या गृहीत श्रद्धान कैसे लगा? जब अपने आपको अपनी सुध न रही तो जिसने जैसा समझाया वैसा चल बैठते है। जैसे बच्चो को कहां अधिक अकल होती है? कोई कहे कि रे बच्चे देख तेरा कान कौवा ले गया तो वह बच्चा उस कौवेके पीछे भागेगा। उसे यह बुद्धि न जगेगी कि मैं जल्दी ही अपने कानोको टटोल लूं और व्यर्थकी भाग दौड बंद कर लूं। तो ठीक इसी तरह इन मोही जीवोंको अपने आपमे अकल नही होती है, क्योकि उन्हे सत्यका श्रद्धान ही नही हुआ। जिसने जैसा बहका-दिया वैसा बह जाते है। तो यह जीव मिथ्यात्वी बना है, विषयोमे इसकी प्रवृत्ति है, यही कारण है कि इसके जन्म मरणके संकटकी परम्परा बराबर बनी रहती है। अगर जंच गया हो कि सत्व है, मेरे पर और कोई सकट नही है, सारे सकट तो एक कल्पनाकी बात है, मान लेनेकी बात है, है नही कोई संकट। कोई मान ले संकट तो इसका क्या इलाज जैसे कोई एक पागल किसी कुवें पर बैठा हुआ था। वहां सडकसे अनेक लोगोका आना जाना चल रहा था। वहां कोई मुसाफिर अपनी मोटर खडी करके पानी पीने लगे, फिर पानी पीकर वे चले गए, पर वहां बैठा हुआ वह पागल यह मानकर दुःखी होता है कि हाय मेरी मोटर चली गई। अरे कहां थी उसकी मोटर? पर उसने कल्पना ऐसी बनाया कि यह मेरी मोटर है तो उसके पीछे वह दु.खी हो गया, ठीक इसी तरह ये जगतके प्राणी अपनी सडक से, अपने मार्गसे या अपनी-अपनी गतिसे आते है, एक स्थानपर कुछ समयके लिए इकट्ठे हो जाते हैं, बादमे वे अपनी-अपनी करनीके अनुसार भिन्न-भिन्न गतियोमे चले जाते हैं, पर वहां रहने वाला वह मोही, अज्ञानी, पागल प्राणी मानता है कि अरे मेरा अमुक चला गया, हाय अब क्या होगा? यो वह दुःखी होता है। तो इस दुःखका मूल कारण है झूठा श्रद्धान, झूठा विश्वास।

(६३) आत्महितके लिये मिथ्याभावके निवारणकी अनिवार्यता—आत्महितके लिये झूठे श्रद्धानको मेटना होगा। यह कैसे मिटेगा? एक निजदृष्टिसे ये ध्वस्त हो जायेंगे। जैसे ईंधनके बहुत बड़े ढेरको जला देनेका साधन अग्निकी एक कणिका है, इसी तरह बडे-बड़े संकटों को, विकारोको मिटा देनेमे समर्थ एक सम्यक्त्व कणिका है। सच्चा विश्वास बने, अपने आप के स्वभावका अनुभव हो तो स्वभावमे मग्नता बनेगी। सारे सकट अपने आप दूर हो जायेंगे। तो एक बात यह ध्यानमे लाना है कि मेरे पर जन्म मरणका सकट है, और कोई सकट नही।

इतना जब मान लेंगे तो इस जिन्दगीमे आपके बहुतसे क्लेश स्वय मिट जायेंगे। नुक्सान हो गया तो होने दो, यह कोई सकट नहीं है। कोई गुजर गया तो यह कोई सकट नही है। क्या माना जाता है सकट दुनियामे? सारेके सारे भी सकट दुनिया भरके आ जायें तो भी यह ज्ञानी समझ रहा है कि क्या हुआ? हो रहा है, यह तो कोई सकट ही नही। सकट है तो एक मात्र यह ही है कि हम जन्म मरणके चक्रमे लग रहे हैं। उसके मेटनेका उपाय है, 'निजको निज परको पर जान, फिर दु:खका नहि लेश निदान।' देखो भाई! जैसी बात है वैसा समझनेमे कुछ नुक्सान है क्या? नुक्सान हो या न हो। बात जैसी है, वैसी समझमे तो आ ही जाती है। आना पड़ेगा ना, ठीक समझ लो—मेरा आत्मा केवल मैं ही तो हूँ मैं आगे कुछ तो नही हूँ। आगेके रहने वाले पदार्थ वे सब पर ही तो हैं, वे मुझमे तो नही आये हैं। है ना बिल्कुल सही बात। निज निज ही है, पर पर ही है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा निज ही हूँ। जिसे कहते हैं दो टूक हो गए। कभी जुड ही नही सकते, कभी एक नही हो सकते, ऐसे बिल्कुल न्यारे हैं मैं और देह। मैं और यह सारा परिकर चेतन अचेतन। वह चेतन है ऐसा मान लीजिए, इसमे लाभ ही है, हानिका तो नाम ही नही है। तो यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और इस ही अनुरूप अपना आचरण हो तो ये जन्म मरणके सकट दूर कर सकेंगे। बस दो ही निर्णय बनाये रहें, सकट मेरे पर कुछ नही। जन्म मरणका सकट, इसके मेटनेका उपाय है—'निजको निज परको पर जान।' दूसरा कोई उपाय नही सकता। तो जहाँ तक दो ही बातें है, अधिक कुछ बात ही नही तो वहाँ फिर इनके करनेमे कौनसी असुविधा है? इसके लिए चाहिए कुछ सत्सग और शास्त्राभ्यास। इनमे अपना श्रम कीजिए। थोडा समय बढावो, खूब अध्ययन कीजिए तो ये ही शान्तिके कारण बन सकेंगे, बाहरी समागम हमारी शान्तिके कारण न बन सकेंगे।

(६४) **शरण्य अन्तस्तत्त्वकी अगवानी**—मेरा शरण मेरेमे अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमात्र चित्स्वभाव हो इसका ध्यान बनाये बिना एक क्षण भी न व्यतीत हो ऐसा अपने चित्तमे निर्णय रखना चाहिए, और अपने आपका भान करते हुए, बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा रखते हुए अपने आपकी दुनियामे, अपने आपके उद्यानमे विहार करके प्रसन्न रहनेका पौरुष करना चाहिए। जहा बाहर देखा, अपने आपके स्वभावसे च्युत होकर बाहर झाँका कि विपत्ति ही विपत्ति नजर आती है, जैसे सावनके महीनेमे मूसलाधार वर्षा हो रही हो, बिजली तडक रही हो, ऐसे समयमे यदि छोटी सी कोठरी मिल जाय और उसमे मनुष्य पहुच जाये तो वह मनुष्य बाहर झाँकना भी नही चाहता है। निकलनेकी बात तो दूर रही। वह अपनी उस कोठीमे रहता हुआ अपनेको सुरक्षित मानता रहता है इसी तरह इस आत्मकोठरीसे बाहर बडी-बडी विपत्तियाँ है, सकट है, कष्टकी वर्षायें हो रही हैं, इस ससारमे सर्वत्र कष्ट ही कष्ट

भरे पडे हैं, यहाँ यदि अपने आपकी कोठरी मिल जाय, अपने आपका यह ज्ञानसे रचा हुआ ज्ञानस्वरूप, ज्ञातका ही वातावरण, ज्ञानमय इस अंतस्तत्त्वमे प्रयोग्य रहता हो, प्रतीति हो तो यह ज्ञानी जीव बाहर ढूकना नही चाहता, बाहर निकलना नही चाहता। अपने अतुल आनंद को यही भोगता हुआ रहता है। बाह्यके सत् पदार्थ सारहीन हैं, यह बात थोडा पढे लिखे भी जान सकते है, अधिक पढ़े-लिखे भी जान सकते है। सूक्ष्म अंतस्तत्त्वका जिसने भान किया वह भी जान सकता है। जाननेकी सबके अंदर जरूरत है, पर मोटे रूपमें सब कह सकते कि बाहरी पदार्थोंका सगम सारहीन है। सगम क्या सारहीन है? बाह्य पदार्थोंके विषयमे उनका विकल्प करके जो विकल्प बनाया करते है वे है सारहीन। बाहरी पदार्थ तो जो जैसे हैं वे हैं ही, वे खुदके अपने लिए तो सारभूत हैं ही। कौन पदार्थ असार है? वे अपने लिए सारसहित ही हैं, पर मेरे लिए सारभूत नही हैं। मेरे लिए सार तो मेरा यह विज्ञानैकरस यह विज्ञानघन सारभूत है। इसकी दृष्टि प्राप्त हो इसके लिए पौरुष होना चाहिए।

(६५) **स्वभावदृष्टिके लिये नयोंका सहयोग**--अब देखिये--इसकी दृष्टि प्राप्त करनेमे सभी नय मदद करते हैं। नयका काम है ले जाना कल्याणकी ओर, आत्मस्वभावकी ओर। जहाँ निश्चयदृष्टिका प्रयोग करके एक वस्तुको एकमे ही निरखकर, अन्य पदार्थोंका भान छोडकर, केवल एकको ही देखकर एक ही आश्रय रहा, अतएव वह समतामे आता है और स्वभावकी ओर सुगमतासे उन्मुख हो जाता है, वहाँ व्यवहारनय यह बताता है कि ये जो विकार हुए ये पौद्गलिक है, पुद्गलकर्मसे निष्पन्न हैं अर्थात् पुद्गलकर्म विपाक सन्निधानमे ये विकार बनते, तो ये विकार उसके खातेमे जायेंगे। मेरे स्वरूपमे मत आयें। मेरा स्वरूप तो इन विकारोसे निराला है। जिसे पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यने खुलासा करके बताया है कि नाना प्रकारका जो यह औदयिक भाव है, उदयविकारके जितने भी भाव है वे भाव मेरे नही है, मैं तो एक ज्ञानस्वभावी हूँ। तो व्यवहारनयके प्रयोगसे भी उसका उपयोग स्वभावदृष्टिके अर्थ लगाया जायगा तो यह लगेगा और इसीलिए समयसारमें स्थल स्थलपर कही निश्चयनयके परिचयसे स्वभावदृष्टि कराया तो कही व्यवहारनयके माध्यमसे बोध करा कर स्वभावदृष्टि कराया। नयका उपयोग करनेकी कला चाहिए। हम स्वभावदृष्टि प्राप्त करें ऐसा हमारा दृढ सकल्प चाहिए, फिर हम किसी भी वचनप्रयोगसे अपने आपके लक्ष्यमे उतर सकते हैं। समयसारका दर्शन तो पक्षसे रहित होनेपर होता है, जिसे कहते हैं अनुभव। व्यवहारनयसे समझा, उससे सार क्या निकला? यह ही स्वभावदर्शन। निश्चयनयसे समझा तो वहाँ सार निकला यही स्वभावदर्शन। विधि जुदी-जुदी है, पर प्रयोजन सब नयोका यह बनावें कि मुझे विभावो से हटकर स्वभावमे आना है। जब तक व्यवहारनयका भी विकल्प है और निश्चयनयका भी

समझते है कि हमको तो यहां जरासी देर रुकना है, वह थोडी देरको स्टेशनपर उतरता भी है और समयके भीतर फिर गाडीपर सवार हो जाना है स्टेशनोंकी शोभा भी देखता है, मगर किसी जगहकी बडी शोभा देखकर वह उतर तो नही जाता। भले ही प्रयोजनवश वह देखता है, लेकिन अपने लक्ष्यकी धुन उसे बराबर बनी हुई है। ठीक इसी तरह हमे कहाँ जाना है ? बस इस निर्विकल्प शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावमे इसे तरह जाना है कि पर्याय स्वभावके अनुरूप हो जाय। स्वभावके समान पर्याय हो इसीके मायने मोक्ष है। हमे उस तत्त्व तक जाना है तो उस यात्रामे जाते हुए बीचमे अनेक स्टेशन मिलते है, कुछ ऐसा है कि जिसमे कुछ प्रयोजन भी है—जैसे अन्याय न करना, अभक्ष्य भक्षण न करना, कुछ सयमसे रहना। ये बीचमे आते है, उन्हे प्रयोजनवश करना पडता है, लेकिन वह जानता है कि करें तो सही लेकिन यही न अटक जायें। तो अपनी इस ज्ञानयात्रामे विघ्न न आये, प्रयोजनवश सब करना पडता है, और इसके बिना आगे बढ नही पाता। जैसे कोई भूखे रहते हुए तो नही बम्बई जाता, वह तो रास्तेमे कुछ नाश्ता पानी करता है, खाता है और इस तरहसे वह अपने लक्ष्य पर पहुच जाता है। तो ऐसे ही यहाँ हम आपको अपनी जीवनयात्रामे प्रयोजनवश करना पडता है सब कुछ, पर अपनी दृष्टि रहे मूल लक्ष्यपर।

(६७) **ज्ञानद्वारा ज्ञानके ज्ञान करनेके पौरुषमें निर्विघ्नताका अवसर**— देखिये— अन्तस्तत्त्वविषयक ज्ञान करें, अपना लक्ष्य करें तो इसमे विघ्न डालने वाला कोई नही है। जैसे एक एक्सरा यंत्र होता है, वह शरीरमे पाये जाने वाले चाम, खून, मांस-मज्जा आदि किसी चीजमे न अटककर मात्र हड्डीका फोटो ले लेता है, कोई भी चीज आड़े नही पडती, ठीक इसी प्रकारसे हमारा यह ज्ञानरूपी यत्र अगर अपने ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यमे चले तो बीच मे कितनी ही चीजें मिलती हैं, मगर अटकता कही नही। शरीर है तो वहां अटकेगा क्या ? नही। कषायें हैं वहां अटकेगा ? नही। इच्छायें हैं, विकल्प है, विचार है, वहां अटकेगा नही। कुछ भी परिणमन हो वहां न अटकेगा। वह उन सबको पार करके अन्त. ज्ञायकस्व-भावके दर्शन करेगा। यहां भी देखो—जरा किसीका ख्याल करते हो तो रास्तेमे कितने ही मकान मिलते, भीत मिलती, पहाड मिलते, जंगल मिलते, लेकिन वह ज्ञान कही अटकता तो नही है। व्याकरण जानने वाले लोग जानते है कि जो धातु जानेका अर्थ बताती है वही धातु जाननेका भी अर्थ बताती है। तो ज्ञानको समझनेके लिए उसमे कही जानेकी, विहारकी आव-श्यकता नही होती है, फिर भी जानेका व्यवहार होता है। जिसको हम व्यापक समझते हैं। यह ज्ञान बडा व्यापक है, कैसे व्यापक है कि अपने ही प्रदेशमे रहते हुए लोकालोक व्यापक बन जाता है। कैसा विरोधाभास है ? कैसे लोकाकाशमें फैल जाता और कैसे अपने प्रदेशमे रहता ? ये दोनों एक साथ कैसे हो रहे हैं ? हो रहे है। वह व्यापकपना इसी ढगका है कि

अपने आपके प्रदेशोमे रहते हुए ज्ञान सर्व व्यापक बन रहा है। समस्त लोक ज्ञेय हो रहा। ठीक है, इसी प्रयोजनका होना ही चाहिये, क्योकि दुनियामे जितने पदार्थ हैं उन सबसे सूक्ष्म तत्त्व है ज्ञान। इसलिए इसमे यह हो गया तो कुछ आश्चर्यकी बात नही है।

(६८) **ज्ञानकी सूक्ष्मता और सर्वव्यापकता**—ज्ञानकी व्यापकता समझनेके लिये एक प्रश्न रखते कि बताओ स्थूल अधिक व्यापक होता है कि सूक्ष्म अधिक व्यापक होता है? तो साधारणतया लोग यह बैठेंगे कि देखो—स्थूलमे सूक्ष्म समा जायगा, इसलिए स्थूल अधिक व्यापक हुआ। लेकिन बात ऐसी नही है। सूक्ष्ममे स्थूल समा जाता है। इसे समझनेके लिए व्यावहारिक उदाहरण ले लो—यह मध्यलोककी दुनिया, यह पृथ्वी पानीसे घिरी हुई है ना? हाँ घिरी हुई है यह तो सभी लोग जानते हैं। अब बताओ पानी पतला है कि पृथ्वी? पानी पतला है। तो पानी व्यापक है, पृथ्वी व्यापक नही। जैनसिद्धान्तके अनुसार भी देख लो—मध्यलोककी पृथ्वी जम्बू द्वीप एक लाख योजनका है और उसे घेर कर जो लवण समुद्र है वह एक तरफ दूना फिर दूसरी तरफ दूना और फिर घेरा कितना बडा हो गया? उस समुद्रके बाद दूसरा द्वीप दूना है, फिर उससे दूना समुद्र है। इस तरह द्वीप और समुद्र और और भी आगे बढते गए, आखिरमे सबसे अन्तमे है स्वयभूरमण समुद्र। स्वयभूरमण समुद्रका जितना विस्तार है उतना विस्तार सब द्वीप समुद्रोको मिलाकर भी नही है। तो देखो पृथ्वीसे जल सूक्ष्म है। वह व्यापक है। और जल और हवामे व्यापक कौन है? जलसे हवा सूक्ष्म है तो जलसे भी व्यापक हवा है। हवासे सूक्ष्म है आकाश। इस आकाशके अन्दर यह सारी हवा भरी है। अब बताओ इस आकाशसे भी बढकर और कोई व्यापक चीज है कि नही? है। क्या? ज्ञान। यह ज्ञान इतना व्यापक है कि इसमे चाहे कितने ही ऐसे ऐसे लोक समा जायें फिर भी कम हैं। देख लो इस ज्ञानकी सूक्ष्मता। तो सूक्ष्ममे स्थूल समा जाता है अतः स्थूलसे सूक्ष्म अधिक व्यापक है। इस ज्ञानकी बडी महत्ता है। ज्ञान ही एक सारभूत तत्त्व है, लेकिन उसका उपयोग नही करते। उपयोग करते हैं रागद्वेष मोहका, विकल्पोका। सब खारा खारा ही स्वाद लेते हैं, अपने आपके ज्ञानामृतका पान नही करते।

(६९) **सुविधाकी दशामे भी चूक**—देखो भैया! कैसी दयनीय दशा बन रही है कि अपना परमात्मस्वरूप अपने अन्त विराजमान है, जिसके प्रसादसे अनन्तकालके लिए संकट छूट सकेंगे, उसके लिए तो अपना जीवन नही मानते और जीवन मानते हैं विषके लिए, मैलके लिए, धनके लिए। सब कुछ अपना न्योछावर करनेको तैयार हैं परिजनोके लिए। अभी घरका कोई बालक बीमार हो जाय तो चाहे घरका सब जायदाद खतम करके कर्ज भी लेना पडे उसके पीछे लगानेको तैयार रहते हैं। तो लोगोने अपना जीवन किसके लिए माना? मोह ममताके लिए, धन वैभव कमानेके लिए, तो भला बतलाओ इससे बढकर भूल

और क्या है ? सबसे बडी भूल यही है । इससे बढकर भूल और क्या कहे ? किसी मनुष्यके आगे एक ओर खलका टुकडा रख दिया जाय और एक ओर हीरा जवाहरात रख दिया जाय और कहा जाय कि भाई तुम इन दोनो चीजोमे से तुम्हे जो चीज पसद हो वह उठा लो । अगर वह खलका टुकडा उठाता है तो क्या उसे आप विवेकी कहेगे ? अरे उसे तो आप पागल कहेगे । तो इसी तरह समझिये कि यहाँ मेरे सामने दो चीजें है विष और अमृत, विभाव और स्वभाव । यहाँ मानो कोई यह कहे कि भाई तुम क्या लेना चाहते हो ? इनमे से तुम्हे जो चीज पसद हो सो उठा लो और यह परमात्मा कह रहा है कि देख ! केवल तेरी दृष्टिमात्रसे तुझे वह चीज मिल जायगी । विष लेना चाहे तो विष मिल जायगी और अमृत लेना चाहे तो अमृत मिल जायगा । और अगर वह यह कहे कि भाई मुझे तो विष लेना है तो बताओ उसकी मूर्खतापर हसी आयगी कि नही ? और हँसी भी किसे आयगी ? ज्ञानीको । अज्ञानी जन चाहे थोडा ठीक भी समझ लें पर ज्ञानीजन तो उनकी इस तरहकी प्रवृत्ति देखकर हँसेंगे ही । ज्ञानी जन अपने आपका भी पछतावा करते और ससारके अज्ञानी जीवोको देखकर भी पछतावा कर रहे कि देखो ये अज्ञानी प्राणी कैसा अपने उपयोगसे चिगकर बाह्यमे उपयोग लगाकर हैरान हो रहे है ? उन अज्ञानी जनोको तो इसका कुछ पता ही नही है । उन्हे तो पछतावा करने तककी भी बुद्धि नही है । ऐसी एक बात कही गई है अलकारमें कि ज्ञानीजन बडा पछतावा करते हैं । ज्ञानीजन कभी दु.खी नही होते । वे तो बडे कष्टोके बीच रहकर भी अपनेको दु.खी नही मानते ।

(१००) **अलख निरञ्जन आत्मदेवका प्रसाद**—ज्ञानी जानते है कि मैं आत्मा एक अलख निरञ्जन हू । यह आत्मा अलख है अर्थात् इन्द्रिय द्वारा देखनेमे नही आता और निर-ञ्जन है, अर्थात् उसमे किसी प्रकारका अंजन नही है किसी परपदार्थका लगाव नही है । जैसे गरम पानी रखा हुआ है और आपसे पूछें कि बताओ इस जलका स्वभाव ठडा है कि गरम तो आप भले ही कहे गरम, पर उस जलका स्वभाव गरम नही है । स्वभाव तो उसका ठडा है । आप कहेगे कि अच्छा दिखाओ कहाँ ठंडा है ? तो उसे यो आँखोसे नही दिखाया जा सकता । उसे तो ज्ञानद्वारा ही समझाया जा सकता है । अथवा एक और उदाहरण ले लो—जैसे कहा गया कि देखो यह दो सेर दूध है, बताओ इसमे कितना घी है ? तो किसी पारखी ने बता दिया कि इसमे तो २ छटांक घी है । अब कोई कहे कि अच्छा दिखाओ तो उसे यो नही दिखाया जा सकता । अब दूधको मथकर घी निकालनेकी जो विधि है उस विधिसे चलें तो घी निकले । तो इसी प्रकारसे समझ लो कि मेरे अन्दर वह परमात्मतत्त्व विराजमान है । उसे कोई कहे कि दिखाओ—तो वह यो नही दिखाया जा सकता । उसके देखनेकी जो

विधि बनायी गई है उस विधिसे चलेंगे तो वह परमात्मतत्त्व दिखाई देगा। अब पहे तो हुए हैं अज्ञानमय विषकी ओर और देखना चाहे परमात्मतत्त्व, तो वह कैसे दिखेगा ? उस परमात्मतत्त्वको देखनेकी जो विधि बताई गई है ज्ञानाभ्यास करना, तत्त्वाभ्यास करना उस विधि से चलेंगे तो उस परमात्मतत्त्वके दर्शन हो सकते हैं। देखो जो जिस धर्म (मजहब) मे पैदा हो गया वह उसके ही गुण गाता है। ईसाई कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। जैनी कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। मुसलमान कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। यों जो जिस मजहबमे पैदा हो गया वह उसकी प्रशसा करता है। यह तो एक मनुष्योकी आदत है। इससे अनेक लोग इस उलझनमे पड जाते कि देखो सभी मजहब अपनी अपनी गाते हैं तथ्य क्या है, किस धर्मपर चलें ? कुछ समझमे नही आता। तो भाई अगर अपनी यह उलझन मिटाना है तो इस ख्यालको छोड दो कि हम किस मजहबमे पैदा हुए और वहा क्या बताया गया। आप तो गुप्त ही गुप्त अपने अन्त. विराजमान परमात्मतत्त्वके दर्शन कर लो और अपना कल्याण कर लो।

(१०१) वर्तमान परिणतिका चिन्तन—अपने आपके प्रति अपनेपर हो दया करके अपनी भलाईके लिए यह सोचें कि हम वर्तमानमे बुरी अवस्था वाले हैं या बहुत ठीक अवस्था वाले है थोडा बहुत विवेकसे विचार करनेपर मालूम होगा कि हमारी वर्तमान अवस्था भली नही है। मनुष्य हो गए, इतनी बात तो भली पा ली है, लेकिन रात दिन निरन्तर शल्य, चिन्ता, विपत्ति, मोह, विकल्प, अनेक प्रकारके भार और सबसे बडी भारी बात गलतीकी तो यह है कि उल्टा ज्ञान कर रहे हैं। तो वर्तमान स्थिति हमारी भली नही है। मौज, आराम और विश्राम मानने जैसी स्थिति नही है। जैसे कि लोग थोडासा सुख पाकर, थोडीसी कुछ सुविधा पाकर अपनेको समझते कि हम बहुत मौजमे हैं, बहुत आराम वाली स्थितिमे हैं। इस संसारमे आराम कहाँ है ? जहा राजा भी मरकर कीडा बन सकता, कुत्ता भी मरकर देव बन सकता, बहुत ऊँचे बढकर नीचे दुर्गतिकी बात हो सकती ऐसे इस ससार मे भलाईकी क्या बात है ? तो वर्तमान परिस्थितिको देखो और उसमे सन्तोष न करो, मौज न मानो। भीतरमे यह विचारो कि जो मेरी बुराइयां है वे कैसे दूर हो और कैसे हम उस सत्य आनंदको पा सकें जो मेरा स्वभाव है, जिसे अरहन्तोने प्राप्त किया। इन सब बातोपर सक्षेपसे विचारें तो मानना होगा कि मेरे विरोधका बैरी, बिगाड करने वाले, ६ शत्रु हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाहरमे मेरा कोई दुश्मन नही, कोई अनिष्ट नही, कोई शत्रु नही। जीव हैं, उनकी जैसी भावना है जो परिणाम है वह अपनी भावनाके अनुसार अपनी परिणति बनाता है, उनकी परिणति उनके साथ है। उनकी परिणतिसे मेरा कुछ भी

बिगाड नही होता। मेरेमें ही दुर्भाव हो तो मेरा बिगाड होता है। यदि वे अपने आपमे दुर्भावना बनाये हैं तो उससे मेरा बिगाड नही है। ऐसा वह दुर्भाव क्या है जिससे मेरी बरबादी हो रही है ? वे हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(१०२) **जीवका प्रथम बैरी मोह**—जीवका प्रमुख बैरी है मोह। मोहका अर्थ है बेहोश हो जाना। जरा ध्यानसे सुनो तो एक दिशा मिलेगो। मोह किसे कहते हैं ? मोहका वास्तविक अर्थ क्या है—बेहोश होना। जैसे किसी मनुष्यने शराब पी ली हो तो उसे कहते है कि यह बेहोश हो गया। कैसे समझा कि बेहोश हो गया ? सही ज्ञान नही कर पा रहे। है कुछ, जानते हैं कुछ बोलते हैं कुछ, तो यही तो बेहोशी कहलाती है। तो अपने आपमे भी देखो कि है तो स्वरूप कुछ, मानते कुछ हैं तो इसीको बेहोशी कहते हैं, इसीका नाम मिथ्यात्व है इसीका नाम मोह है। जब तक मोह रहेगा, मिथ्यात्व रहेगा, बेहोशी रहेगी तब तक जीवका कल्याण नही हो सकता। प्रभु क्या है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की मूर्ति है। यह रत्नत्रयका पूर्ण विकास उन्हें कैसे प्राप्त हुआ ? सबसे पहिले उन्होने भ्रम को दूर किया। मोहको मिटाया और बेहोशी दूर हुई। देखिये इस प्रसगमें मोह शब्दका मतलब प्रेम मत समझो। मोहका अर्थ प्रेम नही है। किन्तु बेहोशी है। बात कुछ है जानते और कुछ हैं, ज्ञान हो रहा है उल्टा, इसे कहते है मोह। यह शरीर भिन्न चीज है, मैं आत्मा अपना सत्त्व रखने वाला, अपने ही प्रदेशोमे रहने वाला सबसे निराला पदार्थ हूं भिन्न भिन्न दो वस्तु हैं लेकिन देहको निरख कर मानना कि यह ही मैं हू, इसीसे मेरा जीवन है, इसीसे मेरी सत्ता है, देह न रहेगा तो मेरी सत्ता भी न रहेगी। ऐसा मोह बना रखा है, बेहोशी कर रखी है। होता क्या है कि बात कुछ है जानते कुछ हैं। शरीर भिन्न है, निराला है और मान रहे कि यह ही मैं हू, उससे अभेद समझ रहे है तो इसीको कहते है मोह और भी देखिये। बाह्य पदार्थ अणुमात्र भी मेरे नही है लेकिन मान रहे है कि यह सारा वैभव मेरा, घर मेरा, सम्पत्ति मेरी, तो है तो बात कुछ और मान रहे हैं कुछ. इसीके माने है बेहोशी, इसीको कहते हैं मोह। यही कहलाता है मिथ्यात्व। अब विचार करें तो ऐसा मोह, मिथ्यात्व कैसे दूर होता है ? अज्ञानसे मोह हो तो अज्ञान मिटावो तो मोह मिट जायगा। अज्ञान मिटने पर क्या प्रकाश मिलता है कि जगतमे जितने भी पदार्थ है वे सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ता लिए हुए है। किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ न कर्ता है, न भोक्ता है, न स्वामी है। प्रत्येक पदार्थ वे अपने आपके स्वामी हैं, अधिकारी हैं अपने आपके ही करने वाले हैं, भोगने वाले हैं। एक वस्तु दूसरे पदार्थका स्वामी नही, यह बात जब स्पष्ट दृष्टिमे आ जाय तो उसके मोह नही रहता। संसारमे जितने भी क्लेश हैं सब मोह मूलक

है। देखिये जब उल्टा ज्ञान चलता है तो सोचेंगे कोई लोग कि ज्ञान उल्टा कर रहे तो दुःख क्यों होता, पर स्वभाव ही यह है अगर विपरीत ज्ञान है तो नियमसे क्लेश है। देहको ही मान रहे कि यह मैं हू, बस इस बुद्धिमे स्वभावतः क्लेश है। यह पर्याय जो मनुष्यभवमे पाया है, यह सदा रहने वाली नही है, लेकिन लोग विश्वास लिए हुए हैं कि सदा रहेगा, बस इस गल्तीके कारण क्लेश तो होगा ही। क्लेश तब होता है कि वस्तु हो और प्रकार और जानते, मानते हो और प्रकार, तो वहां नियमसे क्लेश होता है। इन सब गल्तियोका नाम मोह है, बेहोशी है, मिथ्यात्व है।

(१०३) **मोहविनाशका अपूर्व लाभ**—मोहका जहाँ विनाश होता है वहाँ ऐसा प्रकाश रहता है कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप इस देहसे भी निराला हू। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, कर्मो से निराला, विषय कषाय, इच्छा, तरग विचार जो कुछ भी मेरेमे चचलतायें हैं, जो कुछ भी अस्थिरभाव है उन सबसे निराला मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। यह प्रकाश होता है सम्यक्त्वमे, सम्यग्ज्ञानमे। तो मोह मिटे तो इस जीवकी बरबादी दूर हो सकती है। अन्यथा जन्म-मरणके संकट बराबर इसके रहे आयेंगे। एक बात देख भी लीजिए—हम आपपर अगर कोई वास्तवमे संकट है तो जन्ममरणका। यह बहुत बडी विपत्ति है हम आपपर। कुछ सोच करना चाहिए, कुछ विचार करना चाहिए कि जन्म मरण मेरे कैसे दूर हो। जन्म मरण कैसे दूर हो? बहुत बढिया उपाय समाधितन्त्रमे बताया है कि जन्म मरणका यह अर्थ है कि देहका मिलना सो जन्म और देहका दूर होना सो मरण। जो इस देहमे आत्मबुद्धि करता है, यह देह ही मैं हू ऐसा अनुभव करता है उसे देह मिलते रहेंगे। इसीके मायने है कि जन्म होते रहेगे और जो अपने देहसे निराले ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वका अनुभव करता है—यह हूँ मैं ज्ञानप्रकाश मात्र, देह मैं नही, देहसे उपेक्षा होगी, देहको आपा न मानेगा तो यह बोझा न रहेगा, इसके माने है कि जन्म मरण मिट जायगा। यह सब करनेके लिए हमको बडा सयत होनेकी आवश्यकता है, और वह केन्द्रित और सयतपना अपने आपके ज्ञानमे चाहिये। तो यह मोह इस जीवका बहुत वडा दुश्मन है। बेहोशी होना, सच न जान सकना, झूठा ही ख्याल बनाना, ये इस जीव की बरबादीके कारण बन रहे हैं।

(१०४) **मोहकी कठोर प्रेरणा**—मोह, विभ्रमको एक दृष्टान्तसे समझिये—एक गाँव में गाँवके अन्तमे एक बढईका घर था। (यह घटना सच है जो बतला रहे है) तो मुसाफिर जब उस गांवमे जाय तो पहिले उस बढईका ही घर मिलता था। उससे ही पूछें कि भैया अमुक गांवका रास्ता कौन है? तो वह बढई उल्टा रास्ता बता देता था। जैसे रास्ता हो तो पूरबका और बता देता था पश्चिमका। और साथमे यह भी बता देता था कि देखो इप

गांवमें तुम आगे जावोगे तो गांवके सब लोग मस्खरे हैं। तुम जिससे रास्ता पूछोगे वह उल्टा ही बतायगा। तो देखो—एक तो जाना उसने उल्टा और इसपर भी यह जाना कि और लोग उल्टा ही बतावेंगे। तो आगे जाकर और लोगोंसे पूछता है—भाई अमुक गांवका रास्ता कौन सा है ? तो वे लोग जो सही रास्ता था, मानो पूरबकी ओरका सही रास्ता था तो पूरबकी ओरका ही बताते थे। उस मुसाफिरने समझ लिया कि वास्तवमे बढई ठीक ही कह रहा था कि इस गांवके लोग सब मस्खरे हैं, उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। आखिर वह उल्टा रास्ता चलनेसे हैरान ही हुआ। तो ऐसे ही समझिये कि इस मोहमे होता क्या है कि यह जीव उल्टा ज्ञान करता है और उसपर भी समझता है कि मैं बिल्कुल सही जान रहा हूं, मैं बडा चतुर हूं, ठीक हू, मोहकी यह दशा है। तो यह जीव इस मोहसे बरबाद हुआ। चाहिये यह कि मोह न करें। मोह मेटनेमे एक थोडी यह दृष्टि लगायें कि मैं जो हू भीतर तो आखिर हूं किस प्रकारका ? हू तो मैं जरूर। जैसे बाहरमे ये चीजें हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक अनेक प्रकारकी है, ऐसे ही भीतरमे मै हू, जिसमे होनेका प्रत्यय होता है। वह हूं क्या मैं रूप रंग वाला ? अगर रूप रंग वाला होऊँ तो उसमे ज्ञानकी बात नही आ सकती। वह है केवल एक ज्ञान ज्ञानमात्र। कैसा विलक्षण पदार्थ हू मैं कि केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और प्रदेश उसके बन गये हैं, उसकी अवगाहना भी हो गयी है। है केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप तो अपनेको केवलज्ञान स्वरूप निहार लेना, समझ लेना, विचारना, चिन्तन करना इस ही मे वे सब कलायें आ जाती हैं जो कलायें हमको मोक्षमार्गके लिए चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हू, मेरा ज्ञानस्वरूप ही है, और कुछ नही है। मैं केवल ज्ञानको ही करता हू, अन्य कुछ नही करता। मैं केवल ज्ञानको ही भोगता हूँ, अन्य कुछ नही भोगता। ये चार निर्णय उसके यथार्थ हो जाते है। मैं क्या हू, मेरा क्या है, मैं क्या करता हू और मैं क्या भोगता हू ? यह ज्ञानप्रकाश जब जीवको नही होता तो मोह रहता है, मिथ्यात्व रहता है। तो बरबादीका मूल कारण है मोह। इसीको भ्रम भी बोलते हैं। जीवके ६ दुश्मन हैं—इसका तो बाहरमे कोई दुश्मन नही। यह बात चल रही है। लोग कभी कभी मानते है कि यह भाई मेरे बैरी हैं, विरोधी हैं, प्रतिकूल हैं, पर कोई मेरे प्रतिकूल नही, कोई मेरा बैरी विरोधी नही। उन भाइयोके चित्तमे स्वयं जिस तरह शान्ति मिल सकती है उस तरह वे अपनी चेष्टा करते है, उसके प्रतिकूल कुछ नही कर रहे, किन्तु उनको जेसा कहनेमे, जैसा चलनेमे, जैसा सोचनेमे वे शान्ति पा सकते है वैसा करते है। उनकी ऐसी दृष्टि है कि इस तरह मन, वचन, कायकी चेष्टा करनेमे मेरेको शान्ति साता सुख मिलेगा, उसके अनुसार वे अपनी प्रवृत्ति करते हैं। वे किसीकी प्रतिकूलताके कारण नही करते। वास्तविकता यह है। तो जगतमे जितने भी मनुष्य

हैं वे है, उनका उदय है, उनकी इच्छा है। अपनी इच्छाके अनुसार वे अपनी परिणति बनाते हैं, अपनी शान्तिके लिए बनाते हैं, मेरे कोई प्रतिकूल नहीं। मेरा कोई भी जीव विरोधी नही हैं। यह दिखता है ज्ञानी पुरुषको। तो पहिली बात मोह दूर करनेकी बतायी।

(१०५) **जीवका द्वितीय बैरी काम**—दूसरी गल्ती है काम। कामका अर्थ है भीतरमे स्त्री पुरुष सम्बंध विषयक जो भावना रहती है, विकार रहता है उसे कहते हैं काम। देखो अगर देहमे बुखार हो गया तो तकलीफ होती है, ठीक है, विकार है, तकलीफ है, खांसी है, तकलीफ है, फोडा-फुंसी है, तकलीफ है, मगर कामके विचारमे इस देहको क्या तकलीफ है जो यह इतने कष्ट मानता है। इतनी तकलीफ मानता है कि उस कामके लिए भोजनपान भी छोड देता है। जैसे पुराण पुरुषोमें कितने ही उदाहरण ऐसे आये कि अमुकने अमुकका चित्र-पट देखा तो वह कामविह्वल हो गया, उसने अपने मनमे उससे मिलना ठान लिया, खाना पीना भी छोड दिया। तो इस काममें ऐसी विकट तकलीफ है, पर कौनसा ऐसा बडा कष्ट शरीरपर आया जिससे वहाँ कष्ट माना जा रहा? अरे कोई कष्ट नही है, मगर उसके मनमे कुबुद्धि उत्पन्न हुई, मनमे विकार भाव आया, विकृत परिणाम आया कि इस तरहसे मेरेको शान्ति मिलेगी बस तकलीफमे पड गया। तो दूसरी गल्ती है जीवमे काम विषयक। जब बडे लोग होते थे, राजा लोग, जिनके पास बहुत बडा साम्राज्य होता था, उनके पास तकलीफ की कोई बात न थी। सब प्रकारके साधन थे। उनकी हुकूमत चलती थी। तो ऐसे उन राजाओंके और उन राजपुत्रोंके कामविषयक वासनाओका बहुत बडा कलह मचा रहता था। तो यह काम भी इस जीवका बैरी है।

(१०६) **जीवका तृतीय बैरी क्रोध**—जीवका तीसरा बैरी है क्रोध। इस क्रोधको तो कवि जनोने चाण्डाल बताया है। उसके लिए एक कविता टूटे-फूटे शब्दोमें आयी है, वह कविता यद्यपि अशुद्ध है, पर इसी तरहसे चली आयी है। कहते है कि "पक्षीना काक चा-ण्डाल, पशू चाण्डाल गर्दभः। मुनीनां कोप चाण्डालः, सर्व चाण्डाल निन्दकः।" याने पक्षियो मे चाण्डाल कौवाको बताया है। पशुओमे चाण्डाल गधेको बताया है। गधेको पहिले बहुत खराब माना जाता था। उसको कोई लोग नही छूते थे। वह खोटी जगहोमे रहता था इस-लिए उसे चाण्डाल कहा जाता था। मुनियोंमें चाण्डाल बताया है क्रोधको और सबसे अधिक चाण्डाल बताया है निन्दकको याने दूसरोकी निन्दा करने वालेको। जरा इन बातोपर दृष्टि दें— हम अपने परिणामको अगर देवदर्शनमे ही लगाये रहे। केवल परकी निन्दा निन्दामे ही अपना समय गुजरता हो, जिसे कहते है गप्प। हम किसीकी निन्दा करें तो निन्दा करनेकी प्रकृति करनी पडी तो इतना तो तुरन्त निश्चित है कि हमारी दोषोपर दृष्टि है, और जिस

उपयोगकी दृष्टि दोषपर है वह उपयोग दोषमय हो गया है। मेरेको दोषसे कोई स्पर्श नही करना है। दोषसे मेरेको किमी भी प्रकारका सम्बंध न बने। मेरेको दिखे तो गुण दिखे। जीव मे क्या गुण नही है, जीव भगवत् स्वरूप है, उसमे वह ही गुण है जो प्रभुमे गुण है और व्यवहार दृष्टिसे प्रत्येक जीवमे गुण कुछ न कुछ अवश्य होते है। अब उनमेंसे गुणोपर दृष्टि न जाय और केवल एक दोषपर ही दृष्टि हो तो उस अवस्थासे इस दृष्टिसे मिलता कुछ नही है, बल्कि उपयोगमे दोष आया है, इसी प्रकार जब क्रोध आता हो तो इस क्रोधसे कोई लाभ नही मिल पाता, किन्तु सारे प्रदेश बेचैन हो जाते है। तो तीसरी गल्ती है जीवकी क्रोध। यह क्रोध कषाय इस जीवके सारे गुणोको फूंक देता है। सारे गुण हों किसीमे और क्रोध करता हो तो उसमे सुन्दरता भी नष्ट हो जाती है। कोई पुरुष अथवा महिला देखनेमे बहुत ही सुन्दर हो, रूपवान हो और उसकी क्रोध करनेकी आदत हो, मुख चढा रहे, आँखें चढी रहे तो उसमे आप सुन्दरताके दर्शन नही पा सकते। तो क्रोध एक ऐसी बुरी भावना है कि जिससे सारे गुण फुक जाते है। तो तीसरा दुश्मन है क्रोध।

(१०७) **जीवका चतुर्थ बैरी मान**—चौथा दुश्मन है मान। मान कहते है घमंडको, मैं हूँ, देखो जब पर्यायबुद्धि हो तब ही तो अहंकार होता है। भीतरमे अगर यह दृष्टि हो कि मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप हू, मेरेको तो कोई यहाँ जानने वाला भी नही है। जो लोग जानते हैं वे इस देहको जानते है, वे इस पर्यायको जानते है, इस ही सकलको जानते है। पर मैं तो सकलसे रहित केवल ज्ञानादर्शनमात्र हू इस प्रकार अपनेको ज्ञानप्रकाशमात्र जब मान पाता है और जो प्रकाश पाया है उसमे ही अहंका अनुभव करता है तो वहाँ घमड दूर हो जाता है। तो इस तरह पर्याय बुद्धि जो जीवोमे चलती है वह तब तक है जब तक कि वस्तुकी सत्ताका सही ज्ञान न हो। जहाँ वस्तुके सत्वका सही बोध हो गया, मैं एक ज्ञानमात्र अपने ही प्रदेशोमे रहने वाला, अपने आपमे ही परिणमने वाला, अपने आपकी पर्यायमे जाता रहने वाला हू, इसके आगे मेरा कही अधिकार नही है, बाहरी पदार्थ जितने भी है वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं, वे अपनेमे ही उत्पाद व्यय करते है, दूसरा अधिकारी नही है, जहाँ यह बोध हुआ कि यह देह परमाणुओका पुञ्ज है, इसका परिणमन इसमे है, इससे मेरेमे कुछ नहीं आता, मेरा इस मे कुछ नही जाता। भले ही आज सम्बध है और उस सम्बध निमित्तमे हम परेशान भी हो जाते है, लेकिन यहाँ प्रयोजनको तकना होगा। आत्माकी पर्याय आत्मामे हो रही है, देहकी परिणति देहमे हो रही है। देहकी परिणति मुझ आत्मामे नही, मेरी परिणति देहमे नही, ऐसे स्वतत्र अस्तित्वका जहाँ भान होता है वहाँ पर्यायबुद्धि छूटती है, पर ऐसा भान करनेके लिए हमको चाहिए तत्त्वाभ्यास व वस्तुस्वरूपकी चर्चा। और ऐसे ही अभ्यासके प्रेमी दो-चार लोगो

का संग भी चाहिये कि जो समय समयपर चेत आये, समय-समयपर पर्यायबुद्धिसे दूर होनेकी प्रेरणा दे तो ऐसा वातावरण, ऐसा हमारा अभ्यास, ऐसा हमारा संस्कार, सत्संग ये सब हमारी पर्यायबुद्धिको दूर करनेमे समर्थ हो सकते हैं। तो पर्यायबुद्धि जहाँ है वहाँ मान कषाय भी है।

(१०८) **जीवका पञ्चम बैरी कपट**—माया कषाय क्या ? छल कपट। छल कपट का अर्थ है– वस्तुकी प्राप्तिकी इतनी उत्सुकता होती है कि न्याय अन्याय कुछ न गिनकर धन वैभव इज्जत पोजीशनकी प्राप्ति करनेकी भावना बनी रहती है सो किसी भी परभावके सम्बन्धमे मायाचारकी बात लगाना। जैसे कभी बडप्पन भी चाहा हो तो उस बडप्पनको कायम रखनेके लिए अनेक प्रकारके मायाचार करने पडते, यश बनानेके लिए भी मायाचार करते है। मायाचारका अर्थ है—मनमे कुछ है, वचनमे कुछ है और शरीरसे चेष्टा कुछ और करते है। यही एक मायाचारकी मुद्रा है, लेकिन ज्ञानी पुरुष जिन्होंने यह जाना है कि मेरा काम तो केवल ज्ञानदर्शनकी सिद्धि करना है, मैं ज्ञानमात्र हू यही मेरे ज्ञानमे रहे और उस ज्ञानके अनुकूल ही मेरा वर्ताव हो, ज्ञाता दृष्टा रहू, बेहोशी न रहे, ऐसी ही भावना और उत्सुकता ज्ञानी पुरुषकी होती है। उसमे मायाचार नही होता। मायाचार एक ऐसी वस्तु है, ऐसा परभाव है कि यह चाहता है छुपाना लेकिन यह मायाचार छुपानेसे छुपता नही है। भले ही कुछ समयके लिए मायाचारसे अपनी बातको छुपा लें, लेकिन बहुत समय तक यह बात नही चलती। संगमे प्रसंगमे, संसर्गमे रहने वाले लोग ताड जाते हैं कि इसका तो यह मायाचार है। यह तो एक छल कपटकी बात है। तो जो छलकपट हमे तुरन्त भी दुःखी करे, भविष्यमे भी दु.खी करे, लोगोंसे भी जिसके कारण चित्त हट जाय, ऐसे छल कपटसे लाभ क्या है ? तो जीवके बैरियोमे एक बैरी है छल कपट।

(१०९) **जीवका छठा बैरी लोभ**—छठवाँ बैरी है लोभ। लोभ कहते हैं—बाह्य वस्तुओसे इतनी ममता होना कि उनके बिना अपना जीवन न समझ सकना और कभी किसी प्रसंगमे योग्य कार्यमे, दीन दुखियोके उपकारकी कोई घटना सामने हो तब तक भी उसके त्यागकी बुद्धि नहीं आना। इसे कहते हैं लोभ कषाय। यो तो लोभकषायका रंग १० वें गुणस्थान तक रहता है। करणानुयोगमे बताया है कि द्वेष पहिले मिटता है और राग बादमे मिटता है। द्वेष तो मिटता है ९वें गुणस्थानमें और राग मिटता है १० वें गुणस्थानमे। इससे समझिये कि रागका रंग जीवमे ऐसा गहरा होता है, न जाने किस रूपमे उमड जाय। यशका राग बनाना, सम्पदाका राग बनाना। जिस किसीका भी राज हुआ बस वह एक विपत्ति है। तो इस जीवके ये ६ बैरी हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(११०) **सम्यक् ज्ञानसे अहिंसाका मेल**—देखिये—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा जान लो—इसमे आपको क्या कष्ट आया ? और वैसा जानना ही पडेगा, वैसा जानकर रहेगा ही जब कि एक सही बुद्धि रहेगी। कल्याणकी भावना यदि होगी तो नियमसे पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होना ही पडेगा सो ज्ञानमे बस यह श्रद्धा बनावें कि जगतके सब जीव स्वतत्र है। यहाँ जिन-जिनका सम्बन्ध हुआ है वे सब जीव अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं। उनके भाग्यसे काम होता है जिस जिसके उपभोगमे सम्पदा आती है उन-उन सबका पुण्य ही उस कमाईका कारण होता है। मैं धन नही कमा सकता। मैं बाह्यवस्तुको कमानेका अधिकारी नही। वे तो पुण्यके उदयमे प्राप्त हो जाते है। जिसका जैसा पुण्यका उदय है उसके अनुसार ये बाह्यपदार्थ आयेंगे। ऐसा ही सहज मेल होता है कि उन सबके पुण्ययोग से वह सब कमाई होती चली जाती है, मैं तो केवल कल्पनायें भर करता हूं, उपयोगकी वृत्ति भर करता हू, कैसा ही उपयोग बन रहा हो, कैसा ही विकल्प कर रहे हो, केवल मैं ज्ञानकी परिणतिको करता हू। बाहरी पदार्थोंको नहीं करता। देखिये जब यह ज्ञान जगेगा बस अहिंसाका प्रादुर्भाव वहांसे है। अहिंसाका अर्थ है उपयोगमे (आत्मामे) विकार भावो का न आने देना। अविकार भाव होना इसका नाम अहिंसा है। जैसे लोग कहते हैं कि दूसरेको मारना हिंसा है। तो दूसरेको मार कब डाला ? जब मैंने पहिले अपना भाव बिगाड़ा तो वास्तवमे अपने भाव बिगाडनेका नाम हिंसा है, दूसरे जीवके प्राण हन गए तो इसका नाम वास्तवमे हिंसा नही है, वह तो हिंसाका एक परिणाम हुआ है इस प्रकारसे हिंसा कोई जीव कर सकता है तो वह अपनी कर सकता है, दूसरेकी हिंसा नही करता। निश्चय से यह जीव अपनेमे ही विकार करता है, तो अपनी ही हिसा करता है, दूसरे जीवोका तो उनके उदयानुसार वैसा निमित्त जुडता है, बात बनती है पर इस जीवने स्वय पहिले अपना भाव बिगाडा तो इसने अपनी हिंसा कर ली। तो अपने भावोमे विकार न आनेका नाम अहिसा है विकार आनेका नाम हिंसा है। हिंसासे हम अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं। ये मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदिक जितने दुर्भाव हैं यह सब अपनी हिंसा ही तो है हम अपने आपमे हिंसा करते जा रहे, अपने आपकी हत्या कर रहे है, अपने आत्माके जो गुण है उनका घात हो रहा है, हम वासनाओकी ओर बढ़ते चले जा रहे है यह है हमारी हिंसा। तो हम सम्यग्ज्ञान जगायें, मोह भावको मिटायें और अपना यह निर्णय बनायें कि जगतके सब जीव भगवत् स्वरूप है। सबका स्वरूप एक समान है। कोई भी जीव मेरा बैरी नही है, कोई भी जीव मेरा विरोधी नही है। उन जीवोके स्वय भाव लगा हैं अपने भावोके अनुसार वे अपना कार्य किया करते है। तो किसी भी जीवको विरोधी मत

मानो, किसी भी जीवको प्रतिकूल मत मानो । प्रतिकूलता हो रही है इसलिए कि हम चाहते हैं विषयोको, पर वह बन रहा है उनमे बाधक । वह भी प्रतिकूल नही हैं किंतु वह स्वय अपने आपके अनुकूल बनना चाह रहा है, वह भी सुख शान्ति चाहता है, इसलिए वह अपनी उस ढगकी प्रवृत्ति करता है । वह मेरेसे विरोध नही करता । ऐसी जगतके सब जीवोपर समताकी दृष्टि हो, अपने आपको भगवानके स्वभावकी तरह अनुभव करें, सभी जीवोका स्वरूप भगवान के स्वरूपकी तरह निरखें, और फिर जो कुछ कर रहे है अधेर वह सब कर्मोंकी लीला है, प्रकृति का बिकार है । जीव तो ध्रुव सहज स्वभावमे निरपराध है, यह बात अगर चित्तमे आयगी तो कभी यह निरपराध हो जायगा और यह परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जायगा ।

(१११) **वास्तविक अहिंसाका आनन्दजनकत्व**—हम सबकी एक ही भावना है कि सुख शान्ति आनन्द मिलो । परन्तु इसके स्वरूप और उपायपर सही विचार नही बनाते । अच्छा सोचिये विचारिये, जरा बताओ आनन्द कहाँ है—जहाँ आकुलता न हो । आकुलता कहाँ न होगी जहाँ आकुलता आनेके साधन न हो । आकुलताके साधन क्या हैं ? शरीरका सम्बध, धन सम्पदा आदिकका मौज, परका सम्बध, जन्म मरणका होना, अज्ञान होना, ये सब आकुलताके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग साधन हैं । अब आप ध्यान दीजिए कि देह न रहे, कषाय न रहे, बाह्य चीजोका लगाव न रहें तो क्या रहेगा ? केवल एक वही आत्मस्वरूप । तो जहाँ केवल यह आत्मा ही रह जाय, शुद्ध आत्मा हो जाय, परम आत्मा हो जाय, बस ऐसी ही स्थिति मे परम कल्याण है, यही शातिकी चीज है । तब जिनको शातिकी इच्छा है उनका यह ही तो कर्तव्य है कि वे ऐसा उपाय बनावें कि जिससे आकुलताके सारे कारण समाप्त हो जायें । इस उपायको बताया महावीर भगवानने । इसी कारणसे हम आप अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवानकी उपासनामे लगते हैं । भगवान महावीरने क्या उपाय बताया कि जिससे आकुलता दूर हो ? तो देखिये—इन सब उपायोको अगर सक्षेपमे कहा जाय, जो आजकलके व्यवहारामे आकुलताके ही साधन बन रहे हैं उनसे भी हटनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो आप ३ विभागोमे उन्हे बना लीजिए—अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह इन तीन बातोके व्यावहारिक नातेसे भी अधिक आवश्यकता हो गई और इन तीन उपायोपर जो कोई चलेगा वह नियमसे परम शान्ति पायगा । पहिली चीज है अहिंसा । अहिंसाका अर्थ क्या है ? हिंसा नही । हिंसा न होना सो अहिंसा है मगर हिंसा क्या और किसकी ? हिंसा वह जीव स्वय अपने आपकी कर रहा है, निश्चयसे यह मानव अपने आपके आत्माकी हिंसा कर रहा है । कैसे ? आत्माका प्राण है चैतन्य शुद्ध ज्ञान । ज्ञान ज्ञानमात्र रहे, ज्ञाता रहे, रागद्वेष न हो, विकार न हो, यह तो है आत्माकी परम स्थिति, दया, स्वरक्षा और आत्मामे विकार आना यह है आत्माकी हिंसा ।

जब यह जीव क्रोध करता है तो बड़ा बेचैन हो जाता है। तो वह अपने आत्माका घात ही तो हुआ। कोई घमड करता है, दूसरेको तुच्छ समझता है, अपनेको महान समझता है तो इस स्थितिमे वह कितनी तरहके विकल्प मचाता है। परमात्मस्वरूप पर तो उसकी दृष्टि ही नही रहती। बाहर बाहर ही उसका उपयोग फंसा रहता है। तो यह आत्माका घात है। मायाचार तो प्रत्यक्ष घात मालूम होता है। भीतरमे यहाँ कितनी छल कपटकी नीतियाँ बनायी जाती है। कैसा कैसा दूसरोके प्रति सोचा जाता है। इस मायाचारसे तो यह जीव अत्यन्त परेशान रहता है। लोभ कषाय लालच यह भी आकुलताकी जननी है और लोभको तो लोग पापका बाप कहा करते है। इसमें भी आत्माका घात है। तो आत्माका घात न होना सो अहिंसा है।

(११२) **वास्तविक अहिंसाभाव आनेपर व्यवहारशुद्धिकी सुगमता**—जो वास्तविक अहिंसा पालेगा उसका वैसा व्यवहार इतना स्वच्छ होगा कि दूसरे जीवोके प्राणोका घात न करेगा, दूसरोका दिल न दुखायगा। सबके प्रति अच्छा व्यवहार रखेगा। तो यह तो हुई व्यवहार अहिंसा। आज प्रत्येक जीव परेशान है घरके बाहरके झगडोसे। सो सारा विश्व शान्तिकी चाह करता है, लेकिन चल रहा है यह सब विश्वनीतिसे, पर उन्हे शान्ति तब मिलेगी जब शुद्धज्ञान बनायें और दृष्टिनिर्णय बनायें। अहिंसा साधनेके लिए सम्यग्ज्ञानकी बहुत आवश्यकता है। सम्यग्ज्ञान न हो तो अहिंसा नही बन सकती, क्योकि अहिंसाका मौलिक रूप तो यह है कि अपने अन्दर किसी प्रकारका विकार ही न आये, किसी जीवके सतानेका अपना संकल्प ही न आये, विचार ही न बने। मैं किसी दूसरे जीवका दिल दुखा दूँ या उसे बरबाद कर दूँ इस प्रकारका खोटा विचार तक न आ सके। यह बात बन सकती है सम्यग्ज्ञान द्वारा। जहाँ यह समझ आ गई कि मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू, अन्य कुछ नही हू, और ऐसे ही ज्ञानस्वरूप इस लोकमे सभी आत्मा है, जहा सब जीवोका स्वरूप और अपना स्वरूप समझमे आ गया, समानता भी ज्ञात हो गई कि सब मनुष्य एक समान हैं, सब जीव एक समान है। स्वरूपसे देखो तो सब जीवोमे जब समानताकी बुद्धि की गई और अपने आप मे अपने आपका परिचय बनाया गया कि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हू, अपनेमे रहते हुए अपनी परिणति बनाता हूं, मेरा कर्ता कोई दूसरा नही, दूसरेका कर्ता मैं नही। सब स्वतंत्र जीव हैं, जहाँ यह ज्ञान हो गया वहाँ दूसरेके सतानेके भाव उत्पन्न नही होते। तो आज आवश्यकता है इस अहिंसाकी। कितनी अधेर मच रही है कि लोग पशु पक्षियोकी तो कुछ जान ही नही समझते, जिस चाहे पशु पक्षीको मार देते हैं। उन्हे मारना एक कौतूहल सा बना लिया है। जहाँ अहिंसाका ताण्डव नृत्य हो रहा हो इस बीचमे ये विश्वके प्राणी सुख शान्तिकी आशा

करें, तो यह बात कैसे बन सकेगी। जहाँ एक जीव दूसरे जीवको दुःखी करनेकी चेष्टा करता है वहा कोई सुखी कैसे हो सकेगा ? क्योकि सुख कही बाहरसे नही आता है। सुख तो अपने आपके अन्दरसे अपने सद्विचारसे प्रकट किया जाता है। तो पहिली बात महावीर भगवानने दुनियाको दी अहिंसाका सिद्धान्त। अहिंसक बनो। जो देश अहिंसक होगा वह शान्त और समृद्ध बनेगा, जो घर अहिंसक होगा वह शात और समृद्ध बनेगा; निश्चयतः इस अहिंसाके बिना आत्माका उद्धार नही हो सकता।

(११३) अपने शाश्वत हितके प्रोग्रामका विवेक—एक बात और भी सोचिये लोग इन १०–५ वर्षोंकी तो चिन्ता करते हैं जिनका कि यह ख्याल है कि इतने वर्षों तक हम जिन्दा रहेंगे, लेकिन इस थोडेसे जीवनके बाद जो अनन्तकाल और सामने पडा हुआ है उस की कुछ भी फिकर नही है। अरे जितने जीवनकी फिकर कर रहे उतने जीवनका भी तो कुछ भरोसा नहीं है कि कब तक चलेगा, पता नही अभी खतम हो जायें। ऐसी घटनायें अनेक देखनेको भी रोज रोज मिलती रहती है। कभी कोई जा रहा था, रास्तेमें ही एक्सीडेन्ट होनेसे मर गया, या हार्ट फैल हो गया, यो कितनी ही बातें प्रतिदिन सुननेको मिलती रहती हैं। तो क्या ऐसा हम आपको नही हो सकता ? अरे किसीके भी जीवनका कुछ विश्वास नही कि कब तक चले। जिस जीवनका कुछ विश्वास ही नहीं है उसकी तो इतनी चिन्ता करते और जो आगेका अनन्तकाल सामने पडा हुआ है उसकी कुछ परवाह ही नही करते। अगर कोई अपने भविष्यकालकी बातको सोचे, अपने आपमें अपने आपपर करुणा करके यह बात चित्तमे लाये कि मुझे तो ऐसा बनना है कि इस भवमें भी शान्ति रहे और आगे भी अनन्तकाल तक शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए। कभी ऐसा विचार बन जाय तो उसे मार्ग मिल जायगा जिस तरह कि यह शान्त हो सकता है। तो पहिला काम है सम्यग्ज्ञान जिसके बलसे आत्मामे अहिंसा तत्त्व प्रकट होगा। सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना बनेगी। सीधी बात सुनना चाहो तो इसमे ही पहिले अपनी बातको परिपूर्ण बना लोगे कि मैं सब जीवोके सुखी होनेकी भावना करूँ। जैसा मेरा जीव है वैसा ही ससारके समस्त जीवोका प्राण है। सब जीवोंके प्राण मेरे ही प्राणके समान हैं। जैसा मेरा चेतन वैसा ही सबका चेतन। जैसे मेरेको दुःख होता वैसे ही सबको दुःख होता। उसके अतिरिक्त यह भी बात जानें कि मैं किसीको दुःखी नही करता, कोई मुझे दुःखी नही करता, जब ऐसी स्थिति है तो मैं दूसरेको दुःखी करनेकी भावना ही क्यो बनाऊँ ? जो सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना करता है वह अपने आपको सुखी कर सकता है। यह बात अगर विश्व के सब मानवोमे आये, सब जीवोके सुखी होनेकी भावना करें तो फिर विश्वमे शान्ति उत्पन्न

होनेमे रच भी विलम्ब न हो, लेकिन खेदकी बात तो यह है कि जो आज नेता कहलाते है वे स्वयं इस प्रकारकी भावनामे रहा करते कि मेरे धन बढ़े, मेरी प्रभुता बढे। जो स्वय अपने मनमे इस प्रकारकी भावना बनाये है, वे सब जीवोके सुखी होनेकी भावनाको नही बना सकते। तो सबसे पहिली आवश्यकता है अहिंसाकी।

(११४) **अनेकान्तपरिचयकी अहिंसासाधकता**—अहिंसामे बाधक, एक बात और आती है कि लोग अपने अपने धर्मपर झंझट करते है और उस धर्मके आधारपर सम्प्रदाय बन जाते हैं। जब तक यह सम्प्रदायकी भावना न हटे, जब तक यह संकुचित वृत्ति न दूर हो तब तक शान्तिका साम्राज्य नही बन सकता। वह भावना कैसे दूर हो? उसके लिए चाहिए ज्ञान। और उसका प्रकाश देनेके लिए भगवान महावीरने सिद्धान्त बताया है अनेकान्त। देखो—जैसे हम अपने आपको कुछ बुद्धिमान समझते हैं—मैं जानता हूँ, मुझमे तर्क पैदा होता है, युक्तियाँ समझता हूं, परीक्षा करता हूं, तो हूँ मैं, जीव हू, वैसे ही और भी तो जीव है, वे भी तो अपनी युक्ति और तर्कणासे परीक्षा किया करते हैं। जो मैने सोचा वह मुझे सही जच रहा। तो जो दूसरोने सोचा वह उन्हे सही जच रहा। हम यहाँ वस्तुस्वरूपके विषयके धर्मकी बात कर रहे हैं। जैसे कोई लोग हिंसा करते है, बलि चढानेमे धर्म मानते हैं इसकी बात यहाँ नही कह रहे उसका निराकरण तो अहिंसाने कर दिया। हम तो एक धर्मके नामपर जो साम्प्रदायिक झगडे बढ रहे हैं उसकी चर्चा करते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय वाला जो कुछ भी वस्तुस्वरूपके प्रति कह रहा है उस सबकी बात सच है। जरा उनकी दृष्टिका प्रयोग कर अपेक्षावादका प्रयोग करके आप सुन रहे है तो आपको विदित हो जायगा कि इस दृष्टिसे इनकी बात सच है। फिर एक बात यह भी समझ लेना चाहिए कि मैं किसी सम्प्रदायका बनकर नही जिन्दा रहना चाहता, मैं अपने आतमाका आत्मा बनकर जिन्दा रहना चाहता हू। जब तक यह मनुष्यभव है तब तक मैं आत्माका ही रिश्ता मानूं। मुझ आत्माको तो वह उपाय चाहिए कि जिससे शाश्वत दृष्टि मिले। केवल एक यह स्थिति बनावें। यह स्थिति तो अयुक्त है कि मैं हिन्दू हूं, मुसलमान हू, जैन हूं, अमुक जातिका हू। भले ही नाम जिनेन्द्रदेवने प्रणीत किया है मगर लोगोने कहा इसलिए नाम लें यह बात ख्यालमे न रखें। मेरे आत्मामे क्या उपाय ऐसा है कि जो मेरेको शान्त करे? वह उपाय है धर्म। उस धर्मको जिनेन्द्र देवने कहा तो उसका नाम है जैनधर्म। ऐसा धर्म तो अनन्तकाल तक चलता रहेगा, क्योकि वस्तुका स्वभाव कभी मिटता नही है, धर्मका नाम रखनेमे कोई आपत्ति नही, कुछ भी नाम रखलो मगर इसे जान लीजिए कि धर्म नाम किसका है? 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तुका जो स्वभाव है वह वस्तुका धर्म है। अब वस्तुका स्वभाव पहिचानने की तरकीब है अपेक्षा। जैसे कोई पुरुष कहते है कि

जीव अनित्य है, क्षण क्षणमे मिटता रहता है नया-नया आत्मा उत्पन्न होता रहता है। ऐसा कहते है बौद्धजन। तो आप देख लीजिए वस्तु सत्स्वरूप होता है, अब कोई उत्पादव्ययसे ही कहे कि आत्मा क्षण-क्षणमे मरता है और क्षण क्षणमे उत्पन्न होता है तो पर्यायकी अपेक्षासे उनका यह सिद्धान्त सत्य उतरता है। जीव हो या पुद्गल हो या कुछ भी हो—क्षण क्षणमे नया-नया बनता चला जाता है। इसमें कौन आपत्ति आयी ? तो पर्यायदृष्टिसे बौद्ध धर्मकी बात सत्य उतरती है। वेदान्ती जन कहते हैं कि आत्मा अपरिणामी है, रचमात्र भी आत्माका परिणमन नहीं होता। तो जरा आप द्रव्यदृष्टिसे देखें कि पदार्थ सत् होता है, वह त्रिकालवर्ती स्वभावत होता है। तो देखो द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा अपरिणामी है, द्रव्यदृष्टिसे सच तो उन्हें वह ही देते हैं। वस्तुस्वरूपके बारेमे जो कोई जो कुछ कहे तो वह सब किसी न किसी नयसे सच उतरता है। यह जैनशासन, भगवान महावीरका सिद्धांत यह घोषित करता है कि भाई परस्परमे लडो मत, तुम्हारा भी कहना सत्य है, तुम्हारा भी कहना सत्य है। प्रमाण कर लो और प्रमाण करके इस विकल्पको भी छोडकर इस शुद्ध आत्मामे विश्राम लो। यह बात बताया है महावीर भगवानने। जैसे एक दृष्टात द्वारा समझिये—एक बार कोई चार अधे पुरुष कही जा रहे थे। रास्तेमे उन्हे एक हाथी मिला। एकके हाथमे पेट पडा तो उसने कहा—ओह हाथी तो ढोल जैसा होता है, दूसरेके हाथमे पैर पडे तो वह बोला—अरे हाथी तो खम्भा जैसा होता है, तीसरेके हाथमे कान पडे तो वह बोला—अरे हाथी तो सूप जैसा होता है, चौथेके हाथमे सूढ पडी तो वह बोला—अरे हाथी तो मूसल जैसा होता है। वे परस्परमे झगड गए वे सब अपनी अपनी बातकी पुष्टि कर रहे थे। वहांसे कोई सूझता पुरुष निकला—पूछा कि भाई तुम लोग आपसमे क्यों झगड रहे हो ? तो उन्होंने अपनी अपनी बात कही। तो वह सूझता पुरुष बोला कि भाई तुम लोग झगडो मत। बात तुम सबकी ठीक है। देखो—जिसने हाथीका पेट पकडा उसने समझा कि हाथी ढोल जैसा होता है, तो पेटकी अपेक्षासे इनकी बात ठीक है, तुमने हाथीके पैर पकडे सो ठीक है—हाथी पैरोकी अपेक्षासे खम्भा जैसा है। और तुमने हाथीके कान पकडे सो ठीक है—कानकी अपेक्षासे हाथी सूप जैसा है, और तुमने हाथी की सूढ पकडी तो ठीक है—सूढकी अपेक्षासे हाथी मूसल जैसा है। लो अनेकान्त पद्धतिसे उन चारोंकी समस्या सुलझ गई, झगडा खतम हो गया, तो इसी प्रकार वस्तुस्वरूपके बारेमे अनेकान्त द्वारा समस्यायें सुलझ जाती है। यह जैन शासन समस्त मानवोका द्वेष-मिटा देने वाला है। धर्म तो एक वस्तुका स्वरूप है। उसका प्रतिपादन करने वाले अनेक नय हैं। उन नयो से अलग अलग बात कही जाती है। उन नयोसे जो देखा जाता है वह बात सत्य है। उन नयोकी समझ लें और समस्त सत्योका प्रमाण करलें, फिर प्रमाणोका भी विकल्प छोडकर केवल

एक ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति रह जाय और अपने अन्त: प्रकाशमान आत्मीय आनन्दका निरन्तर अनुभव करें। भगवान महावीर स्वामीका यह अनेकान्तरूप उपदेश कितनी गडबडियोको खतम कर देता है।

(११५) **अपरिग्रहकी आनन्दसाधकता**—भगवान महावीरकी तीसरी बात थी अपरिग्रहकी। आज तो लोगोके मस्तिष्कमे बहुत-बहुत बातें बैठी हुई है। वे समझते हैं कि यदि मैं लखपति हो जाऊँ तो मुझे सुख मिलेगा, करोडपति हो जाऊँ तो मुझे सुख मिलेगा। मगर उनका यह ख्याल गलत है। कही लाखो करोडो अरबोका धन जुड जानेसे सुख शान्ति की प्राप्ति होती हो ऐसी बात नहीं है। शान्ति तो आत्माका स्वरूप है। आत्मा अपने आपके स्वरूपको अपने ज्ञानमें ले तो शान्ति पा सकेगा। शान्ति न कही बाहरसे लाना है और न कही बाहर पायी जा सकेगी। वह तो अपने आपके अन्दरकी चीज है। लोग सुख शान्तिकी खोज कर रहे हैं बाहरमे, बाहरी पदार्थोंमे तो वहां सुख शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? भगवान महावीरने सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिए अपरिग्रहवादको बताया है। उन्होंने दुनिया को उपदेश दिया है कि हे आत्मन् ! तुम ज्ञानस्वरूप हो, उसकी सुध लो और जगतके समस्त सकटोंसे सदाके लिए छूट जावो। रही एक जीवन चलानेकी बात। तो जीवन तो थोड़ेसे धन से ही चल सकता है। रही साज शृङ्गारकी बात, प्रभुता पाने की बात तो भाई धन वैभवसे तो किसीकी प्रभुता होती नही। हां सदाचार हो, ज्ञान हो, वैराग्य हो तो उसकी प्रभुता है। भले ही धन वैभव वालेको उसके सामने न कुछ कह सकें, पर पीठ पीछे तो उसे बुरा ही कहेगे भले ही वह दबाव डाले, किसीको अपने विरुद्ध न बोलने दे, पर उसके भीतरी विचारों को कौन रोक सके ? उसके विचारोमे तो आयगा ही कि देखो यह कैसा कृपण है, कैसा दुष्ट है··· । देखिये सभी लोग अपने अपने विचार करनेमे स्वतन्त्र हैं। विचार करनेमे कोई बाधा नही डाल सकता। भले ही कुछ लोग ऐसा सोचें कि इस विचार स्वातंत्र्यसे देशकी हानि होती है—कही देशकी निन्दा करा दे, कही देशकी कोई गलती हो तो उसे भी अखबारोमे निकलवा दे। देखिये जो पाकिस्तान सरकार अभी थोडे दिन पहिले अपने आपकी बुद्धिसे सारे काम करनेमे जुट गई, अन्याय नही छूटा, फल क्या हुआ कि आज पाकिस्तान टूट गया, स्वयं दुःखी हो गया। यह फल है विचारोंकी स्वतंत्रताका। सरकार भी मनमानी नही हो सकती, तो अनेकान्तका सिद्धान्त यह विश्वको शान्ति देनेमे समर्थ है। अनेकान्तके बलसे ये अपने आप का सम्यग्ज्ञान पा सकते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे सम्यक्चारित्रमे लगें, सदाचारमे लगें, लोक-व्यवहार सही बनायें, इससे महिमा बढ़ेगी, अपरिग्रहता बढेगी, धनके अधिक बढ़ा लेनेसे प्रभुता

न बढ़ेगी। अगर धन आता है तो आने दो। उसे हटाया न जायगा। जब पुण्यका उदय है तो आयगा ही, पर ऐसा मुग्ध न होना चाहिए कि चाहे दूसरे लोग दुःखी रहे, दूसरोको कष्ट बना रहे और स्वय धनको जोड-जोडकर उसे देख-देखकर खुश रहे। उससे कही आपको सुख नही मिल सकता। सुख मिलता है आकिञ्चन्य भावसे। सो यह आकिञ्चन्य भावना बनाइये—दसलक्षणधर्मोमे आकिञ्चन्य भी एक धर्म बताया गया है। जहाँ यह भाव बनाया जाता है कि मैं अकिञ्चन हू अर्थात् ज्ञानस्वरूपमात्र हू, कोई बाहरी पदार्थ मेरेमे कुछ नही लगा है। मैं सबसे निराला, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ विश्वके समस्त प्राणी भी मेरे ही स्वरूपके समान हैं, कोई मेरा शत्रु नही, इस प्रकारकी भावना बने तो विश्वमे शान्तिकी स्थापना सुगमतासे हो सकती है। नही तो विश्वमे शान्तिकी स्थापना नही की जा सकती। अरे सबके साथ कर्म लगे हैं। जिसका जैसा उदय होगा उसका वैसा होगा ही। कोई धनिक होगा तो कोई गरीब होगा, कोई मालिक होगा तो कोई नौकर होगा। अरे कर्म तो अपना फल देंगे ही। जो जैसे कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा ही ? भला हो कि अध्यात्मकी कोई ऐसी बात मिल जाय जिससे पापकर्म काटे जा सकें। इसलिए हमे इतना सावधान रहना चाहिए कि हम पापकी बात न करें। पाप होता है मोहमे, किसी वस्तुमे ऐसा मोह बनाना कि इस बाह्य वस्तुसे ही मेरा गुजारा है, इससे ही मेरा जीवन है। इससे ही मेरा महत्त्व है, और उन चीजोको खूब जोड जोडकर ही रखें, उनका सदुपयोग न करें, उचित वितरण न करें, अगर ऐसा कोई करता है तो उसमे बहुत बडा पापका बध होता है। अपरिग्रहवाद हो, इनका दुरुपयोग तो न हो। दुरुपयोग यही कहलाता है कि सबको फक्कड बना दिया। इस तरह क्या साम्यवाद हो जायगा ? अरे सब जीवोके साथ अपने-अपने पुण्य पापके उदय हैं। भले ही कोई एक रास्ता बनाया जाय कि देखो तुम अधिक रोटियाँ न खावो, सब लोग बराबर बराबर खावो पर वहाँ यह साम्यवाद कैसे चल सकेगा ? सबके साथ लगे है अपने-अपने कर्म। तभी तो कोई चपरासी होता है तो कोई बडा अफसर, कोई मालिक होता है तो कोई मजदूर। क्या किसीने देखा है अभी तक जो समान बन सके हो ? अरे ये सब जीव हैं, इनका जुदा जुदा भाग्य है, जुदा जुदा काम है। जिस जीवका जैसा उदय है वैसा काम होगा। इस साम्यवादको कोई कानूनके ढगसे या कोई जबरदस्ती करवाना चाहे तो वह होना कठिन है और अगर सम्यग्ज्ञानके बलसे यह जीव अपने अन्दर समता धारण करले तो वहाँ साम्यवादकी बात बन सकती है। इस परिग्रहमे आत्मीयताकी भावना न रखें, अपना ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व अपनी दृष्टिमे रखें तो उससे सम्यग्ज्ञानका प्रसार होगा, जगतमे अपरिग्रहकी बात आयेगी, विश्वमे सुख शान्तिकी स्थापना हो सकेगी। इसके लिए चाहिए सम्यग्ज्ञान, सच्चा ज्ञान।

(११६) आत्मज्ञानमें सम्यग्ज्ञानकी पूरकता—सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमे सक्षेपमें अगर समझना चाहे तो यह समझिये कि जहाँ अपने आपके आत्माके सहजस्वरूपका निर्णय हो वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। बाहरी बातोका कोई ज्ञान बनाया तो उसका नाम सम्यग्ज्ञान नही। सम्यग्ज्ञानके लिए अभिप्राय विशुद्ध होना चाहिए, कलुषित अभिप्राय न होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान हो गया, अब आप निर्णय कीजिए कि मैं क्या हू, बाहरमे बहुतसे निर्णय बनाते हैं वैज्ञानिक लोग कि यह चीज ऐसी है यह रसायन ऐसा है। इसको इसमे मिलानेका यह प्रभाव होता है। मगर जो स्वयं जाननहार है, जो स्वयं उसकी व्यवस्था बनाता है वह मैं आत्मा क्या हूं, इसके बारेमे ज्ञान न हो तो वह ज्ञान क्या कहलायगा? इसको तो यो समझिये कि जैसे किसी इन्स्पेक्टरने स्कूलमे खबर भेजा कि हम अमुक तारीखको इतने बजे बच्चोकी परीक्षा लेने आयेंगे। तो इधर मास्टरोने क्या किया कि सभी बच्चोको दुनियाकी सारी चीजोंका खूब ज्ञान करा दिया। अमेरिका, रूस, जापान आदिमे कहाँ कौनसा पहाड है, कौन सी नदी है, कहाँ क्या प्रसिद्ध है ····, मगर जब इन्स्पेक्टर आया तो बच्चोंसे पूछा कि बताओ बच्चों तुम्हारे गाँवमे से जो नाला निकलता है वह कहाँसे निकला है? तो सभी बच्चे चुप रह गए। उन्हे यह बात पढ़ाई ही न गई थी तो कैसे उत्तर दे दें, तो इसी तरह समझिये कि ये वैज्ञानिक लोग दुनियाकी बाहरी बाहरी बातोका तो खूब ज्ञान करते हैं, अनेक प्रकारके आविष्कार करते रहते हैं, पर जो स्वय जाननहार है उसका कुछ भी ज्ञान नही करते। वे वैज्ञानिक लोग बाहरी कितने-कितने ही ज्ञान करलें, कितने हो आविष्कार करलें, पर उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। लोग कहते है कि इन आविष्कारोमे तो बडी बुद्धिमानी का काम है। तो ठीक है, पर मानो आज ये विज्ञानकी चीजें एक भी न होती तो क्या अपना काम न चलता? अभी १००–५० वर्ष पहिले जब ये वैज्ञानिक आविष्कार इतने नही थे तो क्या उससे लोगोको कोई कष्ट था? वैज्ञानिक लोग ये सब आविष्कार कर रहे है, ठीक है करें, उसका निषेध नही किया जा रहा, उसमे खूब तरक्की करें, लेकिन साथ ही साथ अपने आत्माके ज्ञानकी भी तरक्की करें। मैं क्या हू इसका सही निर्णय बनावें। जरा भी विवेक करें, कभी इन्द्रियोंको नियन्त्रित कर दें, न कुछ देखनेसे मतलब, न कुछ सुननेसे मतलब, न कुछ सूंघनेसे मतलब, न कुछ भी कल्पनायें करनेसे मतलब, न नहीं आने जानेसे मतलब। बस एक सच्चा आग्रह करके बैठ जावें कि मुझे तो समझना है कि मैं क्या हू? किससे समझना है? क्या किसी गुरुसे, क्या किसी शास्त्रसे? अरे इस समय ये भी प्रयोग छोड दो। यह तो अपने आपको समझायगा, हमे दूसरेसे नही समझना है। इसके लिए क्या करना होगा कि सब प्रकारके बाहरी विकल्प समाप्त करना होगा। यह अपने आपके अन्दर विद्य-

मान भगवान स्वय अनुभव करा देगा कि यह मैं क्या हू ? उसका अनुभव करके जो बात समझमे आती है उसका अनुभव अलौकिक होता है।

(११७) **सानुभव ज्ञानकी विलक्षणता**—मिश्री न खाने वालेसे पूछो–भैया क्या तुमने मिश्री कभी खाया ? तो वह कहेगा कि मैंने तो कभी नही खाया। ··· अच्छा, तो तुम्हें मिश्री के स्वादका भी पता न होगा ? · हाँ पता तो नहीं है, बताओ। ··· देखो तुमने गन्नेका रस तो चखा होगा ? ·· हाँ चखा तो है। ··· तो उस गन्नेके रसको जब खूब अग्निमे पकाया जाता है, उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे सीरा तैयार किया जाता है, तो उस सीराका स्वाद तो उस रससे विलक्षण होता होगा ना ? ··· हाँ होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है। ··· फिर उस सीरेको अग्निमे खूब पकाकर उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे शक्कर बन जाती है। उस शक्करका स्वाद तो उस सीरेसे विलक्षण होता होगा ना ? ···· हाँ होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है। ··· फिर उस शक्करको खूब अग्नि मे पकाकर उसका सारा मैल निकालकर मिश्री तैयार की जाती है। तो उस मिश्रीका स्वाद तो और भी विलक्षण होता होगा ? · हाँ होता तो जरूर होगा। ··· तो क्या अब समझ मे आया कि मिश्रीका स्वाद कैसा होता है ? भले ही वह कह दे कि हाँ समझ गए, पर उस को अभी सही पता नही पडा। उसको मिश्रीका सही ज्ञान इन शब्दो द्वारा बताया जानेसे न होगा। अरे मिश्रीका एक डला लेकर उसके मुखमे धर दो, उसे खाकर वह झट समझ जायगा कि हाँ मिश्रीका स्वाद ऐसा होता है। तो एक तो हुआ शब्दात्मक ज्ञान, और एक हुआ अनुभवात्मक ज्ञान। यह अनुभवात्मक ज्ञान एक विलक्षण ज्ञान होता है। इसी तरह यह ज्ञान एक तो इन बाहरी पदार्थोंमे दौड दौडकर, उनका विकल्प बना बनाकर, उनमें राग द्वेषकी बुद्धि करके उनका ज्ञान करता है, और एक ऐसा भी ज्ञान होना कि जहाँ कोई भी परपदार्थ ध्यान मे नही रहता, सबका विकल्प छूट जाता, शुद्ध ज्ञाता द्रष्टाकी स्थितिमे रह जाता, सब कुछ उस के ज्ञानमे झलक जाता, तो यो **इन दोनो प्रकारके ज्ञानोंमे महान अन्तर है।** समस्त पदार्थों का विकल्प छोडकर शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहकर जो ज्ञान किया जाता है वह एक विलक्षण ज्ञान होता है। बाहरी पदार्थोंमे दृष्टि डाल डालकर उनका ज्ञान करने मे तो अनेक सकट ही आते हैं। अभी आप इन धार्मिक समारोहोमे ही देखलो जिसकी दृष्टि बाहर बाहर ही दौडती रहती है वह कितना संकटमे रहता है और वह सारी धार्मिक क्रियायें करके भी शान्तिका मार्ग नही पाता। और एक व्यक्ति ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ धार्मिक क्रिया काण्ड करता है तो वह शान्तिका मार्ग प्राप्त करता है। शान्तिका मार्ग मिलेगा तो एक सम्यग्ज्ञानसे ही मिलेगा, ऐसी प्रेरणा वीर प्रभुने सारे विश्वको दी है। जिसे शान्ति चाहिए

हो उसे अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके माध्यमसे चलना चाहिये।

(११८) **आत्मबोध बिना शान्तिलाभकी असंभवता**—हम आप सब लोग समय-समयपर सुख और दुःखका अनुभव किया करते है और उसमे यह छटनी चाहते है कि मुझे सुख तो हो दुःख न हो। इस सम्बन्धमे पहिले यही विचार करें कि ये सुख और दुःख आते किस ढगसे है? देखिये—जितना भी हम आपका अनुभव है वह ज्ञानके अनुसार चलता है। हम ज्ञानकी जैसी वृत्ति बनायें ज्ञानको हम जिस ढालमे ढालें उसके अनुसार हमे अनुभव होता है और उस अनुभवके अनुसार सुख दुःखकी प्राप्ति हो रही है। पहिले इस बातका ही सभी लोग निर्णय करलें। देखिये—ससारमे अनन्त काल जन्ममरण व अन्य दु.खोमे व्यतीत कर दिया। अब सुयोगसे आज श्रेष्ठ नरजन्म मिला है और पवित्र जैन शासन प्राप्त हुआ है, इस जैन शासनका यदि लाभ न उठा सके तो मनुष्यभवका पाना न पाना बराबर रहा। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि फिर तो सभी बराबर हो गए। इस भवमे कोई धनसमृद्ध बन जानेसे इस आत्माको लाभ नही हो गया। आत्माका लाभ तो इसमे है कि दु.ख न हो, क्लेश न रहे और शान्तिका अनुभव करें। आत्माको प्राप्त तो यह करना है। यह चीज धनसे न प्राप्त होगी, बाहरी इज्जतसे न प्राप्त होगी। वास्तविकता तो यह है कि जब तक कुछ अपने आपके ज्ञानको शुद्ध न कर सकेंगे तब तक हम शान्तिके पात्र नही हो सकते। देखो—आपका कोई काम धंधा, व्यापार लदनमे है और वहांसे खबर आये कि ४ लाखका टोटा पड गया, मानो तार गलत पढ़नेमे आ गया हो, और यह समझ जायें कि चार लाख का फायदा हो गया तो देखो उस समय आप सुखी हो रहे कि नही? देखो पडा तो नुकसान और कर रहे सुखका अनुभव। तो वह सुखका अनुभव हुआ कल्पनाके आधारसे। और मानो वहां हुआ तो हो लाभ और खबर ऐसी मिल जाये कि इतनेका टोटा पड गया, नुकसान हो गया तो यहां आप दुःखी हो जाते है। तो आपका यह दुःख भी आपकी कल्पनासे आया यहांके ये सुख दु.ख कल्पनासे होते हैं।

(११९) **ज्ञानकी समीचीनतामें संकटोकी समाप्ति**—भाई हम आपको यदि इन सुख दुःखोसे निवृत्त होकर सुख शान्तिमे आना है तो कर्तव्य एक यह करनेको पडा है कि ज्ञानका ऐसा सुधार बनायें कि दुःख न हो, सुख हो और हममे पूर्ण सहज शान्ति प्रकट हो। यह बात किसी बाहरी चेष्टासे नही की जा सकती है। शरीरकी चेष्टासे शान्ति न मिलेगी, धन की वृद्धिसे शान्ति न मिलेगी। बाहरी पदार्थोंसे शान्ति न मिलेगी। शान्ति वहां ही मिलेगी जहां शुद्ध ज्ञान हो कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा सबसे निराला हू, केवल ज्ञान स्वभावका अधिकारी हू, यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा केवल ज्ञानकी वृत्तिको ही करता रहता हू और ज्ञान

की परिणतियोको ही भोगता रहता हू । इस भोगनेका सम्बन्ध किसी बाहरी पदार्थसे नही है । जो बाहरी पदार्थसे सम्बन्ध माने वह अज्ञानी है । परवस्तुके सम्बन्धमे जो भोगनेकी कल्पना करता है वह अज्ञानी है । परवस्तु कैसे भोगा जा सकता है ? प्रत्येक पदार्थकी सत्ता जुदी जुदी होती है । और सत्ता वही कहलाती है जो अपने आपमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्यकी कला रख रहा है । यह सत्का स्वरूप है । तो प्रत्येक सत् अपने आपमे ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कर सकता है, पुद्गल अपने आपमे उत्पाद-व्यय करेगा । जो दुःखी होता है वह अपने आपमे उत्पाद व्यय करता है । जो कहता है कि मैंने धनको भोगा तो उसने धनको नही भोगा, पर वह अपने अन्दर ऐसी कल्पना बना लेता है कि मैंने धनको भोगा । मै किसी भी परपदार्थको नही करता हू । मैं ऐसा सबसे निराला हू जिसे कहते हैं एकत्वविभक्त । हम अपने स्वरूपमे तो हैं तन्मय और परस्वरूपसे निराले, ऐसे इस अकेले ज्ञानस्वरूप निज तत्त्व का बोध न हो, इस ओर दृष्टि न हो, मैं क्या करता हू, क्या भोगता हूँ, इसका निर्णय न हो तब तक यह शान्तिका पात्र नही हो सकता ।

(१२०) **ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको समा देनेकी कलामे संकटमुक्तिका अवसर**—शान्ति लाभ लेनेके लिए हमें क्या करना चाहिए ? अपने आपके ज्ञान परिणतिमे कोई परिवर्तन करना है । जिस ढगसे अपने ज्ञानको प्रवर्ताते आये हैं उसमे सुधार करना होगा । कितना किस ढंग से प्रवर्ताते आये है ? इसके निर्णयमे सक्षेपमे दो बातें हैं—देखो यह उपयोग जब परकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कलायें अज्ञानरूप चलती हैं और जब यह उपयोग स्वकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कलायें ज्ञानरूप चलती हैं । जैसे एक उदाहरण ले लो—पानीके अन्दर तैरने वाला कोई कछुवा जब कभी पानीके बाहर अपनी चोचको निकालकर यत्र तत्र घूमता है तो उसकी चोचको चोटनेके लिए सैकडो पक्षी उसपर मडराते है । वह बेचारा कछुवा हैरान होकर यत्र तत्र भागता फिरता है, दुःखी होता फिरता है । और, कोई मानो उस कछुवेको समझा दे कि रे कछुवे तू क्यो व्यर्थमे दुःखी होता फिरता है । अरे तेरे अंदर तो एक ऐसी कला पडी भई है कि यदि तू उसका उपयोग करे तो फिर हजारो लाखो पक्षी भी तेरा कुछ नही कर सकते ।···क्या कला है वह ? अरे एक वेथा पानीमे तू डूब तो जा बस तेरे सारे सकट समाप्त हो जायेंगे । ठीक ऐसे ही यह जीव व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है । इसने अपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है । इसकी दृष्टि बाहर बाहर ही रहा करती है । बाह्य पदार्थोंसे ही यह अपना लगाव रखता है, यही कारण है कि इसपर अनेक सकट छाये हैं । पर ये ज्ञानी ऋषि सत जन समझाते हैं कि रे प्राणी तू क्यो व्यर्थमे दुःखी हो रहा है ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि यदि तू उसका उपयोग कर ले तो तेरे सारे सकट समाप्त हो

जायें ? वह कौन सी कला है ? वह कला यही है कि तू अपने ज्ञानस्वरूपमे जरा डूब तो जा, बस तेरे ऊपर आने वाले सारे संकट तुरन्त समाप्त हो जायेंगे। तू बाहर बाहर ही अपने उपयोगकी चोंचको निकालकर अभी तक भटकता रहा, बाह्य पदार्थोंको ही अपना शरण, सार सर्वस्व समझा। तेरा उपयोग बाहर बाहर ही भटकता रहा, जिससे कभी अपने अन्त विराजमान परमात्मस्वरूपका भान ही नही किया, कभी अपने ज्ञानसागरमे डुबकी ही नहीं लगाया यही कारण है कि तू अभी तक हैरान होता रहा, दु:खी होता रहा। जैसे फुटबाल खेलने वाले लडके क्या करते हैं ? वे फुटबालको गोदमे लेकर कही चूमते नही, अरे फुटबाल तो जिधर जाता है उधर ही पैरोकी ठोकर पाता है, ठीक इसी प्रकार तेरा यह उपयोग बाहर बाहर ही दौडता रहा, बाह्य पदार्थोंको शरण मानकर उनके पीछे दौड लगाता रहा पर तुझे कही शरण तो न मिली। सर्वत्र तुझे ठोकर ही मिली, धोखा ही मिला।

(१२१) ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपके ज्ञेय होनेपर कृतार्थता—हे आत्मन् ! तू अपने ज्ञानमे यह ज्ञानस्वरूप ला तो सही, कभी ऐसी स्थिति बना तो सही, क्षण भरको ही बना, फिर तेरी यह स्थिति तुझे जीवन भर लाभ देगी। एक क्षण भरको ही सही, कभी भी एक ऐसी दृष्टि बने कि मै अपने ज्ञानमे निज ज्ञानस्वरूपको ही लेता रहू, यदि ऐसा कर सके तो इसके संकट तुरन्त दूर होगे नही तो संकट दूर नही हो सकते। धर्म भी यही है। इस धर्मको गृहस्थजन थोडा पाल सकेंगे, साधुजन अधिक पाल सकेंगे, मगर धर्म तो एक ही प्रकारका है मूलमे, केवल एक साधनभेदसे व्यवहारधर्मकी विधिमे भेद है, मगर धर्म तो वह है कि जिससे शान्ति मिले। शान्ति मिलती है ज्ञानमे ज्ञानको समा लेनेके कारण।

(१२२) सहज स्वभावकी दृष्टिका उपाय—यह आत्मज्ञानकी कला, यह स्वभावदृष्टि कैसे मिलती है ? तो इसके लिए बहुत कुछ विवेचन है, बहुत-बहुत समझानेकी बातें हैं। प्रत्येक नयसे हम स्वभावदृष्टिपर आ सकते हैं। आजकल लोग कहते है कि निश्चयनय ही हमको कल्याणमे ले जायगा, व्यवहारनय ही हमको कल्याणमे ले जायगा। अरे भाई कल्याणमे तो स्वभावदृष्टि ले जायगी। स्वभावदृष्टि व्यवहारनयके माध्यमसे भी कर सकते, निश्चयनयके माध्यमसे भी कर सकते। वह क्या पद्धति है यह सब स्पष्ट हो जायगा थोडा बहुत विवेचन करनेमे, मगर स्वभाव दृष्टिसे हम कल्याण प्राप्त कर सकते है। वह प्राप्त हो सकता है ज्ञानसे, इसके लिए उत्सुकता बनानी चाहिए। जो कुछ हम पर बीतती है वह इसही पद्धतिसे बीतती है कि हमारे ज्ञानमे कुछ ज्ञेय आते है और जिस ढगसे हम ज्ञान करते हैं उस ढगसे हमपर सुख दुःख अथवा आनन्द आया करते हैं। अब इसमे यह छटनी कर ले कि हम कैसा ज्ञान बनाते है कि सुख होता है और कैसा ज्ञान बनाते हैं कि दुःख होता है

और कैसा ज्ञान बनायें कि आनन्द होगा ? पहिले तो सुख दु ख और आनन्द इन तीनोका विरोध समझिये—दु:ख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोको असुहावना लगे, सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोको असुहावना लगे, ये सुख दु ख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए है, दोनोमे आकुलता बडी है, पर यह जीव सुखमे समझता है कि आनन्द है और दु खमे समझता है कि कष्ट है, कष्ट दोनोमे है। जरा विवेक बुद्धिसे विचारें तो दु:खमे जैसा कष्ट होता है उस ही प्रकार इन्द्रिय विषयोके सुख भोगनेमे भी कष्ट रहता है, मगर इस झझटपर दृष्टि नही है मोही जीवोकी तो वे उसमे मौज मानते हैं। दु ख और सुखसे परे जो आनन्दकी स्थिति है, वहां केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति है। कुछ जान लिया, आगे न राग है न द्वेष है, न इष्ट अनिष्टकी बुद्धि है, ऐसा ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिमे होता है आनन्द।

(१२३) **ज्ञानकी विपरिणतिमे काल्पनिकता**—देखो जब ज्ञानमे हमारी वैसी कल्पना जगती है कि यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, वह हट जाय, वह इष्ट क्यो नही मिल रहा ? इसीके मायने विकार है। इस प्रकारकी ज्ञानमे जब हम कल्पना बनाते हैं तब हमे कष्ट होता है। यह मेरा गिर गया, मेरा नुक्सान हो गया, इससे मेरी बरबादी है, आदिक रूपसे जो नाना कल्पनायें उठती है उन कल्पनाओसे कष्ट होता है—और जहां ज्ञानमे ऐसी कल्पना जगती है कि यह मेरा हितू है, यह मेरा इष्ट है, यह मुझे सुख देता है, कुछ धन सम्पदा आये, अथवा स्त्री पुत्रादिक आज्ञाकारी हुए, कुछसे कुछ ज्ञेय बने, उसमे यह जीव सुख मानता है। किन्तु ज्ञानमे जब ज्ञानस्वरूप ही समाया रहता है, जैसे प्राणी जानता है बाहरी चौकी फर्स आदिक, सो इनको इनको न जानकर, यह न जानकर यह जानें कि जो जान रहा है वह क्या है ? मैं जो ज्ञानमय अंतस्तत्त्व हू, उसका स्वरूप तो है ना, कुछ न कुछ। इस जाननकी स्थितिको, प्रतिभासमात्र ज्ञानज्योति इस जाननस्वरूपको ज्ञानमे लें तो वहाँ आनद प्रकट होता है। तो इसका भाव यह हुआ कि जब हम स्वभावदृष्टि करते है तब आनन्द मिलता। तब ही कर्म कटते है, इससे मुक्तिकी प्राप्ति होगी। अन्य मन, वचन, कायकी चेष्टावोसे मुक्तिकी प्राप्ति नही होती। तब ध्यानमे लावो कि मेरेको तो स्वभावदृष्टि चाहिए। जैसे लोगोके चित्तमे कुछ न कुछ लक्ष्य रहता है ना, मेरेको मकान चाहिए, मेरेको सम्पदा चाहिए, मेरेको परिजन चाहिए भले मित्र चाहिए आदि, [पर ज्ञानी पुरुष तो यह लक्ष्य बनाता है कि मुझे तो स्वभावदृष्टि चाहिए। मेरे ज्ञानमे मेरा ज्ञानस्वरूप समाया रहे। मुझे तो केवल यह ही चाहिए। इसे कहते है ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति पानेकी उत्सुकता।

(१२४) **वस्तुस्वातन्त्र्यपरिचय व निमित्तनैमित्तिक भावके निर्णयकी उपयोगिता**—अब स्वभावदृष्टिकी बात कैसे प्राप्त हो ? इसपर जरा विचार करो हमे चाहिए क्या ? स्वभा-

वदृष्टि। याने मैं स्वय सहज जैसा ज्ञानस्वरूप हू, वह मेरे ज्ञानमे रहे, यही तो चाहिये ना ? इसकी पुष्टि कैसे होगी ? तो देखिये—इस पौरुषमे सहायक है निमित्तनैमित्तिक भावका और वस्तुस्वातन्त्र्यका सच्चा परिचय। मैं एक आत्मा हूं, इसी प्रकार जगत्के जितने भी जीव हैं वे सब भी एक-एक आत्मा है। यह देह है और इस देहके साथ कर्म भी लगे है। हम आप जो बैठे हैं वह इन तीन चीजोका पिण्ड है, लगता यह है कि एक ही तो यह बैठा है, मगर वह एक नही है। वह तो तीन चीजोका पिण्ड है। वे कौन सी तीन चीजें है ? कर्म, देह और जीव। एक आदमीने किसीका निमंत्रण किया कि देखो भाई आप कल हमारे यहाँ भोजन करेंगे। हमारी अधिक हिम्मत नही है, इसलिए कृपा करके आप अकेले ही आना। और देखो हमारे यहाँ बुलाने वाला भी कोई नही है इसलिए आप १० बजे स्वयं ही आ जाना। अच्छी बात। अब दूसरे दिन वह १० बजे पहुच गया भोजन करने तो वह निमत्रण करने वाला कहता है कि भाई साहब आ गए ? हाँ आ गए। देखिये हमने आपसे कहा था कि आप अकेले आना, पर आप अकेले क्यो नही आये ? अरे भाई अकेले ही तो आये है। कहाँ अकेले आये ? आप अपने साथमे इस शरीरको क्यो लाये हैं ? अब भला बतलावो वह अकेले कैसे आवें ? देह तो साथ जायगा ही। तो इस जीवके साथ तीन चीजें लगी हैं—देह कर्म और जीव। इन तीनोका पिण्ड है यह जीव। अब देखना यह है कि जो कुछ बीत रहा है वह इन तीनके प्रसगमें बीत रहा है। बाहरमे यह चाहे जीव हो चाहे अजीव हो, उनकी चेष्टासे यहाँ कोई फर्क नही आता। हम कल्पनायें कर लेते है कि देखो उसने मेरे लिए बुरा किया तो ऐसी ऐसी जो भीतरमे कल्पना की उससे बुरा हुआ नही, उसकी चेष्टासे मेरेको दुःख नही हुआ। वह चाहे हजारों कुछ भी क्रियायें करे, पर उससे मेरेमें कोई फर्क नही आता। बाहरी वस्तुके विषयमें कल्पना बनाते है तो चूँकि हमने यहाँ ही कुछ कर डाला इसलिए उसका प्रभाव पडता हैं, बाहरमें कोई कुछ करे तो उसका कोई प्रभाव नही पडता। बाहरी वस्तु है। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसमें ही है, मेरे पर उसका क्या प्रभाव ?

(१२५) निमित्त नैमित्तिक परिज्ञान द्वारा देह, कर्म व विकारसे विविक्त अन्तस्तत्त्व की दृष्टि—अब यहाँ भीतरमे देखो—देह, कर्म, और मैं। तो ये तीनो अलग अलग चीजें हैं। देहकी सत्ता देहमे है, जीवकी सत्ता जीवमे है और कर्मकी सत्ता कर्ममे है, और परिणमन भी इन तीनोका अपने आपमे अलग-अलग है, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भाव यह पाया जा रहा है कि कर्मोदय आये तो जीवमे रागद्वेषकी कल्पना जगती है, बस दुःख तो हुआ रागद्वेषके उठने से, उसमे निमित्त हुआ कर्मका उदय, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है, पर वस्तुस्वातंत्र्य क्या है कि कर्म भले ही उदयमे आ रहे मगर वे कर्म अपने आपमे उदित हो रहे हैं, मुझमे उदित

नही होते हैं और जो इस कर्मका विधान है उसमे उपयोग लगाते हैं तो ऐसा उपयोग लगाने की चेष्टा मुझमे है, वह कर्ममे नही है। कर्मकी बात कर्ममे है, मेरे आत्माकी बात मेरे आत्मा मे है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बध अवश्य है। अब इन दोनो बातोके सम्बधमे थोडा समझियेगा। निमित्तनैमित्तिक सम्बध माननेके माध्यमसे भी हम स्वभावदृष्टि तक पहुच जाते है और वस्तुस्वातंत्र्य माननेके माध्यमसे भी हम अपने स्वभाव तक पहुच जाते है। निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्यका होना, उसमे कोई विरोधकी बात नही। निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्ता कर्म नही रहता, यह बात बराबर पायी जाती है। भूल यहाँ होती है कि लोग निमित्तको निमित्त न मानकर कर्ता मान लेते हैं। एक वस्तु दूसरे वस्तुका नही है। पर निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य है। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्ता कर्म भाव एक वस्तुका दूसरेमे त्रिकाल नही है। कही कर्मने मुझमे कोई बात नही किया और न मैंने कर्ममे कुछ किया, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा अवश्य है कि रागद्वेष भाव यदि हैं तो वहाँ कर्म बन्धन होता, कर्मका उदय हुआ तो ये रागादिक भाव बने, अब देखिये दोनो बातें कि कैसे अपना ज्ञान भोगा जाता है? ये रागद्वेष भाव मेरे स्वरूप नही हैं, ये कर्मका निमित्त पाकर आये हैं। जिस प्रकारके कर्मका उदय हुआ उस ही प्रकारसे इस उपयोगने अपने आपमे इस ढगका चेतनभाव पैदा किया। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि मुझमे भी रागद्वेष आये हैं, जो मेरे स्वरूपसे, मेरी सत्तासे बिना निमित्तके अपने आप मेरेमे नही आये, इसलिए राग-द्वेष मेरी चीज नही है। उस निमित्तनैमित्तिक भावकी विधिसे हम विभावसे हटकर स्वभाव दृष्टिमे आ गए।

(१२६) **वस्तुस्वातन्त्र्यदृष्टिसे स्वभावकी अभिमुखताका विधान**—अच्छा वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टिसे कैसे हम स्वभावमें आते? मैं एक उपयोगमय पदार्थ हू और मैं अपने उपयोग का ही परिणमन करता हू। किसी अन्य वस्तुको नहीं करता हू, किसी अन्यसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है। मैं तो उपयोग मात्र हू, अपने आपका उत्पाद व्यय करता रहता हू। तो ऐसा वस्तुस्वातत्र्यको जिसने निरखा उसकी परमें दृष्टि न होनेके कारण वह अपने स्वभावकी ओर आ जाता है। तो वस्तुस्वातत्र्यका ठीक परिचय करना भी मेरे हितमें है और निमित्त नैमित्तिक भावका भाव परिचय करना भी मेरे हितमें है। कोई लोग वस्तुस्वातत्र्य न मिट जाय इस कारण निमित्तनैमित्तिक भावका खण्डन करते हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव कुछ है ही नही। आत्मामें जिस समय जो परिणमन होता है उस समय जो सामने हो उसको निमित्त कहा जाता है। यद्यपि बात ऐसी है कि आत्मामें जिस समय जो भाव पैदा होनेको है वह होता है, मगर वह होता इसही विधानसे कि कर्मका विपाक हुआ और यहाँ इस जीव

ने स्वतंत्रतासे अपनेमें रागादिक पैदा किया। जिस विधानसे जो चीज होनी है वह टलती नहीं है, वही सर्वज्ञने जाना, अवधिज्ञानीने जाना, इससे सिद्ध है कि जब जो होना होता है वह अवश्य होता है, मगर ऐसा माननेमे विधान नही चलता। जिस देशमें, जिस कालमें जो कुछ होने को है उस देशमें उस कालमें वह होता ही है, इस तरहका निर्णय रखना चाहिए। अब इस विधानको तो हटा दिया, विधानके मायने निमित्तनैमित्तिक भाव। और, एकान्त कर लिया कि जब जो होना है सो होता है, अपने आप जो चीज सामने हाजिर हो उसे लोग निमित्त कह देते है, यद्यपि कर्ताकर्मभाव एक ही होनेके कारण ऐसा भी कहा जाता है और उशमे कोई बाधाकी बात नही है, पर वस्तु सामने हो वह निमित्त है, यों अटपट निमित्तव्यवस्था प्रतिनियत है। सर्वतोमुखी निर्णय करें और उसमे जैसी जो प्रतीति हो उस माध्यमसे आप अपना प्रमाण रखें। वस्तुस्वातत्र्य न मिट जाय, इस कारण निमित्तनैमित्तिक भावके खण्डन करनेमे कोई बुद्धिमानी नही है। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातत्र्य रहता है।

(१२७) निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयका कुछ दृष्टान्त—देखो एक दृष्टान्त लो— तबला बजाने वाले ने तबला बजाया, तो उसने क्या किया? उसने तो हाथका थप्पड मारा। तबलेपर हाथका थप्पड लगनेपर वहाँ भाषावर्गणाके शब्द स्वय शब्दरूप परिणम रहे हैं। तो हाथके उस थप्पडने भाषावर्गणाके परमाणुवोको शब्दरूप नही परिणमाया, वह वस्तु अलग है, यह अलग है। उसने हाथका स्पर्श किया तब भाषावर्गणाके शब्द निकले, लेकिन उसमे अपना विधान अवश्य है, जब उसने हाथ लगाया उस विधान पूर्वक भाषावर्गणाके शब्द शब्दरूप परिणमे, तो वस्तुस्वातत्र्य नही मिट गया। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य है, किन्तु कुछ लोग कही निमित्तनैमित्तिक भाव न मिट जाय सो वस्तुस्वातत्र्यका ही खण्डन करते हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि कर्मविपाक निमित्तने किया रागद्वेष। आत्मा कुछ नही करता। कुम्हारने ही बनाया घडा। तो इस तरह निमित्त को कर्ता मानकर और उपादानमे कुछ बनना मानकर वे वस्तुस्वातत्र्यको मिटाते है इसलिए कि निमित्तनैमित्तिक भाव पुष्ट हो जाय, मगर इस उदाहरणमे भी देखिये—कुम्हार कितना है? जितना कि उसके हाथ पैर आदिक वाला शरीर है। तो कुम्हारने क्या किया? उसने तो अपने आपमे अपनी क्रिया की। उसने मिट्टीमे भी कुछ कर डाला क्या? वह मिट्टी रूप परिणम गया क्या? कुम्हारने तो अपने हाथमे अपने हाथकी चेष्टा की। अपनी चेष्टा करते हुए कुम्हारका निमित्त पाकर मिट्टी अपने आपमे अपनी परिणतिसे फैलकर उस ही अनुरूप अपने आपकी परिणति बनाकर घडा रूपमें बन गई। कही वह कुम्हार घडा नही बन गया।

तो देखो उस दृष्टान्तमे भी मिट्टी स्वतन्त्रतासे घडारूप बनती है, कही कुम्हारका हाथ लेकर नही बनती। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तु स्वतन्त्र है। होता क्या है ? कर्मका उदय हुआ तो जैसे कर्ममे अनुभाग रहता है ना क्रोध, मान, माया, लोभ तो वह कर्म भी क्रोध दशाको प्राप्त हो जाता है, मान, माया, लोभ दशाको प्राप्त हो जाता है, मगर उसकी दशा भी अचेतन है, अनुभवकी बात नही है। जैसे स्फटिक पाषाण सामने है और सामने लाल कपडा कर दिया तो स्फटिकमे लालिमा आ गई तो वह कपडा स्वय लाल है। स्वय लाल रगको प्राप्त जो कपडा है उस कपडेकी सन्निधिमे यह स्फटिक भी लाल बन गया। तो इसी तरह वह कर्म भी स्वयं क्रोध है, स्वय मान है, स्वयं माया है, स्वय लोभ है तो ऐसा क्रोधभावापन्न उस कर्मविपाकका निमित्त पाकर उसके सन्निधानमे ये अशुद्ध जीव भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक रूप परिणम गए है। आत्माका क्रोधरूप परिणमन तो चेतना भासके ढगका है और कर्म भी क्रोधरूप परिणमे उसके अनुभागके ढगका है, तो निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातत्र्य रहता है। तो इसका जो भली प्रकार निर्णय कर लेता है उसको कल्याण मार्गमे विलम्ब नही लगता।

(१२८) **आश्रयभूत कारण व निमित्तकारणके परिचयका लाभ**—तीसरी बात यह है कि जिसे लोग दृष्टान्त देकर कुछसे कुछ सिद्ध करना चाहते हैं। जैसे ये बाहरी पदार्थ होते तो आश्रयभूत हैं, पर ऐसा उदाहरण देने लगते कि निमित्तसे क्रोध नही होता। देखो नौकर ने यह काम बिगाडा, निमित्त तो मिला मगर कोई क्रोध नही करता। देखो एक वेश्या मरी उसे लोग जलानेके लिए लिए जा रहे थे तो उसे देखकर कोई कामी पुरुष सोचता है कि अगर यह वेश्या कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इसके साथ और मौज मानता। कुत्ता स्याल आदिक सोचते हैं कि यह व्यर्थ ही जलाई जा रही है, अगर ये इसे यो ही छोड जाते तो मेरा कुछ दिनोका भोजन बनता। वहाँ बैठे हुए कोई मुनि महाराज इस तरह विचारने लगे कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने व्यर्थ खो दिया। तो अगर निमित्तसे काम होता तो फिर उन सबका एक जैसा भाव होना चाहिये था, लेकिन अलग-अलग काम हुए, इससे निमित्त कुछ नही है ऐसा लोग कहते है। उनकी बात ठीक है, मगर वह वेश्या शरीर, बाह्य पदार्थ निमित्त नही कहलाता, वह तो आश्रयभूत है। निमित्त तो कर्मकी दशा है। मुनि महाराजके कर्म मन्द है इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। कामी पुरुषके कर्म तीव्र हैं इसलिए उनका ऐसा भाव हुआ, इसी प्रकार उन कुत्ता स्याल आदिकके भी कर्म तीव्र हैं इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। तो निमित्त बाह्यवस्तु नही होती। बाह्यवस्तु तो आश्रयभूत है, इन बाहरी पदार्थोको देखकर उनमे कोई राग करे तो वह उसकी मर्जी है, मगर जैसा

कर्मोदय जैसा आगया वैसा झलक गया, लेकिन यदि ज्ञानवल आ गया तो वह उसकी उपेक्षा कर सकता है और अपने आपके स्वभावमे आ सकता है, उस समय अन्य कोई वाधा नही पड सकती। तो कमसे कम यह निर्णय बनायें कि जो वाह्यवस्तुयें हैं उनका जो समागम मिला है वे मेरे सुख दुःखके कारण नहीं हैं। मेरे सुख दुःखके कारण मेरी कल्पना है, इस लिए बाहरमे कुछ भी विगड जाय क्रोध न लावें, बाहरमें कुछ भी वात बन जाय पर हर्ष न मानें। इन बाहरी बातोंके कुछ होनेसे मेरे आत्माका हित अहित नही होनेका, मेरा हित अहित तो मेरे अपने आपकी ज्ञानपरिणतिसे है, इसलिए शान्ति अगर पाना है तो बाह्य-पदार्थोंमे संग्रह विग्रह न करना, सुधार बिगाडकी चिन्ता न करना, किन्तु अपने आपमें ही मेरे ज्ञानमें सुधार बने जिससे कि मैं निकट कालमे ही मुक्त हो जाऊं।

(१२९) **आत्मपोषणके लिये स्वाध्यायकी महती आवश्यकता**—एक वात और संक्षेप मे समझें कि मानो यह जीवन १०५ वर्षोंके साधन जुटाकर अपनी कल्पनाके अनुसार कुछ मौज मान लिया तो इससे तुम्हारा क्या पूरा पडेगा ? मरण होगा, आगे जन्म लेना होगा, आगे की यात्रा करनी पड़ेगी, अनन्त काल पडा है। इन १०५ वर्षोंकी मौजसे कुछ भी लाभ नहीं होनेका। तो इन १०५ वर्षोंके लिए अपनी सब कल्पनायें न वनाइये, ऐसा उपाय करें जो सदाके लिए, अनन्त काल तकके लिए मेरी सब आकुलतायें समाप्त होवें। इसका उपाय बन सकेगा भेद विज्ञानसे, आत्मज्ञानसे, आत्मचर्चासे। इसके लिए अपने जीवनमे एक काम नित्य-प्रति करें—क्या ? स्वाध्याय और स्वाध्यायके लिए गृहस्थोंको उपयुक्त होता है रात्रिको सोने से पहिले और रात्रिमें जगनेसे बाद। ये दो समय इतने उपयुक्त हैं गृहस्थोंके लिए कि वे निर्वि-घ्न स्वाध्याय कर सकते हैं ? स्वाध्याय ऐसे ग्रन्थोंका करें कि जो सरल हों, जो तत्त्वज्ञानकी बात बतायें। देखो—कोई भी काम तब बनता है जब उसको विधिसे किया जाय। जैसे एक भोजनका ही काम ले लो, वह भी अगर विधिसे किया जायगा तो भोजन करनेको मिल सकेगा। यही बात व्यापारके सम्बंधमे है। आत्मज्ञानका भी ऐसा ही काम है। उसकी भी विधि है। आप उपयुक्त ग्रन्थोंका स्वाध्याय कीजिए, विधिवत् तत्त्वज्ञानका मनन कीजिए। कुछ वर्ष तक लगातार विधिवत् स्वाध्याय करने पर आप स्वयं ही उसका अनुभव कर लेंगे। आप स्वय अपने आत्माका प्रकाश पायेंगे।" उसमे आपको वह आनन्द प्राप्त होगा जो तीन लोककी सम्पदा इकट्ठी हो जानेपर भी नही प्राप्त हो सकता।

(१३०) **हमारा वर्तमान जीवन**—जब हम अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो विदित होता है कि मैं ज्ञानमात्र हू, उपयोगस्वरूप हू। ज्ञान प्रकाश ज्ञानप्रकाश ही मेरा सर्व-स्व है, ऐसा जान लेनेके बाद एक यह शका होती है। यह समस्या सामने आती है कि यह

मैं उपयोग मात्र, स्वच्छतामात्र, ज्ञानप्रकाशस्वरूप एक आज क्लेशमयी स्थितिको कैसे और क्यों प्राप्त होता हू ? आजकी स्थिति बडी भयकर स्थिति है। जन्म मरणके बीचमे थोडासा जीवन मिलता है तो तीन बातें है ना जन्म, जीवन और मरण। उसके बाद फिर भी जन्म, जीवन और मरण यह परम्परा चलती रहती है। जन्ममे भी क्लेश, जीवनमे भी क्लेश और मरणमे भी क्लेश, निरन्तर क्लेश ही क्लेश चले आ रहे है। जैसे बांसकी पोरमें कोई कीडा फस जाय और उस बांसके दोनो ओर छोरमे आग लग जाय तो जैसे उस कीडेकी कुशल नही है इसी प्रकार जन्म और मरण ये दोनो ओर छोर हैं, इनमे आग लगी है, बीचमे है जीवन, तो उस जीवनकी कहां कुशल है ? ऐसा जीवन हम आपको क्यो प्राप्त हुआ है इस विषयमे कुछ विचार करना है। इतना तो निश्चित है कि यह स्थिति मेरे मेरेमे अपने आप केवल मेरे सत्त्वकी ओरसे नही हुई है, क्योकि किसी भी पदार्थका सत्त्व उस पदार्थके विवाद के लिए नही होता। तो मेरा सत्त्व मेरे विगाडके लिए नही हो सकता। तो मैं अपने आपकी ओरसे, अपनी सत्ताकी ओरसे सहज निरपेक्ष होकर स्वय ऐसी विपत्तियोमे पड रहा हू सो बात तो है नही। तब यह निश्चित होता है कि मेरे साथ कोई विरुद्ध उपाधि लगी है, जिसके सन्निधानमे मेरी ये विकार दशायें होती हैं। किसी भी वस्तुमे अगर स्वभावसे विपरीत कोई विकार दशा बनती हो तो वह किसी विपरीत उपाधिके सन्निधानमे ही बन पाती है। खोजना यह है कि वह बाहरी उपाधि क्या हो सकती है। मैं हू चैतन्यस्वरूप तो बाहरी उपाधि चैतन्यस्वरूप न होगी, मुझसे विरुद्ध होना चाहिए वह उपाधि। तब ही उस सन्निधानसे इस मुझमे विकार आ सकते है। वह समान उपाधि न होगी, मैं चेतन हू तो उपाधि अचेतन है। मैं अमूर्त हू तो वह उपाधि मूर्त है लेकिन मूर्त होनेपर अगर इतना मूर्त हो, इतना स्थूल हो कि जिससे आकार प्रकार दृष्टि गोचर हो, जिसको पकड सकते हो, ऐसा कोई मूर्त पदार्थ हो तो वह भी मेरे लिए उपाधिभूत नही बन सकता है, क्योकि अमूर्तका स्थूलमूर्तिके साथ उपाधिभाव न बन सकेगा। सम्बन्ध ही नही बन सकता। तो वह मूर्त है, अचेतन है तिस पर भी सूक्ष्म है। ऐसी कोई बाहरी उपाधि लगी है जिसे कर्म नामसे कहो, प्रकृति नामसे कहो, दोनो नाम सही हैं क्योकि कर्मका अर्थ है—'क्रियते इति कर्म,' जो किया जाय सो कर्म। यद्यपि किया जाता है आत्माके द्वारा अपना उपयोग याने भाव ही किया जाता है, मगर उन भावोका निमित्त पाकर जो बात बनती है उसे भी कर्म कह सकते हैं। तो वह कर्म स्थूल नही किन्तु सूक्ष्म; अमूर्त नही किन्तु मूर्त, चेतन नही किन्तु अचेतन, ऐसी कोई एक विलक्षण योग्यताको लिए हुए पौद्गलिक कर्मउपाधि साथमे है, जिस सन्निधानमे हम आपकी ऐसी विचित्र दशायें होती हैं।

(१३१) **नवीन कर्मोंके आस्रवणकी पद्धति**—अब जरा कर्मके सम्बन्धमे दो बातो पर दृष्टि देना है कि ये कर्म बनते कैसे है, आते कैसे है ? और उन कर्मोंके उदयमे इसको रागद्वेष होते कैसे है ? इन दो उपायो पर विचार करना है, कुछ युक्तिसे, कुछ आगमसे, कुछ अनुभवसे सभी आधारोसे इस पर विचार करना है। कर्म आते कैसे है ? तो एक बात सामने आती है कि कर्म आयें और कर्म बंधें तो कर्मका बन्धन अमूर्तके साथ नही हो सकता क्योकि वे मूर्त है। मूर्तका मूर्तके साथ बन्धन बनेगा, मूर्तका अमूर्तके साथ बन्धन न बनेगा। बन्धनके मायने है फस जाना। जैसे रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे गाँठमे किया जाता है इस तरहकी गांठ हो जाना यह न सम्भव हो सकेगा। क्योकि कर्म मूर्त है, आत्मा अमूर्त है, लेकिन हाँ निमित्तनैमित्तिक भाव तो हो सकता है, जैसे कि लोग पुत्रको देखकर बन्धनमे बँध जाते है, मुग्ध हो जाते है, परतन्त्र हो जाते हैं तो वह पुत्र इतना स्थूल, इतना मूर्त, उसके साथ देखो एक परतन्त्रताका बन्धन बन गया, मगर गठजोरी नही हो सकती। किसी पिताके शरीरमे पुत्रका शरीर गठबन्धको प्राप्त हो जाय सो तो नही है। ऐसे आत्माके साथ पौद्गलिक कर्म गठबंधको प्राप्त हो जाय, ऐसा बन्धन तो नही हो सकता किन्तु मूर्तकर्मका आत्माके साथ, निमित्तनैमित्तिक भाव हो सकता है। हम बाहरी गठबन्धनकी बात कह रहे है कि कर्मका बन्धन जीवके साथ नही हो सकता, किन्तु कर्मका बन्धन कर्मके साथ हो सकता है। याने जो अभी सत्तामे पडे हैं पहिलेसे बधे हुए कर्म उनमे नये कर्म आते है और उनसे कर्मो का बन्धन होता है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा है कि आत्मामे बन्धन, क्लेश, परायत्तता हो जाती है। यहाँ बहुत तर्क करनेकी आवश्यकता नही, सामने ही विदित होता है कि यह जीव परतन्त्र होता है लेकिन बन्धन है कर्मका कर्मके साथ अब देखिये वे कर्म किस किस तरह है, कार्माण वर्गणायें अब भी जीवमे अनन्त पड़ी है, जो कि विस्रसोपचय कहलाती है। उनमे कर्म आते हैं इसके मायने है कर्मका आस्रव हुआ। ऐसे कर्मोंका आस्रव होनेमे निमित्त क्या है ? तो देखो प्रसिद्ध बात यह है कि जीवका रागद्वेष, मोहका निमित्त पाकर कर्ममे कर्म पना होता है यह बात यद्यपि सही है फिर भी और जाननेके लिए एक बात और सुनें। नये कर्मके आस्रव होनेमे निमित्त जीवका रागद्वेष मोहभाव नही है, किन्तु उदयमे आ रहे कर्म नवीन कर्मके आस्रवके निमित्त होते हैं। तब इस उदयमे आये हुए कर्ममे ऐसा निमित्तपना आया कि वे नवीन कर्मके आस्रवके निमित्त बन जायें, ऐसा निमित्तपना होनेमे निमित्त जीव का रागद्वेष मोह भाव है तो नवीन कर्मके आस्रवके निमित्तके निमित्तपनेका निमित्त है राग द्वेष मोह, न कि नवीन कर्मोंके आस्रवका साक्षात् निमित्त है। इतनी टेढी बातको बहुत घुमा फिरा कर कहनेकी आवश्यकता न होना चाहिए, क्योकि आखिर बन्धनका मूल तो जीवका

रागद्वेष हुआ। जीवमे रागद्वेषभाव न हो तो उदयागतकर्ममे निमित्तपनेकी बात नही बनती। जब तक उसमे निमित्तत्वकी बात नही बनती तब तक कर्मका बन्धन नही होता। तब सीधी बात यह है कि जीवमें कर्म रागद्वेष है इसीको सीधा नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त कहा गया है, ऐसा कुछ समझ लेनेमे उसको अपने हितके लिए बहुतसी प्रेरणायें प्राप्त होती हैं।

(१३२) **उदाहरणपूर्वक नव्यकर्मास्रवणकी विधिका विवरण**—कर्मास्रवके विधानको ठीक समझनेके लिए जरा एक दो दृष्टान्त लीजिए। जैसे सडक पर जो उजेला है अभी प्रकाश है तो यह बतलावो कि यह प्रकाश किसका है ? आम लोग तो यह कहेगे कि यह प्रकाश सूर्यका है, लेकिन एक यह नियम है कि जिस वस्तुमे जो चीज है वह चीज उस वस्तुके प्रदेश में ही रहेगी, उससे बाहर न रहेगी तो सूर्यका अगर वह प्रकाश है तो या तो यह मानो कि सूर्य यहाँ तक है, बहुत बडा है, पर ऐसा नही है। सूर्य तो करीब पौने दो हजार कोसका है इसलिए सूर्यका रूप, रस, गध, स्पर्श, प्रकाश आदिक जो कुछ भी होगा वह सब सूर्यका सूर्य मे होगा। उससे बाहर सूर्यकी चीज नही आ सकती। तब फिर सूर्यका वह प्रकाश यहा कैसे आ गया ? यहाँ तो इस बातको सभी लोग यो समझ रहे हैं कि सब सूर्यका प्रकाश है और यहाँ कहा जा रहा कि यह प्रकाश सूर्यका नही है तो फिर किसका है और कहाँसे आया ? तो सुनो यह प्रकाश जो जमीनपर है वह इस जमीनका ही प्रकाश है। भीत पर अगर धूप आयी है तो वह प्रकाश उस भीतका ही है। लेकिन वह प्रकाश सूर्यका निमित्त पाये बिना नही हो सकता, इसलिए निमित्त दृष्टिसे एकदम यह कहा जाता कि सूर्यका प्रकाश है। कहने मे गल्ती नही है। लेकिन उसके लिए उसका मंतव्य समझना चाहिए। अच्छा तो यह सदेह होता कि हम कैसे जानें कि यह प्रकाश सूर्यका नही है, यह प्रकाश भीतका है ? तो सुनो—सूर्यका प्रकाश होता तो उसका प्रकाश तो एक सा ही होगा, लेकिन दर्पणपर सूर्यका प्रकाश बडा तेज चमकता है और जमीनपर कम पडता है तो यह भेद क्यो आया ? अगर यह प्रकाश सूर्यका है तो वह तो हर जगह एक समान रहना चाहिए। चाहे भीत पर पडे, चाहे पृथ्वीपर पडे, चाहे दर्पण पर पडे, लेकिन यह भेद क्यो हुआ ? उसका कारण यह है कि यह प्रकाश सूर्यका नही है। दर्पण पर पडने वाला प्रकाश दर्पणका है, भूमिपर पडने वाला प्रकाश भूमिका है, भीतपर पडने वाला प्रकाश भीतका है। सूर्य सामने हो तो ऐसी स्थिति बनती है। दर्पण सामने हो तो सूर्यका निमित्त पाकर इस रूप झलक गया। ये सब उपादानकी विशेषतायें हैं। इस वर्णनसे आप इतना समझ लेंगे कि वस्तुका स्वरूप कैसे स्वतत्र होता है ? प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, अपने आपमे अपना उत्पाद व्यय करता रहता है। यह वस्तु का एकस्वरूप है, ऐसा जाने बिना, स्वतत्रताका कुछ बोध हुए बिना लोगोको शान्तिका मार्ग

न मिल पायगा। तो साथ ही साथ इसपर भी दृष्टिपात करते जायें। प्रकृत बात कह रहे थे कि भूमिपर जो प्रकाश है वह भूमिका है, सूर्य भी प्रकाशमान पदार्थ है, स्वय प्रकाशित है और परके प्रकाशमे निमित्तभूत है। भूमि ऐसा पदार्थ है कि वह स्वयं प्रकाशित नहीं है, किन्तु सूर्यका निमित्त पाकर प्रकाशित हो जाय, इतना उसमे माद्दा है।

(१३३) **निमित्तमें निमित्तत्वके निमित्तकी मौलिकता**—दर्पण पर जो प्रकाश आया है वह दर्पणका प्रकाश है और उसमे सूर्य निमित्त है, और कदाचित् उस दर्पणको सडक पर खडे खडे ही इस हालकी तरफ कर दिया जाय तो प्रकाश हालमे आ जाता है, बच्चे लोग अपने खेलमे ऐसा किया भी करते हैं। अब बतलाओ उस हालमे जो दर्पण द्वारा प्रकाश आया उस प्रकाशका निमित्त कौन है? उस प्रकाशका तो दर्पण निमित्त है सूर्य नही। और दर्पण पर जो प्रकाश आया है उसका निमित्त सूर्य है, लेकिन दर्पणमे ऐसा निमित्तपना आया उसमे सूर्य सन्निधान निमित्त है जब कि यह दर्पण कमरेके अन्दरके प्रकाशका निमित्त बना। इसके लिए निमित्त है सूर्य। इसलिए एकदम यहांके प्रकाशको भी सूर्यका प्रकाश कहा जाता है, पर गहरी दृष्टिसे अगर देखा जाय तो कमरेके अन्दर आने वाले प्रकाशका निमित्त है दर्पण और दर्पणमें प्रकाश आनेका निमित्त है सूर्य। इसी तरह यहां देखें कि नवीन कर्मोंके आश्रवका निमित्त है उदयमे आये हुए पुद्गल कर्म और उन पुद्गल कर्मोंमे ऐसा निमित्तपना आ जाय कि वे नवीन कर्म निमित्तके आश्रव बनें इसमे निमित्त है ये रागद्वेष मोह भाव। यह सब समझ लीजिये कर्मबन्धनकी तरकीब।

(१३४) **आस्रवकी मुद्रा**—अब देखिये—ये आश्रव कैसे क्या हुआ करते हैं। तो आश्रवके मायने आना और बधके मायने बँधना। बंधन कब होता है जब कमसे कम दो समय तक ठहरे। स्थिति पडी, उसके साथ बध होना पडता है। स्थिति तो सागरो पर्यन्त चलती रहती है। इस समय बहुत पहिलेके बाँधे हुए कर्म भी इस आत्माके साथ बँधे हैं। देखो—हम आप लोगोकी वर्तमान स्थिति कुशलताकी नही है। अगर ऐसा वैभव, समागम आज पाया है तो इसमे मौज न मानें और अपनी शान्तिके लिए अपने को सुखी बनानेके लिए ऐसा विचार करें कि मेरेको जो वैभव मिला है वह मेरी जरूरतसे कई गुना अधिक है। इतने की जरूरत न थी। कैसे जाना कि जरूरतसे अधिक है? देखो—इससे भी कई गुना कम मिलता तो भी गुजारा होता कि नही? और लोगोका भी गुजारा हो रहा कि नही? तो ऐसा ही जान कर सतोष करना चाहिए। तृष्णा न करें और दूसरोका देख देखकर मनमे मोहभाव न लायें। जो हो रहा है ये सब कर्मके ठाठ है। इनसे मेरे आत्माका उद्धार नही है। यहांकी मौजमे न आयें। यह सब पूर्वबद्ध कर्मका विपाक है जो नाना स्थितियां बन रही है और

कभी कोई क्लेश आये तो उसमे खेद न मानें और यहां तक कि प्रभुसे प्रार्थना करें तो यह प्रार्थना न करें कि हे भगवन मुझे विपत्ति न आये। हे भगवन मेरे पर कोई उपसर्ग न आये, निर्धनता न हो, अरे मांगना ही है तो यह मांगो कि हे प्रभो! मेरेमे ऐसा ज्ञानबल प्रकट हो कि चाहे कितने ही कष्ट आ जायें, मैं उनको समतासे सह लूं, याने मुझे कष्टसहिष्णुता प्राप्त हो। देखो—भगवानसे मांगनेसे कुछ मिलता नही और मांगनेकी कोई हद भी नही होती। एक सहनशीलता (कष्टसहिष्णुता) आ गई तो फिर किसी भी प्रकारका दुःख हो तो चलो उन दु:खोसे निवृत्त तो हो गए। तो यह सब जितना जो कुछ हो रहा है, विकल्प होते हैं, अज्ञान होता है, रागद्वेष होते हैं, कल्पनायें उठती है, लगाव बनता है। यह सब कर्मविपाक है। ये भावास्रव व द्रव्यास्रवकी द्विविधामे पडे रहते हैं।

(१३५) **कर्मविपाक व जीवविभावका परस्पर योग**—अब दूसरी बात इसी सम्बन्ध मे कहना है कि ये कर्मविपाक कैसे होते हैं? कर्मफल कैसे मिलता है? तो ग्रन्थोमे लिखा है, सतजनोका उपदेश है कि कर्म जब उदयमे आते हैं तब इस जीवके रागद्वेष मोह होता है। पर एक बात विचारिये जो कर्म बधे है उन कर्मोमे स्थिति भी पडी थी कि ये कर्म इतने वर्ष तक जीवके साथ रहेगे और उनमे अनुभाग पडा था कि जब ये कर्म उदयमे आयेंगे तो उसमे इतनी शक्ति वाले रागद्वेष इसमे पैदा होगे। तो आप समझिये कि जिस जीवमे रागद्वेष पैदा होते हैं यह तो बादकी बात समझिये लेकिन जो कर्म बधे हैं उन कर्मोमे रागद्वेष पहिलेसे ही भरे है। जब कर्मका उदय आयगा तब जीवमे रागद्वेष होगे लेकिन कर्म जबसे बधे हैं तबसे लेकर लगातार अब तक उसमे रागद्वेषके अनुभाग पडे हैं, जिन्हे अनुभाग कहते हैं। ग्रन्थोंमें करणानुयोगमे बताया गया है कि इसमे इतने अनुभागका राग है इतने अनुभागका द्वेष है। क्रोधप्रकृति नाम क्यो धरा कि इसमे क्रोधन दशाकी प्रकृति पडी हुई है, मानमे मानकी प्रकृति पडी है, उसी पर तो नाम है। बंधते के साथ ही उसमे अनुभाग आ गया था। तो ध्यान हम आपका इस ओर दिलाते हैं कि जो आपको सरल पडेगा। बीचमे जो थोडासा कुछ कठिन प्रकरण आ गया है उसको सुनकर अधीर न हो जाना। बात यह बतला रहे हैं कि जो प्रकृति पडी उसमे क्रोध, मान, माया, लोभकी प्रकृति पडी है और उसमे उस प्रकार का अनुभाग पडा है और जब उदयमे आता है तो क्रोधप्रकृतिमे क्रोध प्रकट होता है, लेकिन यहा यह बात जाननेकी है कि वह अचेतन प्रकृति है। आप उसको महसूस करना चाहेगे अपने ढगसे तो वह स्वरूप न मिलेगा। उस क्रोधमे क्रोध न होता है मगर वह अचेतन क्रोध न है। जिसे समयसारमे अनेक जगह बताया है कि क्रोध, रागद्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति ये दो दो प्रकारके है—चेतन और अचेतन। अचेतन क्रोध है तो कुछ बात तो होगी या

जिस चाहे कर्मका नाम क्रोध धरो या उसमे मान माया आदि नाम न रखो, इसका कारण क्या है। एक विलक्षणता है। विलक्षणता क्या है कि क्रोधमे क्रोधनदशा प्रकट होती है। बात यहाँ तक कुछ कठिन थी, आगे आप समझेंगे कि जिस समय कर्म उदयमे आते हैं उस समय तो उस कर्ममे क्रोधकर्ममे एक क्रोधन दशा हुई। वह क्रोधन दशा तत्काल हुई, उस ही समय इस उपयोगस्वरूप जीवमे अनेक बातें एक साथ पैदा हो गई। क्या? चेतना, प्रतिभासना, उसका क्षोभ होना, उसका लगाव होना, उसको अहंरूपसे अंगीकार करना, और वह होता है चेतन-रूपसे। जैसे एक स्फटिक स्वच्छ पत्थर है, स्फटिक पाषाण स्वय ही लाल, काला, पीला आदिक रूप नही होता, वह तो स्वयं स्वच्छ होता है, किन्तु उसमे लाल, काला, पीला जो कागज अथवा कपडेकी उपाधि लग जाती है उससे वह स्फटिक उस रंगका हो जाता है। मगर वहाँ यह भेद अवश्य है कि उस स्फटिकमे लाल पीला आदिक रूप परिणमन और ढगका है और कपडा अथवा कागज और ढंगका है। तो उसी प्रकारसे अचेतन क्रोध प्रकृतिमे जो क्रोधन अवस्था है वह अचेतन है, वह उसके ढगकी चीज है, जैसा अनुभाग बांधा था उसका निमित्त पाकर इस जीवमे चूंकि यह उपयोगमय है, स्वच्छस्वरूप है, तो इसकी स्वच्छतामे विकार आया है, वह विकार किस तरहका आया है? जिस जिस तरहकी प्रकृतिका उदय है। अब जो इन विकारो को अपनाते हैं उन्हे तो कहते हैं मोही अज्ञानी, मैं क्रोधी हूं, मानी हू, इस तरह अपने आपको मान लेते है वे कहलाते है अज्ञानी। और जो यह जानते हैं कि यह सब कर्मकी लीला है, कर्म का परिणाम है, इसे आत्मा नही करता है उसे कहते हैं ज्ञानी, इसका सकेत समयसारकी ७५ वी गाथामे दिया हुआ है। 'मोहरागद्वेषसुखदु.खादिरूपेणातः उत्प्लवमान कर्मण. परिणाम' कर्मों के परिणाम मोह रागद्वेष सुख दु ख आदिक रूपसे अंतरगमे उठ रहे हैं, उनका व्याप्य व्यापक सम्बध कर्मके साथ है। ये सब बातें इस बातको पुष्ट करती है कि उन प्रकृतियोमे ऐसी अवस्था होती है और यह उपयोगस्वरूप आत्मा उस क्रोधादिभावायन्न कर्मविपाकका निमित्त पा कर यह स्वय रागद्वेषरूप चेतन रागद्वेषरूप परिणमता है, यही इसके साथ क्लेश है।

(१३६) **क्लेश भी एक और क्लेश मेटनेका उपाय भी एक**—जीवके चिदाभासरूप क्लेशको मेटनेका एक उपाय है। पहिले तो यह जानें कि हम आपको क्लेश कितने है, लोग तो बतायेंगे कि हमारा लडका यो नही बन सका, इसका क्लेश है। यो लोग पचासो तरहके क्लेश बतावेंगे, पर वास्तवमे क्लेश सिर्फ एक है—क्या? परको निज मानना, उस परमे स्व का विकल्प करना, बस इतना ही क्लेश है। बाकी कितने ही क्लेशोके नाम लेकर कहा जा रहा हो लेकिन वे सब क्लेश उठे किस तरह है, उनकी पद्धति क्या है? तो बताना यह चाहिये कि परको निज जान लिया, परमे लगाव लगा लिया, परकी ओर उपयोग बना लिया, बस

यही मात्र एक क्लेश है। तो इस क्लेशको दूर करनेके उपाय कितने होंगे? नाना नही हो सकते। वह भी उपाय एक है, परसे विमुख हो जाय और निजके सम्मुख हो जाय। स्वमे स्व का अनुभव करना, परको पर जानना। 'निजको निज परको पर जान, फिर दु:खका नहिं लेश निदान।' इन दु:खोसे मुक्त होनेका उपाय है जिसे सरल भाषामे कहो—भेदविज्ञान। भेदविज्ञानका अर्थ है—परको अपनेसे भिन्न समझना। देखिये— मकान, वैभव, सोना, चाँदी आदिक अपनेसे निराले है ना, और जो घरमे परिजन हैं, कुटुम्बीजन है वे भी हमसे निराले हैं ना, और यह शरीर यह भी निराला है, कमसे कम कहते तो जावो (हसी) अच्छा, और जो भीतरमे कर्म बँधे है वे भी निराले है और इन कर्मोंके उदयसे जो रागद्वेष मोह पैदा हुआ वह भी निराला है। वह कैसे निराला है कि जीव सदा रहता है। रागद्वेषभाव सदा नही रहते। मैं मिटने वाला नही हू। ये रागद्वेष कर्मके उदयमे होते और फिर मिट जाते, इससे जाना कि ये रागद्वेष मुझसे न्यारे हैं और मनमे जो विचार उठता है कल्पनायें उठती हैं, ये भी निराली हैं कि नही? ये भी निराली हैं, क्योकि ये सब उपाधि की वजहसे विचार उत्पन्न होते हैं।

(१३७) आत्मनिर्णय—मैं क्या हू? मैं हूं एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मवस्तु ज्ञायक भाव, ज्ञानमात्र। एक अपने को समझना हो तो ज्ञानमे एक बात लावो कि मैं सिर्फ जानकारी मात्र हू, ज्ञानमात्र हू, ज्ञानसे अतिरिक्त और मैं कुछ नही हू, ऐसा अपने आपमें भाव लावें तो ऐसा ज्ञानमात्र भाव जब चित्तमे आयगा तो ज्ञानमे ज्ञान जब समा गया, ज्ञानमे जब ज्ञानस्वरूप ज्ञेय बन गया तो और विकल्प न रहनेके कारण ज्ञानका अनुभव होगा और उस ज्ञानानुभवमे जो अनुपम आनन्द है वह आनन्द हमारे भव भवके कर्मोंको काट देगा। जन्म मरणके सकटोसे छूट जायेंगे। तो हमे आनन्द पानेके लिए बाहरमे करनेको कुछ नही पडा है। यह निर्णय बना लें तो अपने पर बडी दया होगी। शान्ति पानेके लिए बाहरमें कुछ करनेको नही पडा है। किन्तु भीतरमे करनेको पडा है। क्या करनेको पडा है? अज्ञान हटे और ज्ञान ज्ञानके प्रकाशमें आवे—जैसे बोलते हैं तमसोमाज्योतिर्गमय,' याने अधकारसे हटाकर मुझको ज्ञानज्योतिमे ले जाओ। फर्क क्या पडा कि अन्य लोग ऊपर नीचे आँखें गडा कर कहते हैं कि हे भगवन् मुझे अधकारसे उठाकर ज्योतिमें लावो, और यहाँ ज्ञानी अपने आपमे अपने स्वरूपको ज्ञानमे लेकर अपने स्वरूपमे कह रहा है, अपने अतरगमे पुकार रहा है कि 'तमसोमाज्योतिर्गमय' अर्थात् मेरे अन्दर बसा हुआ अज्ञान अंधकार दूर हो जावे और अपना वास्तविक ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जावे। मेरा अज्ञान हटे और ज्ञानप्रकाश मेरेमे आवे तो मेरा भला हो सकता है।

(१३८) सरस्वती माताका प्यार—हमारे पूर्व ऋषीसतोने यह स्पष्ट घोषणाकी है

कि यह संसारी प्राणी सुख चाहता है और दुःखसे डरता है। तो मैं तेरे मनके मुताबिक कुछ उपदेश करूँगा। तू घबडा नही। लेकिन जैसे किसी बच्चेको किसी विपरीत कामकी धुन लग जाय तो वह उसमे हित मानता और उसकी ही हठ करता है। उसकी माँ उसे कितना ही समझाये, पर उसके मनमें नही आता। क्या माँ कभी उस बच्चेके विरुद्ध भी कुछ कर सकती है ? वह तो उसके हितके लिए ही सारी बातें किया करती है तिसपर भी उस हठी अज्ञानी बालकको जो चित्तमे आया उस ओर ही वह बढता है इसी प्रकार अज्ञानी जीवोको जो कुछ मनमे आया, विपरीत भाया है तो वह विपरीत मार्गकी ओर ही चलता है, यह जिनवाणी माँ कितना ही समझाती है लेकिन इसके चित्तमे नही उतरता। क्या यह श्रुत-देवता कभी मेरे अहितके लिए भी बोल सकता है ? जितना जो कुछ यह जिनवाणी बतलाती है, इस शारदा, सरस्वती माँ का सारा प्रयास यही है कि ये ससारी प्राणी दुःखसे हटकर सुखमे आयें। मगर इन अज्ञानियोंकी समझमे नही आता।

(१३६) **सर्वाधिक वस्तुसे प्यारका कर्तव्य**—एक बात यही देखलो लोग यह चाहते हैं कि मैं अधिकसे अधिक राग बनाये रहूं, प्रेम बनाये रहूं और किससे प्रेम बनाना चाहते हैं जो इनको प्रेमके लायक जँचते है। तो संत भी यह उपदेश करते हैं कि तू सही है, ठीक मार्ग पर है, तू प्यार कर मगर उससे अपना प्यार बना जो सर्वाधिक प्यारकी चीज हो। तुझे प्यार करनेको हम नही मना करते, खूब प्यार कर, डटकर प्यार कर लेकिन प्यार उससे कर जो जगतमे सर्वाधिक प्रिय चीज हो, ऐसी चीजसे प्यार करनेसे क्या लाभ कि जिसका प्यार टिकता नही। अभी प्यार किया कुछ समय बाद वह प्यार छूट गया, दूसरी चीजसे प्यार करने लगा, तो ऐसी चीजसे प्यार करनेसे फायदा क्या ? प्यार कर उस तत्त्वसे, उस वस्तुसे, उस तथ्यसे जो लोकमे सर्वाधिक प्रिय वस्तु हो। अब विचार करें कि ऐसी कौनसी वस्तु है जो लोकमे सर्वाधिक प्रिय होती है। उससे अधिक प्रिय वस्तु नही मिला करती। तो जरा इस बातको एक घटना द्वारा समझिये किसी छोटे ४–६ माहके बच्चेको सबसे प्रिय चीज क्या होती है ? अपनी माँ की गोद। कभी उस बच्चेको कोई डराये तो वह बच्चा अपनी माँकी गोदमें छिपकर अपनेको रक्षित समझता है। तो उस बच्चेको सबसे अधिक प्रिय है अपनी माँ की गोद। वही बच्चा जब कुछ बडा हो जाता है, ४—६ वर्षका हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। अब उसे माँ की गोद भी प्रिय नही रहती माँ उसे खाने पीनेको बुलाती है, पर वह बच्चा खेलमे चित्त होनेसे भाग जाता है। अब उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। वही बच्चा जब बढकर ८–१० वर्षका हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाती है विद्या। नई नई बातें सुनता है, भूगोलकी बातें,

जोड, घटाना, भाग आदिकी बातें सुनता है तो वे बडी प्रिय लगती हैं, अब उसे खेल खिलौने प्रिय नही रहते। वही बालक जब १७, १८ वर्षका हो जाता है तो फिर उसे वह विद्या भी प्रिय नही रहती। उसे प्रिय हो जाती है डिग्री। उसको तो विद्या सीखनेसे मतलब नही, बस किसी तरहसे पास हो जाना चाहिए, डिग्री मिल जानी चाहिए। वह परीक्षा देनेके बाद पता लगाता है कि कापिया किस प्रोफेसरके पास गई। अनेक प्रयत्न करके वह परीक्षामे पास होना चाहता है तो उसे अब वह विद्या प्रिय नही रहती। वही बालक जब कुछ और बडा हो जाता है तो उसे सर्वाधिक प्रिय स्त्री हो जाती है। अब उसे वह डिग्री भी प्रिय नही रहती। कुछ वर्ष बाद जब कुछ बच्चे हो जाते हैं तो फिर बच्चे उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाते है। अब उसे वह स्त्री भी प्रिय नही रहती। कुछ और बडा होनेपर उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाता है धन। क्योकि उसे बच्चोका पालन पोषण भी करना है, समाजके लोगोके बीच भी रहना है। अब उसे वे बाल बच्चे भी सर्वाधिक प्रिय नही रहते। मान लो वह किसी दफ्तर मे काम करता हो, कदाचित् टेलीफोन आ गया कि घरमे आग लग गई तो वह झट घर भगता है। वहां क्या देखता है कि आग बडी तेज लग गई है। बढती जा रही है तो वह झट घरका सारा सामान निकाल देता है। घरके बाल बच्चोको बाहर निकाल देता है। मान लो कोई बच्चा अभी नही निकल सका, घरके अन्दर ही रह गया तो वह सडक पर खड़े हुए लोगोंसे मिन्नत करता है कि भैया मेरे बच्चेको कोई निकाल दो। हम १० हजार रुपये देंगे, अब बताओ उसे क्या प्रिय हो गया? उसे प्रिय हो गए प्राण। अब उसे धन भी प्रिय न रहा। मान लो कदाचित् उस घटनामे वह विरक्त हो जाय, घर द्वार छोड कर जगलमे पहुच जाय वहां पहुचकर वह ज्ञानाभ्यास करे। वहां मानो उसे हो गया आत्मस्वरूपका दर्शन। अद्भुत आनन्द प्राप्त कर ले, अब उसे चाहे कोई भी जीव जन्तु चीथे, खाये, मारे अथवा कोई शत्रु सताये फिर भी वह अपने प्राणोकी रच भी परवाह नही करता। उसे वहां प्राण प्रिय नही रहते। वह तो अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमे लवलीन रहता है। तो अब उसे सबसे अधिक प्रिय वस्तु हो गई ज्ञान। उसका प्यार आत्महितकारी कदम है।

(१४०) सर्वाधिक प्रिय तत्त्वकी शरण्यता—अब ज्ञानके बाद सर्वाधिक चीज क्या हो सकती है सो आप लोग बताओ। इसके बाद भी अगर कोई सर्वाधिक प्रिय चीज हो तो हमे मालूम नही। आप लोगोको अगर मालूम हो तो बताओ। इससे अधिक प्रिय चीज और कुछ तो नही है ना? तो सर्वाधिक प्रिय चीज है ज्ञान। अब यह समझिये कि सर्वाधिक प्रिय वस्तु, उत्तम वस्तु, शरणभूत वस्तु है तो यह एक ज्ञान तत्त्व है. अपने ज्ञानस्वरूपसे, ज्ञानस्वभावसे इसे प्यार हो तो यह चीज तो सारभूत है और बाकी बातें तो अत्यन्त असार हैं। अब र।र-

हीन बातें होकर भी कुछ बातें ऐसी है कि जो गृहस्थावस्थामे रह कर करनी पडती हैं । ठीक है करनी पडती हैं तो करें मगर सही तत्त्व अपनी दृष्टिमे रखें कि मेरे लिए सारभूत है तो अपने अन्तः प्रकाशमान प्रभुस्वरूपकी उपासना ही सारभूत है, बाकी सब असार है । स्थिति है । कैसे समझा ? यह तो प्रकट दिख रहा कि घर मकान मेरेसे भिन्न है, मेरेसे मिले हुए नही हैं । इनको छोडकर जाना पडता है और छूटे हुए तो है ही । देखो आप लोग यहाँ मन्दिरमे बैठे हुए है तो कही आपका मकान आपके साथ चिपक कर तो नही आया । वह आपसे अत्यन्त भिन्न है, असार है, ये धन वैभव मकान महल कुछ भी सारभूत चीजें नही है । मेरे लिए सारभूत चीज है तो मेरा ज्ञान है । अगर उन बाह्य चीजोसे कुछ सुख मिलता है तो वह सुख उन बाह्य चीजोसे नही आया, किन्तु उन बाह्य पदार्थोंके प्रति जो अपने अन्दर ज्ञान बनाया, कल्पना बनाया, ख्याल बनाया उसका सुख है । आप कदाचित दुःखी हो रहे हैं तो कही किसी बाह्य पदार्थसे दुःख नही आता, किन्तु आपने उन बाह्य पदार्थोंके प्रति उस ढंगका ख्याल बनाया, ज्ञान बनाया, उससे आप दुःखी हो गए । तो यहाँके ये सुख दुःख तो ज्ञानकी कलापर निर्भर करते है । कही धन कम होनेसे दुःख नही होता, परिवारमे किसीके मर जानेसे दुःख नही होता । किंतु जो यह कल्पना बनाया कि हाय मेरा यह चला गया, बस इस ज्ञानकी कल्पनाने ही उसे दुःखी कर डाला । ये सुख दुःख तो कल्पनाके आधार पर चलते हैं । अगर अपने आपको एक सच्चा ज्ञानप्रकाश हो जाय, तो फिर ये दुःख नही पैदा हो सकते ।

(१४१) **ज्ञानकी शुद्ध व अशुद्ध दशावोंके परिणामोंका अन्तर**—जो दुःखी होनेकी विधि है वह भी ज्ञानकी एक दशा है और जो सुखी होनेकी विधि है वह भी ज्ञानकी ही एक दशा है । और जो आनन्द पानेकी विधि है वह भी ज्ञानकी ही एक दशा है । जहाँ भ्रम है वहाँ क्लेश है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ उसे आनन्द है । देखो है तो मामूली सी बात पर वहाँ एक तथ्यका दर्शन होगा । जब कोई सेठ अपनी बारात ले जाता है तो पहिले दिन एक बडा जलूस निकालता है, जिसे कहते हैं चढक । यह चढक शब्द ठीक ही रखा गया । चढकका अर्थ है चढ गया । किस पर चढ गया ? लडकीके बापपर चढ गया । तभी तो देखो आजकल लडकीका बाप बहुत दुःखी हो जाता है । लोगोके आजकल शादी ब्याहमे बहुत कुछ फिजूल खर्च रख दिया है । उस फिजूल खर्चके कारण लडकीका बाप हैरान हो जाता है । तो पहिले दिन जब चढक गया तो उस दिन लडकेका बाप कोई एक हजार रुपयेकी आतिशबाजी फूँक देता है । वह भी कोई १०–१५ मिनटमे ही फुँक जाता है । देखो १०००) का नुक-सान हो गया फिर भी इस नुकसानसे लडकेका बाप रच भी दुःखी नही होता । उसके दुःखी

न होनेका कारण यही था कि उसने उसके विषयमे सही ज्ञान पहिलेसे ही बना रखा था, क्या कि यह आतिशबाजी तो फुकनेकी ही चीज है। तो इस सही ज्ञानके कारण उसे दुःख नही होता। और कदाचित् उस सेठका कोई चार-पाँच रुपयेका गिलास गुम जाय, मानो १० गिलास लाया था और रह गए ९ ही तो वह उसके पीछे बडा दुःखी होता है। उसको वह दुःख क्यो आया ? इसलिए कि उसने उसके विषयमे सही ज्ञान न बनाया था। उस गिलासके विषयमे उसे यह भ्रम बना था कि वह तो मेरा था, वह मेरे पास रहने वाली चीज थी। इस मिथ्या धारणाके कारण ही वह दुःखी हुआ। इसी प्रकार अगर यहाँ गृहस्थावस्था मे यह ज्ञान बनाये रहे कि ये जो समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, मिटने वाले है। यह बात सच है ना ? जितनी सयुक्त वस्तुवें हैं उनका वियोग नियमसे होगा। जो कुछ भी स्त्री पुत्र पिता वैभव घर इज्जत लोगोके द्वारा कुछ मान्यता है याने ये सब जो मायायें हैं ये मिटने वाली हैं, यह विश्वास बनाये रहे तो अचानक कुछ भी घटना घट जाय तो आपको क्लेश न होगा और अगर इस श्रद्धासे चिगे तो क्लेश होगा। तो सच्चा ज्ञान ही आनन्दका कारण हैं और भ्रम वाला ज्ञान ही दुःखका कारण है।

(१४२) **सुख दुःखका कारण स्वयंका परिणाम**—सुख दुःख देने वाला कोई दूसरा नही है। 'सुख दुःख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुःखकी खान ॥' तो भाई एक निर्णय बने कि मेरेको जितने क्लेश हो रहे है वे सब मेरे रागद्वेष मोहसे हो रहे हैं, किसी दूसरी घटना के कारण नही होता। जब अज्ञान छाया हुआ है तो दूसरे जीवोंसे यह विरोध रखता है, द्वेष करता है—इसने मुझे सताया। अरे आपका कोई सताने वाला नही है, आपका रागद्वेष मोह ही आपको सताने वाला है। दूसरा क्या कर रहा ? वह तो अपने आपमे अपनी चेष्टा कर रहा है। जैसे एक बालक २० हाथ दूर खडा हुआ किसी बालकको चिढा रहा है। जीभ निकालता है, अगूठा दिखा रहा है, वह तो २० हाथ दूर खडा हुआ बालक चिढता है, रोता है, दुःखी होता है। अब भला बतलाओ—उस बालकने इसे दुःखी किया क्या ? अरे उसने तो अपने आपमे अपनी सब कुछ परिणतिकी। अपनी जीभ हिलायी, अपना अगूठा दिखाया। पर वह २० हाथ दूर खडा हुआ बालक दुःखी होता है अपनी कल्पनासे। अगर वह यह ज्ञान करे कि इसने अपनी ही तो जीभ हिलायी, अपना ही तो अगूठा दिखाया, मेरेमे उसने क्या किया ? इस तरहकी दृष्टि बने तो फिर क्यो चिढे ? तो जितने भी लोग दुःखी हैं वे अपने आपकी कल्पना से। जगतमे मेरा कोई दूसरा विरोधी नही है। मैं कल्पनायें करता हू, और दुःखी होता हू। मैं कल्पनाओंको छोडूं और सुखी हो लूं।

(१४३) **कल्पनाओंकी निर्मूलता**—लो कल्पनायें छोडनेके प्रसंगकी बात सुनो—देखो

जगतके ये लौकिक वैभव मकान सोना चांदी आदिक ये प्रकट पर डले है, भिन्न हैं, इनसे मेरा क्या तालुक ? परिजन मित्रजन कुटुम्बीजन जितने जो कुछ है वे सब भी मेरेसे जुदे हैं, इनसे भी मेरा कोई सम्बंध नही। यहाँ तक कि देहसे भी मैं न्यारा हू, देह भी मेरा कुछ नही है। मैं क्या हू ? इस देहसे निराला कोई एक चैतन्यस्वरूप जीव हू। इसके भीतर एक क्षेत्रावगाह कर्म भी पडे है वे कर्म भी मैं नही हूं, क्योकि वे जड है, मै चेतन हू, और जब उन कर्मोंका उदय होता है तो इस चेतनमे एक ऐसी छाया आती है जो एक रागद्वेषरूप बन जाता है। तो वह रागद्वेष भी मैं नही हू। जैसे दर्पणके सामने कोई बच्चा बैठा हो और उसकी छाया दर्पण मे आ रही, तो दर्पणमे जो छाया आयी है क्या वह बच्चा है ? अरे बच्चा वह है जो दूर खडा है, और दर्पणमे जो छाया आयी है वह क्या दर्पणकी असली चीज है ? ... नही। क्योकि बच्चेकी छाया पड रही है। तो जैसे उस छायासे दर्पणका स्वरूप निराला है इसी प्रकार ये रागद्वेष विषय कषाय, इच्छा, विचार संस्कार, कल्पनायें इन सबसे निराला मेरा स्वरूप है। वह स्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिमात्र। ये कुछ भी मेरे नही है। ऐसा निर्णय करके ये पदार्थ अगर उल्टे चलते हो तो ठीक, सीधे चलते हों तो ठीक। जैसे चलते हो चलें। इनमे मेरा कोई सुधार बिगाड नही है, ऐसी दृढ श्रद्धा अपनी बनाये रहो। करें अपनी शक्तिके अनुसार। नही करनेकी शक्ति है तो श्रद्धा तो रखें, जानें तो सही कि इसका सब कुछ इसमे ही होता है। इससे निकलकर मेरेमे कुछ नही आता। मेरा सब कुछ मेरेमे ही होता है, मेरेसे निकालकर बाहरमे कुछ भी नही जाता, इस प्रकारकी सच्ची श्रद्धा तो रखें तो अवश्य ही कल्याण होगा। बेड़ा पार होगा। और अगर इस श्रद्धासे विमुख हुए तो कल्याण नही हो सकता।

(१४४) जीवतत्त्वकी भौतिक पदार्थोंसे विविक्तता—बात यह चल रही थी कि भाई हमे सुख मिले, दुःख न रहे, तो ऋषी संतोके उपदेश इसीलिए हैं कि हमे शान्ति मिले, दुःख न मिले। थोडा विवेक करके सोचेंगे तो सब समझमे आ जायगा और एक विवेकको हटा लेंगे तो कुछ समझमे न आयगा। भीतरमे परखो, बाहरके विचार देखकर जरा अपने अन्दर कुछ निरखने चलें, भीतर जो सोच रहा है, विचार रहा है, ऐसा वह कौन पदार्थ है ? वह पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप। आत्मा और कुछ नही। कुछ लोग कहते है कि ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मिल गए तो जीव बन गया, मगर यह बात नही है। अगर पृथ्वी, जल, अग्नि वायुके मिलनेसे जीव मिल जाय तब तो बडा गड़बड हो जायगा। जैसे जब कभी मिट्टीकी हांडीमे खिचड़ी पकाई जा रही हो तो वहा देखो मिट्टी भी है, जल तो उसमे भरा ही हुआ है, अग्नि भी खूब तेज जल रही है, और हवा भी वहा खूब भरी हुई है। हांडीके अन्दर

पानीका उबाल होता है, भाप निकलती है, तो वहा हवा भी है । अब देखो वहाँ पृथ्वी, जल अग्नि, वायु सभी मिल गए । अगर इन चारोके मिलनेसे जीव बनता होता तब तो उस हाडी मे से हाथी, घोडे, बाघ, शेर सब कुछ निकल पडने चाहिए था, पर ऐसा तो नही होता तो उनकी यह बात गलत है । इन चारो चीजोके सम्बन्धसे जीव नही बनता । जीव तो एक ही सत्वान पदार्थ है, बस जब यह श्रद्धा नही रहती तब वह किसी भी कामका नही रहता जीव । दुःखी रहता है । अपनी श्रद्धा बनावें कि मैं हू, स्वतत्र हू अर्थात् मेरी सत्ताको किसी ने बनाया नही । ऐसा बताते ही हैं दार्शनिक लोग, वैज्ञानिक लोग भी यही कहते हैं कि जो असत् पदार्थ है उसकी उत्पत्ति नही होती जो सत् है उसका कभी विनाश नही होता । जो है नही, क्या वह बन जायगा ? जो है क्या वह मिट जायगा ? वे भी बता देंगे कि जिनकी सत्ता ही नही है वे कभी बन नही सकते । और जिनकी सत्ता है वे कभी मिट नही सकते । उसकी दशा कितनी ही बदल जाय मगर वे मिट नही सकते । तो मैं हू, अपने आपमे हूँ इसका तो विश्वास है कि मेरी सत्ता है । जब मैं हू तो नियमसे अनादिसे हू और जब मैं हू तो नियमसे अनन्तकाल तक रहूगा । अब जो नही रहता है उसे हू न मानें । यह देह नही रहता इसे मैं मत समझें । विकल्प, विचार, ख्याल ये सब होते हैं और मिट जाते हैं, इन्हे मैं न समझें ।

(१४५) ध्रुव अन्तस्तत्त्वकी अध्रुवोसे विविक्तता—मैं ज्ञानपरिणामोका आधारभूत कोई ज्ञानज्योतिस्वरूप पदार्थ हू, उसकी श्रद्धा बनायें और जब मैं हू तो पहिले भी तो था । यह सोचें कि मैं पहिले क्या था ? तो इस समय मैं अशुद्ध हू, शुद्ध नहीं हू । अशुद्ध होता है तो अशुद्धसे अशुद्ध बनता है, शुद्धके बाद अशुद्ध नही बन सकता । तो इतना निर्णय है कि मैं इस भवसे पहिले भी कोई आत्मा था । अब वह मैं अशुद्ध आत्मा क्या था ? तो उसका निर्णय बना लें जगतके जीवोको देखकर । ये पशुपक्षी कीडा मकोडा, पेड पौधे ये सब जीव जितने दिख रहे हैं बस इनमे से ही तो कोई मैं था । एक बात और संतोने बताया है कि थे तो जरूर हम ऐसे शुद्ध मगर सबसे पहिले हम कैसे अशुद्ध थे ? जिसे कहते हैं निगोद, बहुत खोटी दशा । याने ज्ञान ऐसा दबा है कि समझो जडवत हो । जड तो नही होते, हैं वे चेतन, मगर वे एकेन्द्रिय हैं और उनमे भी एक निगोद जीव हैं । एक जीवमे जितना वहाँ ज्ञान बताया है वह क्या है ? एक अक्षरके अनन्तवें भाग प्रमाण । ऐसा तो वह ज्ञान है । और जितने भी जीव हैं वे सब एक शरीरके आधीन हैं । ऐसी कठिन दशा है । वहाँसे किसी तरह निकल आये तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति आदिक हुए । फिर वहाँसे और विकास किया तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय आदि जीव हुए । फिर वहाँसे भी बडी कठिनाईसे निकलकर हम आप आज मनुष्यकी पर्याय

मे आये हैं। अब समझ लो—यहाँ आकर हम आपको कितनी बडी जिम्मेदारी है। लोग तो पुण्योदयवश जो चाहते हैं सो पा भी लेते हैं, लेकिन इनको पाकर जो मुग्ध हो जाते है वे तो अपने आपके भगवान पर हमला कर रहे है। फल इसका क्या है कि मरनेके बाद कुयोनियोमे जाना पडेगा। देखो जिसमे विश्वास बनाये हुए है—घरमे, परिवारमे, सम्पदामे ये कुछ भी मदद देने वाले न होगे! शरीर छोडकर चले गए, अब इसका कोई साथी नही। न जाने कहाँ उत्पन्न होंगे? अब इसका यहाँ रहा क्या? तो भाई जब मरनेके बाद कुछ मेरा रहनेका नही, जिन्दगीमे भी अगर यह श्रद्धा बनाये रहे कि ये मेरे कुछ नही है, इसीके मायने तो संत पुरुष है। घरमे रहकर भी संत बनें तो सुखी हो जायेंगे।

(१४६) **सत्यसे विपरीत आचरणमे कष्टोका समागम**—जो बात सत्य है उसे मानलो। अभी कुछ ही वर्ष बाद सब कुछ छूट जायगा। उसे अभीसे यह समझें कि यह तो मेरेसे छूटा हुआ ही है। मेरेमे कहाँ चिपका है। इससे मेरे आत्माका क्या भला होता है, यह तो तृणवत् असार है। इससे मेरे आत्माके हितका कोई सम्बन्ध नही। इस तथ्यको परख लो, सत्य बातको मान लो अगर नही मानते हो सत्य तत्त्वको तो दुःखी कौन होगा? कोई दूसरा दुःखी होने न आयगा। जैसे कोई बच्चा रूठ गया है, बहुत रोता है, हठ पकड गया है तो उस बच्चेको बहुत-बहुत लोग समझाते हैं बेटा हठ न करो, रोवो मत, यहाँ बैठ जावो, कुछ खा पी लो, लेकिन उसने ऐसी हठ पकड लिया कि मुझे तो खाना ही नही है तो वह एक कोनेमे बैठकर रोता रहता है। अब भला बतलावो जब उसने ऐसी हठ पकड लिया तो फिर दुःखी कौन होगा? उसे ही तो दुःखी होना पडेगा। तो भाई यहाँ व्यर्थकी हठोको छोडें, परका आग्रह छोडें, अपने आपके स्वरूपकी ओर आयें और यहाका आनन्द लूटें। बाह्य पदार्थोंको ऐसा जानलें कि आखिर ये १०—५ वर्ष बादमे मेरेसे छूट ही जायेंगे तो अभीसे उन्हे छूटा हुआ मान लें। उसके प्रति एक सच्चा ज्ञान बनायें तो आनन्द मिलेगा। और अगर मिथ्या ज्ञान रहेगा तो कष्ट ही सहना पडेगा।

(१४७) **अपने भविष्यनिर्माणका अपनेपर दायित्व**—सम्यग्ज्ञान भेद विज्ञानमे मिलेगा। मैं जुदा हू, सबसे निराला हू। केवल अपने ज्ञानकी विधिसे सुख, दुःख, आनन्द पाता हू, मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हू। मैं ससारमे एक अकेला केवल अपने आपका जिम्मेदार हू। अन्य कोई मेरा जिम्मेदार नही। ऐसी श्रद्धा बनावें और उसके अनुसार अपनी कुछ कुछ परिणति बने तो कल्याणका मार्ग मिलेगा। इसीलिए तो हम प्रभुकी भक्ति करते, प्रभुका पूजन करते। प्रभु हो गए ऐसे। प्रभुसे हमारा रिश्ता क्या? रिश्ता यही है कि जो पुरुष किसीसे मिलता है तो उसके मिलनेका रिश्ता केवल एक यह है कि इनमे कोई बडी चीज है जिससे हमको सुख

प्राप्त होगा और वह मेरेमे आ सकता है। जैसे यहां किसी धनिकसे जब यह आशा होती है कि इससे मुझे कुछ धन मिल सकता है तभी तो लोग इसका मान सम्मान करते हैं, ऐसे ही प्रभुके दर्शन पूजन भी हम इसी उद्देश्यसे करते हैं कि इनसे मुझे कुछ मिलेगा। उनसे क्या मिलेगा ? अरे उनके पास एक बहुत बडी निधि है। क्या ? ज्ञान और आनन्दकी उत्कृष्टता। बस उनके वैभव स्वरूपदर्शनसे अपने इस वैभवको हम भी प्राप्त कर सकते हैं इनके दर्शन पूजन के माध्यम द्वारा। यह ही उत्कृष्ट वैभव है। यही मेरेको चाहिये और यह मेरा वैभव मेरेमे आ सकता है। समन्तभद्राचार्य एक बहुत बडे आचार्य हुए हैं। उन्होने पहिले तो देवागम स्तोत्र बनाया, जिसमे यह परीक्षाकी कि मेरा मस्तक किसे नमना चाहिए ? कौन सा देव ऐसा है जो मेरे सिर झुकाने लायक है ? केवल इसकी परीक्षा की। परीक्षा करनेमे जो उन्होने साहित्य निर्माण किया उसमे सभी मतमतान्तरोका जिक्र आ गया है। उसमे उन्होने शुद्ध तत्त्वका जिक्रकर दिया। उसका आधार यह था कि हे भगवन एक आप ही निर्दोष हैं इसलिए आप के ही चरणोमे मेरा सीस झुकेगा। आप कैसे निर्दोष हैं सो सुनो—आपकी वाणी युक्ति और शास्त्रसे विरोध नही खाती, इससे जाना कि आप निर्दोष हो। आपकी वाणी कैसे निर्दोष है कि आपकी वाणीसे किसीको कषाय नही होता, आपकी वाणीमे पूर्वापर कोई विरोध नही होता। आपकी वाणी निष्पक्ष है, प्राणिमात्रके हितके लिए है इससे जाना कि आपकी वाणी निर्दोष है। जैसे यहां कोई पुरुष स्वस्थ है या अस्वस्थ, यह बात आप कैसे जानेंगे ? तो यह बात उसकी वाणीसे पहिचानी जा सकती है। किसीको जब सर्दी जुखाम है तो उसकी वाणी और प्रकार की निकलती है और जब बिल्कुल ठीक स्वस्थ दशा होती है तो वह वाणी और तरहकी निकलती है तो जैसे इस वाणीके द्वारा ही किसीको स्वस्थ अथवा अस्वस्थ परखा जाता है इसी प्रकार आपको वाणीके द्वारा ही हमने परखा कि आप निर्दोष हैं। इस बातको सिद्ध करनेके लिए अनेक मत-मतान्तरोका वर्णन करना पडा। तो पहिले तो यह परीक्षाकी कि ये प्रभु मेरे नमस्कार किये जाने योग्य हैं। फिर युक्त्यनुशासन बनाया जहा भगवानका स्तवन किया और नमस्कार किया।

(१४८) नयपरिज्ञान न होनेसे कलुषित जनगणमे जैनशासनके निरूपणकी कलिकालमे विडम्बना—स्तवन करनेसे पहिले यह बात बतायी गई कि हे भगवन, आपका स्तवन कौन कर सकना ? किसीमे यह सामर्थ्य नही कि जो आपके गुणोका वर्णन कर सके। तब फिर तुम कुछ कहते क्यो आये हो बोलो। ··· भगवन् मैं इतना ही कह सकता हू कि हे भगवन, आप ज्ञान और आनन्दकी उत्कृष्ट दशा हैं। देखो इसमे सब बातें आ गई। याने जिसका ज्ञान ऊचेसे ऊचा हो, जिसका आनन्द ऊचेसे ऊचा हो, वह है परमात्मा। फिर

एक प्रश्न उत्पन्न होता कि हे समन्तभद्र—भला बतलाओ कि जब ज्ञानानन्द निधान यह परमब्रह्म उत्कृष्ट है, इसका जब उपाय बताया गया है तो फिर ऐसे अलौकिक धर्मका दुनियामे प्रभाव क्यो नही फैल रहा ? क्यो नही एक अधिपत्य बन रहा है इस पवित्र जैन शासनका ? इस प्रभुकी प्रभुताका क्यो नही एकछत्र राज्य चल रहा ? तो वहाँ तीन उत्तर उन्होने दिये—'कलः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।' हे भगवन ! तुम्हारे इस पवित्र शासनका जो जगतमे एक छत्र राज्य नही है उसका कुछ कारण है । क्या कारण है सो सुनो—एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वाले श्रोतावोका आशय कलुषित है और तीसरे—बोलने वाले वक्ताओको नयोका परिज्ञान नही है । इन ही तीनों कारणोके कारण हे भगवन, आपका पवित्र शासन एक छत्र राज्य नही कर पा रहा है । अब जरा इन तीनो बातोपर ध्यान दो—कलिकाल है ।

(१४९) **कलिकालकी जैनशासनप्रसारमे बाधकता**—कलिकालका क्या असर है ? इसे एक कथामे बताया है कि जैसे मानो कलके दिन कलिकाल लगना है तो उससे एक दिन पहिले एक आदमीने किसीके हाथ अपना टूटा फूटा मकान बेच दिया । उस मकानको खरीदने वाले ने खुदवाया तो एक अशर्फियोंसे भरा हुआ हंडा मिला । सो वह मकान खरीदने वाला बेचने वालेके पास जाकर कहता है कि भैया अपना यह अशर्फियोसे भरा हंडा ले लो । यह आपके मकानमेसे निकला है, यह आपका है । तो वह बेचने वाला बोलता है—अरे अब मेरा क्यो, मैने तो मकान बेच डाला । अब उसमे मेरा क्या अधिकार ? वह तो अब आपका हो चुका, मेरा न रहा, अतः इसे आप ही रखिये, मैं न लूंगा । तो खरीदने वाला बोला कि भाई मैंने तो आपका मकान खरीदा है, इस अशर्फियोके हडेको नही खरीदा, अतः यह मेरा नही है, इसे आप लें । यो वे दोनो ही उसे अपने पास रखनेको तैयार न हुए । आखिर यह विवाद ऐसा बढ़ा कि राजाके पास न्याय करवानेके लिए वे पहुंचे । जब राजाके सामने उन दोनोने अपनी-अपनी बात रखी तो राजा उन दोनोकी बात सुनकर बडा हैरान हुआ । उस समय तो कुछ निर्णय न दे सका, बोला कि इसका न्याय हम कल करेंगे । अब देखिये—एक ही रात्रिके बादमे कलिकाल लगने वाला था, लगा नही था, लगने ही वाला था, उसी रात्रिको उन तीनोके परिणाम बदल गए । मकान बेचने वाला सोचता है कि देखो मैंने कितनी बेवकूफीकी । अरे वह देने ही तो आया था, लेने तो न आया था, तो कलके दिन तो मैं उसे ले लूगा । यो ही मकान खरीदने वाला सोचता है कि अरे मैंने कितनी बेवकूफी की । मैं व्यर्थ ही अशर्फियोका हडा उसे देने गया था, अब कलके दिन मैं ही अपने पास उसे रख लूंगा । ऐसे ही राजाके मनमे भी ऐसा विचार हुआ कि देखो ये दोनो कैसे बेवकूफ हैं । दोनो ही उसे अपने पास रखना नही स्वी-

कार करते। अरे उसपर अब उन दोनोंका क्या अधिकार? वह तो जमीनके अन्दर निकला है, उसपर तो राजाका अधिकार है, अत. कलके दिन मैं उसे ले लूगा। तो यह एक कलिकाल की बात सुनायी। देखिये जब कलिकालके प्रारम्भमे ही लोगोकी भावनायें इस ढगकी हो गईं तों फिर इस कलिकालके बीचकी तो बात ही क्या कही जाय। तो हे भगवन, कलिकाल है इसलिए आपका यह पवित्र शासन एक छत्र राज्य न कर सका। देखिये—आपके इस पवित्र शासनकी बडी महिमा है। आपका धर्म एक विश्वधर्म है, आत्मधर्म है। आत्माकी बात बतायी जा रही कि रागद्वेष मोह न करो, अपने आत्माका ज्ञान करो, आपके उपदेशमे कोई पक्षकी बात नही है, कोई मजहब वाली बात नही है। तो एक कारण है कलिकाल।

(१५०) **श्रोताओके कलुषित आशयोंकी जैनशासनप्रसारमे बाधकता**—सुनने वालो आशय मलिन है—अजी मेरी जैसी बात कहेगे तो मेरे लिए अच्छा है और मेरी जैसी बात न कहे तो काहेके अच्छे। एक बारकी बात है कि किसी राजाके यहाँ कोई पुरोहित शास्त्र पढा करता था। एक बार उस पुरोहितको कहीं बाहर जाना था सो वह अपने लड़केसे कह गया कि बेटे आज तुम राजाके यहाँ शास्त्र सुना आना सो जब वह पुरोहितका लडका शास्त्र पढ रहा था तो उसमे प्रकरण वश एक बात आयी कि जो तिलभर भी मास खाये वह नरक जाता है। राजा उस बातको सुनकर बडा दग रह गया। विचार करने लगा कि देखो आज तो पुरोहितने मुझे अपने बेटेसे गालियाँ दिलवायी है। बडा खेद हुआ उस राजाको। आखिर दूसरे दिन जब पुरोहित राजदरबारमे शास्त्र सुनाने आया तो राजाने बताया कि देखिये पुरोहित जी। कल तो आपने अपने बेटेसे मुझे गाली दिलायी। कैसे? देखो आपका बेटा यह कह रहा था कि जो तिलभर भी मास खाये वह नरक जाये। तो पुरोहित बोला—हाँ महाराज ठीक ही उसने कहा था—जो तिल भर भी मास खाये वह नरक जाये मगर उसने यह तो नही कहा कि जो बहुत ज्यादह मास खावे वह नरक जावे। तो राजा बोला हाँ पुरोहित जी आप ठीक कह रहे हैं। तो हे भगवन इन श्रोतावोका आशय कलुषित है इस कारण आपका पवित्र शासन एक छत्र फैल न सका।

(१५१) **वक्तावोके नयविषयक अपरिज्ञानकी जैनशासन प्रसारमे बाधकता**—बोलने वालोका नयोका परिज्ञान नही है, वे जरा जरासी बातमे झगड जाते हैं, वादविवाद करने लगते हैं। बातको समझते नही है, तो हे भगवन् यही कारण है कि आपका शासन एक छत्र न फैल सका। तो हे प्रभो, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिए आप ही हमारे लिए पूज्य हैं, आपने जिस वैभवको पाया वही वैभव मुझे भी प्राप्त करना है। आपने जिस पथसे चल कर प्रभुताको प्राप्त किया है वही पथ मुझे भी अनुकरण करने योग्य है, मुझे वह पथ

मिलेगा आपके प्रति होनेसे, अतः आपका ही शरण मेरे लिए सच्चा शरण है।

(१५२) **अशुभमें उपयोग होनेका दुष्परिणाम**—जैसे मोटे रूपमे कहते है कि उसका उपयोग यहा लगा, उसका उपयोग यहा लगा। जब जाप देते है उस समय उपयोग स्थिर नही रहता, यहां वह भटकता रहता है। बस यहां परपदार्थोंको विषय बनाना और परपदार्थों को विषय बनाकर उनकी ओर धुन रखना, इसीके मायने है उपयोगका भटकना। कही उपयोग आत्माके प्रदेशोको छोडकर यहां वहां नही भटकता लेकिन यह उपयोग यहां ही बना हुआ, यहां ही परविषयोंका आश्रय कर करके जो परकी ओर इसका खिचाव, लगाव और आकर्षण बना रहता है, इसीके मायने है उपयोगका भटकना। जो यह उपयोग भटकता है तो उसमे परपदार्थका विषय होता है। पर पदार्थकी ओर धुन होती है, जहां नही भटकता है, लीन होता है, वहां एक स्वआत्मा विषय रहता है और एक स्व आत्मामे लीन हो जाता है। कोई स्थिति ऐसी होती है कि जो बहुत ऊंचे गुणस्थानमे है, ११ वें १२ वें गुणस्थानमे भी हैं और भगवंत प्रभुके भी है कि अनायास ही बाह्यके सर्व तत्त्व इसको प्रतिबिम्बित होते हैं वहां उपयोग नही भटकता, लेकिन हमारी ऐसी ऐसी स्थितिया हैं कि किसी परपदार्थमे चित्त लगायेंगे तो वह हम आपके भटकनेका कारण बनेगा और जिनकी साधना ऊंची हो जाती है, जो अप्रमत्त दशाको प्राप्त होते है उनका उपयोग नही भटकता। यहां हम आपके उपयोग भटकनेकी बात बनी रहती है, तब फिर हमारा कर्तव्य क्या है? कर्तव्य यह है कि अपने उपयोगको खराब चीजोमे न भटकने दें, अच्छी चीजोंमे लगावें। बादमे फिर खराब और अच्छी सबसे निवृत्त होकर एक मात्र ज्ञाताद्रष्टा रह जाय, ऐसी एक स्थिति होती है और उसमे जब यह मन चचल है और कही न कही जाना ही चाहता है तो हमे मनको ऐसे काम में लगा देना चाहिए कि जिससे यह बुरे कामोसे बचकर अच्छे कामोमे लगा रहे।

(१५३) **शुभोपयोगोंसे अशुभोपयोगके आक्रमणोंकी विफलता**—एक कथानक है कि एक राजाको देवता सिद्ध हो गया। तो देवताने कहा राजन् आप हमे आज्ञा दीजिए आप जो कहेगे सो हम कर देंगे। और अगर आप हमे काम नही बतावेंगे तो आपको खा जायेंगे। राजाने कहा—अच्छा महल बना दो लो तुरन्त महल बन गया, राजन काम बताओ अच्छा एक सुन्दर तालाब बना दो—लो एक सुन्दर तालाब बन गया। राजन काम बताओ अच्छा सडक बना दो—लो सडक बन गई। राजन काम बताओ अब तो राजाने सोचा कि यदि मैं काम नही बताता हू तो यह मुझे खा जायगा, सो एक बार उसको एक उपाय सूझा—राजा बोला—अच्छा एक ५० हाथका लम्बा लोहेका डडा गाड दो, लो गड गया।....राजन काम बताओ, अच्छा एक ५० हाथकी लम्बी जजीरका एक छोर उस लोहेके डडेमे बांध दो और

एक छोर अपने कमरमे बांध लो। लो बँध गई। राजन काम बताओ अच्छा जब तक हम मना न करें तब तक इसमे चढो और उतरो। लो जब वह ऊपर चढा तो नीचे उतरनेका काम पडा है और जब नीचे उतरा तो ऊपर चढनेका काम पडा है। तो राजा रक्षित हो गया। तो ऐसे ही यह मन बडा चचल है, यह खाली नही रहता। अब बतलावो मनको क्या काम बतावोगे कि जिसमे अपनी रक्षा बनी रहे ? तो मनको लगाता है अच्छे कामोमे तभी अपनी रक्षा है। यद्यपि आत्मतत्त्वके प्रकरणमे यह बात चरम उत्कृष्ट बात है। यह एक ऊँची स्थितिकी बात है। इस उपयोगका कार्य है केवल एक शुद्धस्वभावकी ज्ञानसाधना और आचरणकी। इन दो मे मग्न रहे। यह स्थिति बहुत ऊँची है, मगर इस स्थितिमे जो विषय वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकके सस्कार लगे है तो ऐसे सस्कार वाले जीव अपनी और जिन्दगी भरमे परिणति क्या करें ? तो हमारी प्रवृत्ति ऐसी शुभ होनी चाहिए कि जिसमे हमे शुद्धकी खबर रहे और अशुद्धसे हमारा छुटकारा रहे।

(१५४) शुभोपयोगकी कृपालुता—शुभोपयोगमे दो बातें बराबर एक साथ चल रही हैं—वीतरागता और सरागता। केवल राग रागसे शुभोपयोग नही बनता और केवल वीतरागतासे शुभोपयोग नही बनता। केवल वीतरागता है तो वहाँ शुद्धोपयोग बनता है। अशुद्धोपयोग तो अशुद्धमे ही ले जायगा। भला कुछ अनुभवसे भी विचारो कि जब देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमे आते हैं तो वहाँ वीतरागताकी कितनी सुध रहती है, और जब स्त्री पुत्रादिक परिजनोकी भक्तिमे रहते हैं तो वहा कहा वीतरागताकी सुध रहती है ? जब देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिकी जाती है तो वहाँ वीतराग स्वरूपका लक्ष्य प्रधान रहता है, जिससे प्रेरित हो कर हम उनकी भक्तिमे आते हैं। देखिये—**जब समवशरण रचा जाता है** उस समय सारा स्वर्ग खाली हो जाता है, देव इन्द्र वहांसे चल उठते हैं और वे बडे नाच गान तानके साथ प्रभुकी भक्तिमे विभोर होकर समवशरणमे पहुचते है। बताइये उन इन्द्रोको किस चीजकी जरूरत है ? उनको किसी बातकी कमी है क्या ? अरे उनके पास तो खूब ऋद्धि है। भूख प्यास आदिककी वेदनायें नही हैं। अगर कभी भूख प्यास लगी भी तो उनके कठसे अमृत झड जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। उनको किसी चीजकी जरूरत तो नहीं है, पर वे क्यो भागे जा रहे उस समवशरणकी ओर ? और किसके पास जा रहे ? एक अकिञ्चनके पास, उन प्रभुके पास न धन वैभव रखा है, न मित्र जन हैं, कुछ भी तो नही रहा, वे तो अकिञ्चन हो गए। फिर क्यो वे देव उनकी ओर भगे जा रहे ? और ये देखो—मनुष्योमे राजा महाराजा, चक्रवर्ती आदिक भी उनकी ओर भगे जा रहे। क्या हो गया उन्हें ? यह तो एक सन्देह वाली बात है। अरे जिनके पास न कोई दूकान है न रोजिगार है, जो अकिञ्चन रह गए, ऐसे जिनेन्द्र

देवके पास ये सब लोग क्यो भगे जा रहे ? ये पशु पक्षी, बैल, मेढक, नेवला आदिक भी उन की ओर भगे चले जा रहे। तो क्या हो गया उन सबको ? अरे हो क्या गया ? वह सब चमत्कार है एक वीतरागताका, वह महत्त्व है एक शुद्ध ज्ञानका, केवल ज्ञानका कि जिसके कारण तीनो लोगोके इन्द्र नाचते गाते भागते चले आ रहे है। तो जो प्रभुभक्ति कर रहा है अगर उसके लक्ष्यमे राग है तो वह प्रभुभक्ति नही कर सकता। क्या पडी थी उन देवोको, इन्द्रको जो कि प्रभुके चरणोमे नाचते गाते दौडते आये ? यह समझिये कि हम आप इस समय करें क्या ? करना है शुद्धोपयोग। हम अपने शुद्ध स्वभावको लक्ष्यमे लेते है, जो कि हमारा कर्तव्य है उस लक्ष्यके लेने वाली जो स्थिति है वह स्थिति शुद्धोपयोग है कि शुभोपयोग है ? उस शुभोपयोगमे शुद्धोपयोग चल रहा है। एक होता है शुद्धोपयोग। जहाँ रागरहित उपयोग हो उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। एक अर्थ है—रागरहित जो शुद्ध स्वभाव है उसके उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं। तो तृतीय अर्थ वाला भी शुद्धोपयोग है वह तो हम आपके आजकल हो सकता है, मगर कर्मधारय वाला शुद्धोपयोग हम आपके नही हो सकता। जब तक कि ये राग-द्वेष न मिटें। उपयोग तीन भेदोमे पडा हुआ है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। और जो तत्पुरुष वाला शुद्धोपयोग है, जो कि अनादि अनन्त अखण्ड चैतन्यस्वभावके शुद्धनय का विषयभूत है, जिसके मुकाबलेमे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदिक ७ तत्त्व बताये हैं, ये अशुद्धनय पडते है, शुद्धनयका विषयभूत जो अखण्ड चैतन्यतत्त्व है वह विषयमे आया है तो वह तत्पुरुष वाला उपयोग है। इस समय इस शुद्धोपयोगकी चर्चा की जा रही है। इस जातिका शुद्धोपयोग जो परिणतिसे शुभोपयोग कहलाता है वह हमारे होता है। तो हमे निरन्तर जागरूक किस ओर रहना चाहिए कि हमारा लक्ष्य शुद्ध तत्त्वकी ओर रहे, हम उससे गिर न जायें, हम उसके पात्र बने रहे, ऐसा हम आपको अपना उपयोग बनाये रहना चाहिए।

(१५५) शुद्धोपयोगकी पात्रताके साधक श्रावकोके षट्आवश्यक कर्मोमें देवपूजा व गुरूपास्तिका वर्णन—शुद्धोपयोगकी पात्रता बनी रहे इसके लिए श्रावकोके ६ कर्तव्य बताये गए है। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय सयम तप और दान इन छहो प्रकारके कर्तव्योमे अगर रत्नत्रयका कोई पुट न हो तो ये कभी धर्म नही हो सकते। फिर तो वह एक तरहका व्यायाम है। आप देवपूजा करते हैं तो आपका श्रद्धान पुष्ट होता है, श्रद्धा हो, उसके स्वरूपकी चाह हो, उसके स्वरूपकी ओर आकर्षण हो तब ही तो कोई आदर कर सकेगा, तब ही तो कोई पूजा कर सकेगा। तब ही तो कोई उपासनामे आयगा। देवपूजासे हमारे सम्यक्त्वको बल मिलता है। गुरूपास्ति—गुरुवोकी सेवा कौन कर सकता है ? जब हमे नियम संयम

आचरण द्वारा सम्यक्चारित्रकी पूर्ति होती है तब ही हम मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। धन्य है यह सयम आचरण, चाहे कोइ साधु अटपट हो और जान लिया जाय कि यह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलमे लग गया है तो ऐसे साधुकी तो हम बात नही कह रहे, वह तो साधुपना ही नही है, जो पापमे लगे हो, जो अशुद्ध कार्योमे लगे हैं ऐसे साधुवोकी बात क्या करना ? वे साधु है ही नही, पर जो अपनी बुद्धिके अनुसार एक सयमके कार्यमे लगे हैं, उनकी पहिले परीक्षा कर लें। परीक्षामे सही उतरें तो उनकी उपासना करें। उन साधुवोंमे से किस साधु को सम्यक्त्व है किसको नही, इसका कुछ निर्णय नही दिया जा सकता। वहाँ कोई यह नियम नही बना सकते कि इन्हे सम्यक्त्व होगा ही। देखिये—ये मेढक, बिल्ली, गाय, बैल आदिक पशु ये तो कुछ बोलना ही नही जानते, कुछ भी तो नही बोल सकते, लेकिन उनको भी सम्यक्त्व जग सकता है। आपने देखा होगा कि ये बैल जब बडे आरामसे बैठे होते हैं तो बैठे हुएमे जुगालिया किया करते है, याने उनका मुख बडे आरामके साथ चलता रहता है। मान लो कोई बैल आरामसे बैठा हुआ जुगालिया कर रहा था। कदाचित् उसका ध्यान अच्छी ओर लग जाय और शुद्ध तत्त्वकी ओर उसकी दृष्टि लग जाय तो उसे सम्यक्त्व हो सकता है। एक शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वभावका जिसने परिचय पा लिया है उसने तो सब जान लिया। बताते हैं कि जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया उसने सब जैनशासनको जान लिया। तो हम जो कुछ भी निर्णय रख सकते है वह जैनधर्ममे बतायी हुई वृत्ति प्रवृत्ति आचरणके द्वारा भान कर सकते है कि हाँ यह हैं हमारे पूज्य गुरुजन। तो गुरुजनोकी उपासना कौन कर सकता है जिसे संयमकी ओर लगन हो, चारित्रकी ओर धुन हो। कब मेरेको सयम प्राप्त हो, कब चारित्र प्राप्त हो, कब मेरा उपयोग ऐसा स्वच्छ रहे कि बाह्य पदार्थोमे रागद्वेष विरोधभाव न रहे, अपने आपमे ही रत रहा करे। कब ऐसा उपयोग हो ? ऐसी जब भावना भीतरमे बनती है तब ही गुरुवोकी उपासना सेवा बन सकती है। अगर यह भाव भीतरमे नहीं बनता है तो समझो कि वह सब बाहरी दिखावा है, दूसरोको धोखा देना है। वह उल्टा एक व्यायाम है। तो रत्नत्रय क्रियासे सम्बन्ध हो जिस क्रियामे उस क्रियामे धर्म है।

(१५६) श्रावकोके षट् कर्तव्योके स्वाध्याय, संयम व तपका निर्देश—तीसरा कर्तव्य हैं स्वाध्याय। स्वाध्याय तो बहुतसे लोग करते है—पुस्तककी कोई २-४-६ लाइनें बाँच लीं और उसे रख दिया, लो हो गया स्वाध्याय, लो हो गया स्वाध्यायका नियम पूरा। अरे यह स्वाध्याय करनेका कोई ढग नही है। इस ऊपरी-ऊपरी स्वाध्याय करनेकी रीतिसे स्वाध्यायसे कुछ भी लाभ नही मिलनेका। स्वाध्याय इस रीतिसे हो कि जो दर्शन ज्ञान चारित्रकी रीति

से होता है । स्वाध्यायके मायने है स्वका अध्ययन । जहाँ अपने आत्माका स्वरूप चिन्तवनमे लिया जा रहा हो, जहाँ अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि हो, आत्मस्वरूपका ही जहाँ अध्ययन चल रहा हो वह है वास्तविक स्वाध्याय । संयम—जीवरक्षा करना, प्राणिरक्षा करना, इन्द्रिय संयम करना, इन्द्रियको विषयोमे न लगाना आदिक संयम आचरण हैं । तो यह संयम कौन कर सकता है ? जिसको रत्नत्रय धर्मकी प्रतीति हुई है । आत्मकल्याणकी जिसके भावना जगी है उसके ही संयम बन सकेगा । जो सयम आचरण करता है उसकी सम्यक्चारित्रपर दृष्टि रहती है । तप—इस तपका भी अगर रत्नत्रयके साथ सम्बन्ध है तब तो तप करना कार्यकारी होगा नही तो वह भी एक कोरा व्यायाम ही रहेगा । इसी तरह दान देनेमे भी रत्नत्रयके साथ उसका सम्बन्ध रहे तो वह दान देना कार्यकारी होता है ।

देखिये—आचार्यजनोने हम आपपर कितनी परम करुणा करके धार्मिक कर्तव्योको करनेके लिए बताया है । इस ही साधनामें रहकर स्वरक्षित रहना हो तो अपने भीतरकी साधनाकी कोशिश करें । जैसे किसी राजाका किला जब मजबूत है तो उसका साज-श्रृङ्गार, हुकूमत बन सकेगा और वह सुरक्षित रहेगा, इसी प्रकार जहाँ हमारा मन जगह-जगह भटकता है तो वहा इन बाहरी धार्मिक क्रियावोमे रहकर अपनेको सुरक्षित रख सकेंगे क्या ? और फिर अदर ही अंदर अपने उस चैतन्यस्वभावका, उस वीतराग ज्ञानभावका, अपने आपके अंतस्तत्त्वका हम चिन्तन करें, मनन करें, खूब अपना साज श्रृङ्गार बनायें । अपनी सेवा, अपना श्रृङ्गार अपना व्यवहार सहज आनन्दस्वरूपमे मिलेगा । उस ही मे प्रवेश करें, उस ही का चिंतन करें और उसही मे खूब आनद लूटें । खूब अपने निश्चयधर्मका पालन करें । और इस निश्चयधर्मका पालन हम तभी कर सकते हैं जब कि अपने स्वभावको हम स्वरक्षित बना सकें इन विषय कषायोके आक्रमणसे तो संक्षेपमे आप समझ लीजिए कि जैसे १ डिग्रीसे लेकर १०० डिग्री तकका जो राग है उस रागकी कोटिमे आपका शुभोपयोग किस जगहमे मिलेगा ? न १ नम्बर वालेमे मिलेगा और न १०० नम्बर वालेमे मिलेगा, किन्तु जो एक बीचकी धारा है उसमे मिलेगा । उसका नाम शुभोपयोग है । वह शुभोपयोग कब होता कि जब इसमे वीतरागता हो और राग भी आया हो । तो उस वक्त जितने अशमे राग है उतने मे आस्रव है और जितने अंशमे वीतरागता है उतने अंशमे निर्जरा है । एक ही भावमे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा ये चारो तत्त्व हुआ करते हैं । जैसे करणानुयोगकी परिपाटीमे छठे, सातवें गुणस्थानमे बताया कि इनमे आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा हैं कि नही है और एक ही समय चल रहे हैं, न रहे क्या ऐसा भी है ? ये चारो एक साथ चल रहे है और एक समयकी परिणति एक होती है कि दो ? एक समयमे एक द्रव्यमे एक ही परिणति होती है ।

एक द्रव्य दो द्रव्योंकी परिणति नही कर सकता । जहाँ यह बात है वहाँ यह भी बात है कि एक द्रव्य अपने आपमे एक समयमे एक परिणति करता है, यह भेद विवक्षासे कहते हैं कि ज्ञानपरिणति कर, दर्शन परिणति कर, चारित्र परिणति कर । अगर एक अखण्ड वस्तुको देखा तो उसका जिस समय जो परिणमन है वह एक अखण्ड परिणमन है । जब अशुद्ध हो रहा हो तब भी एक समयमें एक अखण्ड परिणमन है । वह जैसा जो है सो है । तो परिणमन एक है एक समयमे, और उस ही परिणमनको निमित्त करके आश्रव, बध, सवर, निर्जरा ये चारो तत्त्व चल रहे हैं, विकल्प भी जगे वह स्थिति वीतरागता और सरागता दोनोके मध्य जुडी हुई है कि जितने अंशमे वीतरागता है उतने अशमे निर्जरा है, और जितने अशमे राग है उतने अशमे आश्रव है । परिणाम एक है, उसका इस ढगसे निर्माण हुआ है कि जिस ढगमे दो शक्तियाँ पडी हुई हैं—वीतरागता और सरागता । तो लक्ष्य तो अपना एक वीतराग विज्ञान, रागद्वेषरहित सहज ज्ञानस्वभावका रहे । कहाँ हमे जाना है, कहाँ आश्रय लेना है, इसका तो निर्णय पहिले कर ही लेना चाहिए । मगर वहा तक पहुचनेके लिए हमारा कुछ पौरुष चाहिए । वह पौरुष तपश्चरणके रूपमे, व्रतोके रूपमे आचार्य महाराजने करुणा करके चरणानुयोगकी प्रक्रियामे बताया हैं ।

(१५७) चरणानुयोगकी प्रक्रियाके अनुसार प्रवर्तनेमे पात्रता व सफलताकी संभूति—चरणानुयोगके अनुसार प्रक्रियामे रहते हुए हम अन्तः अपने आपकी उपासनामे चलें तो अपने उद्देश्यमे सफल हो सकते हैं । तब हम आपके लिए परमार्थतः कोई शरण है तो शुद्धस्वभाव का दर्शन शरण है । और शुद्ध स्वभावका दर्शन करनेकी जो हम आपकी आजकी स्थिति है और उसका क्लेश विशेष करनेकी जो आजकी स्थिति है वह हमारा अशुभोपयोग कहलाता है, ऐसे अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमे आकर हम उन शुद्ध तत्त्वका उपयोग बनायें । उसका चिन्तन करें, उसका अधिकाधिक आलम्बन लेनेकी धुन रखें, यह प्रक्रिया हम आप लोगोके कल्याणके लिए है । इसके अतिरिक्त एक व्यवहार उपासनाके सम्बंधमे हम अपनी श्रद्धाके मुताबिक बात कहते हैं कि जैसे जिनप्रतिमाको देखकर उन भगवन्तोकी स्तुति है, वह हममे उनके प्रति विनय आये बिना नही हो सकती; इसी प्रकार एक दि० जैनधर्मके अनुसार चारित्रपालन करने वालेको निरखकर उन ऋषि सतोकी स्तुतिमे जिन्होने मुक्ति पायी है उनकी याद आती है और उनका याद आनेपर उस धर्मात्मा व्यक्तिके प्रति विनय आये बिना नही रह सकता । और देखिये——स्थितिकरणके जितने अग हैं उन आठो अगोमे हम आज कहाँ टिक सकेंगे ? न टिक सकेंगे । हम उन ८ अगोकी प्रवृत्ति छोडकर अपना आचरण न बनायें । मान लो कोई साधु अपने पदके विरुद्ध कार्य करता है, व्यभिचार आदिकके खोटे कार्योमे

अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसे व्यक्तिको साधु मानना यह हमारा काम नही है। उसे स्पष्ट कह दें कि यह हमारे साधु नही रहे। अगर उसे साधु मानकर उसको पूजते रहें तो यह लोगोका भ्रम है। लेकिन जो साधु अपने आचरणसे ठीक है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहसे दूर है अर्थात् सयम आचरणमे रहते हैं, सामायिक प्रतिक्रमण, प्रोषधोपवास आदिक की क्रियावोमे रहते हैं, ऐसे साधुवोको साधु मानकर पूजा करना, कदाचित् कोई साधु किसी कारणसे उत्तर गुण नही पाल सकता उसे मानना कि यह साधु नही है यह तो ठीक नही। अगर साधु अपने मूल गुणसे भ्रष्ट हो, पच पापोमे रत हो तो वह भ्रष्ट कहलाता है। और अगर साधु मूल गुण निर्दोष रूपसे पालता है और उत्तर गुण पालनेमे कुछ शिथिलता दिखती है तो ऐसे साधुके प्रति उपेक्षाका भाव न लायें।

(१५८) **साधुवोके प्रति विनम्रता व सेवाका परिणाम**—साधुवोके प्रति व्यवहारकी बात हम कह रहे हैं अपने आपकी दयाके लिए। इसी विषयको लेकर आज हम दो बातें स्पष्ट कर रहे है कि जैसे कभी कोई लोग इन साधुजनोसे चित्त हटानेके लिए कोई दलील देते हैं तो वे दो बातें कहते है, एक तो उत्तर गुणकी बात कहते हैं कि ये परीषह नही सहते, ये वन में नही रहते अथवा अमुक परीषह नही सहते। तो देखिये ये तो हैं उत्तर गुण, पर इन बातो की चर्चा करके लोग उनमे दोष निकालते है, मगर भाई ऐसी बात मनमे न लावो, इससे बहुत पाप लगता है, और उसकी ठीक स्थिति नही होती है, इसलिए अपने आपपर दया करके बहुत सोच समझकर बात करनी चाहिए, दूसरी बात—लोग उद्दिष्टकी कह देते हैं, अरे ये तो उद्दिष्ट आहार करते है—अरे भाई उद्दिष्टका अर्थ यह है कि आपके घरमे जैसी अशुद्ध रसोई रोज-रोज बनती है वैसी ही घरमे रसोई बने और सिर्फ साधुके लिए अलग बना लिया जाय, साधु अगर जान जाय कि यह तो सिर्फ मेरे लिए ही भोजन बना है फिर भी उसे ग्रहण करे तो यह उसके लिए उद्दिष्टका दोष है। और अगर घर वालोके लिये भोजन बनना ही है उसमे साधुको आहारदान देनेके ध्यानसे भी घरमे शुद्ध भोजन बना तो वह उद्दिष्ट नही। देखो और दिन तो अशुद्ध आहार रोज-रोज बना करता था, उस दिन साधुको आहार देनेके ध्यानसे भोजन बनाया जायगा तो वहाँ तो बडे विशुद्ध भाव होगे, उसमे हिंसासे बचते हुए शुद्ध विधिसे आहार बना तो बताओ यह गुणकी बात हुई कि दोषकी ? अरे जहाँ जीवहिंसासे बचाकर शुद्ध विधिसे भोजन बना तो वह तो एक गुणकी ही बात हुई, और अगर कोई अपने पूरे घरके लिए तो वैसा ही अशुद्ध भोजन बनावे जैसा कि रोज रोज बनता था और सिर्फ साधुके लिए अलग भोजन बनाया जाय और यह बात जानकर भी साधु उस आहारको ग्रहण करे तो वह उद्दिष्ट दोष है। देखिये चार शिक्षा व्रतोमे एक अतिथिसम्विभाग

व्रत भी माया है । १२ व्रत तो आप लोगोने सुने होगे—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, व परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, दिग्व्रत देशव्रत अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण व अतिथिसविभागव्रत इनमे पहिला तो है अहिंसाणुव्रत और आखिरी है अतिथिसम्विभाग । देखो ऋषीजनोकी प्रणाली बडी अच्छी होती है । अच्छा आप प्रक्रिया देखिये—सबसे पहिले तो कहा अहिंसा अणुव्रत और सबसे बादमे कहा—अतिथिसम्विभाग व्रत । अतिथिसम्विभाग व्रतमे किसीका ऐसा व्रत होता है कि हम अमुक दिन अतिथि सम्विभाग व्रत करेंगे, मानो इतवारके दिन करेंगे, या किसीका ऐसा व्रत होता है कि हम अमावस पूर्णिमाको अतिथिसम्विभाग व्रत करेंगे । अतिथि सम्विभागव्रतका अर्थ है—पहिले अपने यहा आये हुए अतिथि त्यागी, व्रती मुनि वगैरहको आहार देकर बादमे खुद भोजन करना । वह अगर अपने लिए तो अशुद्ध ढगका भोजन अलग बनावे और मात्र अतिथिके लिए थोड़ासा शुद्ध भोजन बनाकर अतिथिको दे तो वह उसके लिए उद्दिष्ट दोष है । यह तो है आहार दाताके आश्रयका दोष और अगर साधु यह जानकर भी कि इसने तो सिर्फ मेरे लिए ही शुद्ध विधिसे आहार बनाया है, उसे अगर ग्रहण करे तो वह उस साधुके आश्रय का उद्दिष्ट दोष है यह सब कहनेका हमारा प्रयोजन यही है कि जहा विषय कषाय रागद्वेष आदिक विरुद्ध कार्योंमे इतना मस्त रहते है, निरन्तर कषायें बनाये रहते है, ऐसी स्थिति वाली परिस्थितिमे हम थोडा विनयभाव रखें, नम्रता रखें तो हममे पात्रता रहेगी और हम उस शुद्धस्वरूपके दर्शनके पात्र रहेगे ।

(१५६) **हमारा लक्ष्य व उपलक्ष्य**—करने योग्य काम केवल एक यह ही है—शुद्ध चैतन्यस्वभावका दर्शन करना, उसही मे मग्न होना और उसही मे निरन्तर बने रहना । हम आप आजकल इतना बडा कार्य कर सकनेमे असमर्थ हो रहे है तो हमे कैसा व्यवहार बनाना चाहिए उसका विवेक अवश्य होना चाहिए और अपना लक्ष्य रखें एक । देखो जैसे कोई मकान बनवाता है तो उसका लक्ष्य तो रहता है मकान बनवाने का, मगर उसके लिए वह रोज रोज अनेक कार्य करता है, जैसे कभी ईंटें मगवाना, कभी सीमेन्ट मगवाना, कभी लोहा मगवाना, कभी कारीगरोके पास जाना, कभी बालू मौरग आदि मंगवाना, ये सब काम उसे रोज रोज करने पडते है तो ये हुए उपलक्ष्य । अगर कोई सोचे कि लो आज तो हमने ईंटें मगवा लिया, लोहा भी मगवा लिया, अब तो हमारा लक्ष्य पूरा हो जायगा सो कैसे पूरा हो सकेगा ? अरे लक्ष्य तो उसका बना है मकान बनवानेका अब उसके लिए जो अनेक कार्य और और करने पडते है वे सब उपलक्ष्य हैं । वे सब उपलक्ष्य उस मूल लक्ष्यकी सिद्धि करने वाले हैं । जब तक मकान नही बन जाता तब तक उन उपलक्ष्योको करना पडता है, उनके

किए बिना उस लक्ष्यकी पूर्ति नही हो सकती। ठीक इसी प्रकार हमने उस निश्चयधर्मकी प्राप्तिके लिए जो जो भी प्रोग्राम बनाया है वे सब रोज रोज करते रहनेका हमारा कर्तव्य है। वे सब उपलक्ष्य हैं, अगर आप यह सोच लें कि आज हमने पूजा पाठ कर लिया, प्रभु भक्ति कर लिया, हम तो भगवान हो गए, हमारा लक्ष्य पूरा हो चुका तो ऐसा मानकर बैठ जानेसे आपका वह लक्ष्य तो न पूर्ण हो पायगा। उस लक्ष्यकी पूर्ति जब तक हो न जाये तब तक वे सारे उपलक्ष्य रोज-रोज करने होगे, तभी उस लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकेगी। जैसे मकान बनवाने वाला प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्योंको करते हुए अपने मकान बनवानेके लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, ठीक इसी प्रकार उस निश्चयधर्मको लक्ष्यमे लेने वाले ज्ञानी पुरुषको उसकी प्राप्तिके लिए प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्य करने होगे। जब तक उसे अपने वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्ति नही हो जाती अर्थात् जब तक उसे निश्चयधर्मकी पूर्णरूपेण प्राप्ति नही हो जाती तब तक वह किन्ही भी उपलक्ष्योमे अटकता नही है। ऐसी उसकी स्थिति रहती है।

(१६०) **रागादिविकारोंकी अहितकारिता**—मैं रागद्वेषादिक नही हूं। जो पुरुष स्त्री पुत्रादिक परिजनोमे, धन सम्पदामे, इज्जत पोजीशन आदिमे मोह करते है, अर्थात् वे ही मेरे सर्वस्व हैं, ये ही मेरे प्राण हैं, इस तरहका अज्ञान बसाते है उन जीवोको शान्ति कहाँ और और आनन्द कहाँ ? जब भीतरमे भाव विपरीत हो गया है, मिथ्याधारणा हो गई है, पर वस्तु को अपना माननेकी बुद्धि हो गई है वहाँ शान्ति और आनन्द कहाँसे प्राप्त हो सकते हैं ? इस प्रकार जब किसी पर वस्तुमे हम राग रखते हैं, लगाव करते हैं, उसके प्रति प्रीतिका परिणाम करते है, जैसे कुटुम्बपर, देह पर, सम्पदापर जो लगाव होता है उस लगावमे भी शान्ति और आनन्द कहाँसे हो सकता है ? लेकिन मोही जीव तो जिसके कारण कष्ट है उस ही को अपनाया करते है। यही तो अज्ञानकी बात है। जैसे बालकको कुछ पता ही नही रहता, आग हो उसे भी उठा ले, कोई गदी वस्तु हो उसे ही उठाकर मुखमे रख ले, जैसे उसे कुछ पता ही नही, इसी प्रकार मोही जीवोको भी कोई विवेक नही रहता। जिन पर वस्तु-वोसे उन्हे कष्ट होता उन्हे ही वे अपनाते है। एक ओरसे देखो तो जितने भी समागम प्राप्त हैं वे सब समागम हमारे कष्टके ही कारण बन रहे हैं—शान्तिके कारण नही बन पा रहे। इनसे विरक्ति कैसे हो ? जब समझ लिया कि ये मेरे आनन्दके कारण हैं तो इनसे वैराग्य कहासे आये ? और जब ऐसी धारणा बनी है तो सयुक्त जीवका, सयुक्त पदार्थका नियमसे वियोग होता है, तो वियोग होगा और जब वियोग होगा तब इसे भय और कष्ट भोगना पडेगा। शान्ति कहाँ है परवस्तुके लगावमे ? द्वेषमे भी कहाँ शान्ति रखी है ? वहाँ तो हृदय जलता रहता है, अनिष्ट वस्तुको देखनेका भी मनमे परिणाम नही रहता। और उससे होता

है द्वेष। द्वेष होनेसे शान्ति कहां होती है ? शान्ति तो समतामे है और समता भावनासे पैदा होती है। बाह्य वस्तुओसे समता पैदा न होगी। कोई सोचे कि मेरे पास इतना धन जुड जाय, तो उतने धनसे समता आ जायगी क्या ? शान्ति प्राप्त हो जायगी क्या ? अरे धन समागमोका जुडना शान्तिका कारण नही है। शान्तिका कारण तो अपना विशुद्ध भाव है। जिन्हे बारह भावनाओके रूपमे बताया गया है।

(१६१) अनित्यभावनाकी उपयोगिता—बारह भावनाओका चिन्तन करें तो वह भी प्रतिदिनका काम होना चाहिये। जब जाप देते हैं सामायिक करते हैं तो उस समय ये बारह भावनायें चिन्तनमे आनी चाहिये—भावना कहते हैं उसे जो बारबार भायी जाय, विचारा जाय, उसका अनुसधान किया जाय अपने आपमे, ऐसे चिन्तनका नाम है भावना। इसका दूसरा नाम है अनुप्रेक्षा। अर्थात् जैसे अपने आपका शरण, अपने आपका प्रभु मिले उसे प्रकर्ष रूपसे देखना इसे कहते हैं अनुप्रेक्षा। पहिली भावना है अनित्य भावना। अनित्यभावनाका स्वरूप कहा गया है कि समस्त वस्तुओको विनाशीक देखना। राजा, राणा, छत्रपति ये सब मरणहार हैं, यौवन जीवन ये सब क्षणभगुर हैं, चपल बिजलीकी तरह हैं, सबको विनाशीक देखना यही है अनित्यभावना, लेकिन एक रहस्य और जानो कि अगर हम ऐसा ही ऐसा लखते रहेगे ये मरेंगे, वे मरेंगे, तो ऐसा ऐसा ही लखनेमे धीरता आयगी कि अधीरता ? अधीरता ही आयगी ? घबडाहट ही बनेगी। ये भी मरेंगे, मैं भी मरूँगा, सब कुछ विनाशीक है, यो घबडाहट पैदा हो जायगी, लेकिन अनित्य भावनामे तो यह बताया ही गया है कि देखना कि सब विनाशीक है, तो क्या भावना घबडाहट पैदा करनेके लिए होती है ? नही। उसमे एक राग है। यह निरखिये कि सब पदार्थ विनाशीक हैं, मगर यह श्रद्धा बनाये रहे कि मेरा जो आत्मस्वरूप है वह अविनाशी है। दोनो बातें दृष्टिमे रखें, नही तो विनाशीक विनाशीक ही निरखनेमे रहे तो उसमे घबडाहट हो जायगी। मैं आत्मस्वरूप, चैतन्यस्वरूप जो मैं हू सहज, स्वतत्र, निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा, याने सहजस्वरूपकी बातकी ही गई है, इस समय मैं क्या बन रहा हू ? ससारकी क्या परिणति है, इस समय मेरी क्या क्या दशायें हो रही है, नाना पर्यायोमे परिभ्रमण चल रहा है। यह तो जान लिया कि पर्याय है, विपरीत है, वह हटाने योग्य है। समझ लिया, पर इसमे भाव तो नही लगाया जाता। मनुष्य हू, लेकिन जब मैं अपने आपकी भावना बनाता हू उस समय मैं मनुष्य हू यह भावना नही आती। उस समय यह भावना आनी चाहिये कि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। देखिये यह रहस्य कोई नया निकला हुआ नही है, इसकी सूचना कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथामे मिलती है, जो द्रव्यपर्यायोसे उत्पन्न होता है, विनाशीक होता है, उनके विनाशकी बात कही गई है।

द्रव्यदृष्टिसे विनाशीककी बात नही कही गई तो अपने आत्माको नित्य है ऐसी श्रद्धा रखते हुए जो बाहरके समागमोको ये विनाशीक है, मिटेंगे, ऐसी भावना करें तो उसके अनित्य-भावना होती है।

(१६२) **अशरणभावनाकी उपयोगिता**—अशरणभावना मेरे लिए कोई शरण नही है, सब अशरण हैं, सब असार हैं, मेरे कोई सहाय नही—"दलबल देवी देवता, मातु पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार" अच्छा इतनी बात देखने वाले लोग दुःखी रहते हैं, घबडाहट उत्पन्न करते है—हाय मेरा कोई राखनहार नही है। सब मेरेसे किनारा काट जायेंगे। तो अशरण भावनामे जब तक अपने आपके शरणकी सुध न हुई हो तब तक अशरणभावना सही ढंगकी नही बनती। सब अशरण हैं, किन्तु मेरे आत्माका यह मै आत्मा शरण हूं। देखो भाई जब किसी बडे आफीसरका तबादला होता है ना तो उसको उस तबादलेमे कोई कष्ट तो नही होता। अरे उसका सामान ले जानेके लिए मालगाडीका एक डिब्बा मिलता है। बैठनेके लिए सवारी गाडीका एक डिब्बा मिलता है। इधर भी कई नौकर पहुंचाने वाले मिलते हैं, उधर जहाँ पहुचेगा वहाँ भी तमाम नौकर मिलते है। स्वागत करने वाले लोग मिलते हैं। रहनेके लिए अच्छा मकान मिलता है। बताइये उस आफीसरको उस तबादलेमे क्या कष्ट? कष्ट तो होता है छोटे-छोटे क्लर्कोंको, जिन्हे तबादला होनेपर बडी दिक्कत उठानी पडती है। उनको किरायेका नया मकान तलाशना पडता है, उनको अपने बच्चोको स्कूलमें भर्ती करानेका सारा कष्ट करना पडता है। तो कष्ट करना पडता है उन छोटे लोगोको। और आत्माकी बात देखो—जो आत्मा ज्ञानी है, सम्यक्त्वी है, अपने आपकी श्रद्धा वाला है, अपने स्वरूपका जिसको परिचय है, जो जानता है कि मेरा सब कुछ मेरेमे है। जो मेरेमे है वह नही, जो बाहर है वह मेरेमे नही। मेरेमे मेरा सर्वस्व है, इसका जिसको अभ्यास है, यहाँ जिसने बहुत बहुत दृष्टिकी है ऐसे बडे ज्ञानी पुरुषको मरणके समयमे वह भी तो तबादलेका सम्बध है। एक जीवका दूसरे भवमे तबादला हो रहा है तो उस तबादलाके समय इस ज्ञानी गृहस्थको क्या परेशानी? जा रहा है आनन्दसे। अपना पूराका पूरा जो कुछ इसकी सम्पदा है, जो कुछ इसका वैभव है वह साराका सारा साथ लिए जा रहा है, वह कुछ नही छोड जा रहा है। वह जान रहा है कि मैं जहाँ जाऊँगा वहाँ तो तैयारी ही सारी है। बतलावो क्या परवाह है उस ज्ञानी पुरुषको तबादलेके समयमे अर्थात् मरणके समयमे? तकलीफ तो अज्ञानीको है, मोहीको है, गरीबको है। मर रहा है और कह रहा है अरे भाई फलाने लडकेको दिखा दो, फलाने मुन्नेको मेरी छातीपर धर दो। यो वह मर रहा है सक्लेश पूर्वक। हाय मैने बडी मुश्किलसे जीवनभर सम्पदा जोडा देखो आज सारीकी सारी सम्पदा हमसे छूटी

जा रही है। आज हमारे साथ कुछ भी नही जा रहा है। कदाचित अभी वह अधमरा है, बोल बन्द है, बातें सब सुन रहा है, समझ रहा है, अब वह मरने वाला है, लोगोने उसे खाटसे उतार कर नीचे रख दिया, कपडे उतारने लगे, जो कुछ सोनेकी अगूठी जजीर आदि जेवर पहिने थे वे उतारने लगे। वह पडा हुआ देख रहा है और संक्लेश करके मर रहा है कि हाय मेरा सब कुछ आज मुझसे छूटा जा रहा है, यो ये अज्ञानी मोही प्राणी बडे सक्लेश परिणाम करके मरते हैं, पर वह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा तो सब कुछ मेरे साथ ही जा रहा है, मुझे इस शरीरके बदलनेमें क्या कष्ट। उस ज्ञानी पुरुषने पहिलेसे ही ऐसा समझ लिया था कि ये दिखने वाले समस्त पर पदार्थ मेरे कुछ नही है, ये मेरे लिए शरण नही है। मेरा शरण, मेरा सर्वस्व तो मेरे साथ है, इसलिए उसे मरणके समयमे रच भी खेद नही होता है।

(१६३) संसार, एकत्व व अन्यत्व विषयकी भावनाकी उपयोगिता—तीसरी है संसार भावना। विचारते हैं ना कि जगतमे सब बेकार है, कुछ भी सार नही है। बात ठीक है, जो कुछ है सब असार है, कोई मेरे काम नही आता। ठीक है। ऐसी बात तो जिन्हे क्रोध आता है, जो रूठ जाते हैं वे भी कह बैठते हैं कि सब बेकार है, कोई किसीका नही है या सब बेकार है, जिन्दगी बेकार है, अरे इतनेसे संसारभावना न बनी। यह तो हुआ ससार का स्वरूप पर यह भी बात होनी चाहिए कि मेरे आत्माका जो स्वभाव है वह मेरेको सारभूत है। अपने सारका पता होनेके साथ बाहरी असारका परिचय होनेमे ससारभावना सही तौरमें बनेगी? चौथी है एकत्वभावना—इस एकत्व भावनामे कहते हैं कि अकेला ही सुख दुख भोगे, अकेला ही जन्म मरण पावे, अकेला ही मरे। तो यह बात ठीक है। ये सब ऊपरी ऊपरी बातें हैं, इतनी बात तो जो चाहे गरीब, देहाती, या मामूली पढे लिखे लोग भी कह देते हैं—कि हा हमे अकेले ही तो मरना है। देखते ही हैं कि जो मरता है वह अकेला ही जाता है, उसके साथ कोई दूसरा नही जाता। जो लोग उस मरने वालेसे मोह करते थे, उसके भाई, पुत्र, पिता अथवा स्त्री आदिक वे मरनेके बाद थोडी देरके लिए उस मृतक शरीर से बडा प्रेम दिखाते हैं, उसे छोडते नही है, उसके पीछे बडा रुदन मचाते हैं। जब पच लोग उसे श्मशान ले जानेके लिए उठाने चलते हैं तो वे घर वाले कहते हैं—अरे न ले जावो मेरे फलानेको। मानो पचलोग कह बैठें कि अच्छा भाई तुम लोग कहते हो तो चलो न ले जायेंगे यही पडे रहने दो, तो शायद वे घर वाले यही कह उठेंगे कि अब ता इन्हे जल्दी यहासे ले जावो, देर न करो। आखिर वह अकेला ही वहाँसे जाता है उसके साथ कोई दूसरा नही जाता। तो केवल इतना कह देनेसे एकत्व भावनाका सही काम नही बन पाता कि यह जीव मरकर अकेला ही जाता है। उस एकत्वके साथ साथ यह भी सोचना चाहिए कि मैं [illegible] निराला कर्मोंसे निराला हू समस्त परभावोसे निराला हू। मात्र

ज्ञानस्वरूप हू ऐसा जो सर्वपरसे निराला मै हू वह अकेला ही यहांसे जाऊँगा। इस मुझके भावना साथ यहांका कोई भी परपदार्थ न जायगा यह एक सही ढगकी एकत्व भावना हुई। है अन्यत्व भावना। इस अन्यत्व भावनामे कहते है कि मेरेसे सब जुदे है, मेरा कुछ नही है। ५ वी "जहाँ देह अपनी नही, तहाँ न दूजा कोय।" सब प्रकट पर है, ऐसी बात तो हर एक कोई कह लेता है, पर उसके साथ ही साथ ऐसी भी अन्यत्वभावना होनी चाहिए कि मेरा तो एक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इसके अलावा जो मेरेमे छाया आती है, विकार, विचार, विभाव विकार तरगें होती है ये मेरी नही है। मै तो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू।

(१६४) अशुचि, आस्रव संवर व निर्जरा विषयक भावनाकी उपयोगिता—छठवी है अशुचिभावना। इस अशुचि भावनामे कहते है कि सब अपवित्र है। यह देह बडा गदा है, इसमे खून है, विष्टा है। यह महा मलिन है, यो गंदा गंदा देखनेसे काम न बनेगा। इसके साथ यह भी देखें कि मेरेमे जो मेरे आत्माका स्वरूप है वह पवित्र है, उस पवित्र ज्ञानस्वरूप आत्माको श्रद्धामे रखते हुए बाकी ये सब बाहरके शरीर आदिककी अशुचित्वकी भावना होगी तो वह हमारी इस अशुचिभावनामे और भी मददगार होती है। ७ वी है आस्रवभावना। इस आस्रवभावनामे कहते है कि रागद्वेष मोह करनेसे कर्म आते है। कर्म बधते हैं, ठीक है, बधते है। सही बात है, पर साथ ही मेरा स्वरूप तो निराश्रव है, मेरा स्वभाव तो निरास्रव है, मेरेमे तो मात्र मैं ही हू। इसकी दृष्टि न बननेसे आस्रव हो रहा है। अपने आप मे अन्तः जो स्वरूप है उस स्वरूपकी भावना हो तो यह आस्रव न हो। यह आस्रव दुःख दायी है, इससे निवृत्त होना चाहिये, ये सब बातें ठीक समझमे आयेगी। ८ वी है सवर भावना। इस संवर भावनामे कहते है कि जब मोह नीदसे जग जाय, अपने आपके स्वरूपकी सुध हो जाय तो कर्मका संवर होता है याने जो दुःखके हेतु है, दुःखके साधन हैं वे समागम मेरे कैसे निवृत्त होगे? वे निवृत्त होगे जग जानेसे। सम्यक्त्वभाव, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयके परिणाम द्वारा भी सब आस्रव बध भाव दूर हो जाते हैं। ९ वी है निर्जराभावना, जो इस निर्जरा भावनाको भाता है वह ठीक ही है। जब ज्ञानका दीपक भरा हो, तपका तैल भरा हो, फिर उस दीपमे उस ज्ञानसे जो सयत है उससे अपने घरका शोधन करे तो ये कर्मचोर भगने लगते है। मेरा धाम कितना है? "जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुचू निजधाम, आकुलताको फिर क्या काम॥" ये सब नाम तो इस आत्माके ही पर्यायवाची शब्द हैं —जिन—जो जाने सो जिन। वह हू मैं शिव—जो कल्याणवान हो सो शिव, वह हू मै, ईश्वर—जो उत्कृष्ट हो सो ईश्वर, वह हू मैं, ब्रह्मा—जो सृष्टि करे सो ब्रह्मा—वह हू मैं, राम—जिसमे योगीजन रमण करें सो राम, वह

हूं मैं, विष्णु —जो व्यापक हो सो विष्णु वह हूँ मैं बुद्ध—जो सर्वज्ञाता हो सो बुद्ध, वह हू मैं, हरि—जो पापोको हरे सो हरि, वह हू मैं। मैं ऐसे धाममें पहुंचू तो फिर वहाँ आकुलताका कोई काम नही रहता।

(१५५) **लोक बोधिदुर्लभ व धर्मविषयक भावनाकी उपयोगिता**—१० वी है लोक भावना—इस लोकभावनामे यह भावना करनी है कि इतना बडा है लोक, और इस लोक का कोई ऐसा प्रदेश नही बचा जहाँ इस जीवने अनेक बार जन्म मरण न किया हो। उसके साथ ही यह भी भावना बनायें कि हाय—एक इस अज्ञानसे मैंने ऐसा परिभ्रमण किया। अगर हमे अपने आत्माकी सुध हो और इस ही आत्माकी धुन बने, सारे पौरुष इसके लिए किए जायें तो एक समय वह आयगा कि लोकका सारा परिभ्रमण समाप्त हो जायगा। ११वी है बोधि-दुर्लभ भावना— इस भावनामे यह भावना बनाना है कि इस ससारमे यहाँकी सभी चीजें मिलनी सुलभ हैं किन्तु यथार्थज्ञानका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उस यथार्थ ज्ञानकी पूर्ति कहाँ है ? जहाँ ज्ञान करनेका श्रम न करना पडे। तो उसके मायने क्या है कि स्याद्वाद शैलीसे हम सब कुछ जान लें, सर्वनय विभागोसे हम परख कर लें और किसी भी नयका आश्रय न रखें, समस्त नयोंसे अतीत बनें, ऐसा अपना परिणाम बने, वहाँ पहुचना है, वहाँ है ज्ञानकी पूर्ति, जहाँ एक भी विकल्प न रहे, अनेकान्त जहाँ अनेक अन्त हो मायने धर्म हो सो अनेकान्त। नित्य है अनित्य है, एक है अनेक है। जैसे किसी पुरुषका परिचय कराना है तो कहते हैं कि यह अमुकका पुत्र है, अमुकका पिता है, अमुकका बाबा है आदि, यह अनेकान्तकी पद्धति है। वस्तुका परिचय करानेकी पद्धति है अनेकान्त। अनेकान्तसे परिचय करनेके बाद क्या करना है ? ये सब परिचय समाप्त हो जायें और एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप परिचयमे रहे। कोई कहे कि आप तो पहिले कहते कि अनेकान्तसे ये सब परिचय करो और फिर परिचय करनेके बाद उनका परिचय छोड दो, तो जब छोडना ही है तो फिर हम पहिलेसे ही क्यो न छोडे रहें ? तो भाई ऐसी बात नही है। पहिले तो पदार्थका पूरे रूपसे परिचय पावो इसके बिना वह स्थिति न मिलेगी कि उस परिचयको छोडकर ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो जाय। जैसे किसी महलपर चढना है, तो महल पर चढनेके लिए पहिले सीढियोपर चढना पडता है। क्रम क्रममे वे सीढ़िया छूटती जाती हैं और वह महलपर पहुच जाता है। अब कोई कहे कि आखिर उन सीढ़ियोको छोडना हो पडता है, तो हम उनको पहिलेसे ही क्यो न छोडे रहे, हम महल पर चढ जायेंगे। तो बताओ क्या वह महलपर चढ पायगा ? न चढ पायगा। अरे भाई अगर नीचे बैठे ही रहो, सीढियापर चढो ही नही, तो ठीक है, बैठे रहो नीचे, इस तरहसे तो महलपर न चढ सकोगे। ऐसे ही समझिये कि पहिले अनेकान्त

द्वारा वस्तुका सम्पूर्णतम परिचय करो, परिचय करनेके बाद उसे छोडो और केवल एक ज्ञान-स्वभाव चैतन्यस्वभावका अनुभव हो। ये दोनो उपाय अनेकान्तमे बनते है। जहाँ अनेक धर्म हो सो अनेकान्त और जहाँ एक भी धर्म नही रहता है वह है अनेकान्त। एक अनेकान्त परिचय वाला है और एक अनेकान्त स्वरूपमे मग्न रखने वाला है। तो एक इस सच्चे ज्ञानके पाये बिना हम लोकमे यत्र तत्र खूब भ्रमण करते रहे। १२ वी है धर्मभावना—धर्म भी ऐसी चीज है कि जिसके फलमे बिना चिन्ता करे यहांकी सभी चीजें स्वयमेव प्राप्त होती है। यह तो एक व्यावहारिक बात बतायी। सभी चीजोकी प्राप्ति यही है कि जहा फिर किसी चीजकी इच्छा ही नही रहती। जहां तक इच्छा रहती है वहाँ तक समग्रता नही बनती और जहा इच्छा न रही वहा सर्वोपरि सिद्धि हो गई याने समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि हो गई। जहाँ तक इच्छा है वहां तक सिद्धि नही है।

(१६६) **इच्छाके अभावकी सुखरूपता**—सुख मिलता है इच्छाके अभावसे। इच्छासे सुख नही मिलता। यह तो लोगोकी कल्पना है कि देखिये—हमने ऐसा किया तो सुख मिल गया, हम फलानेसे मिले तो आनन्द आ गया···। अरे इच्छाके अभावमे आनन्द आता है, न कि बाहरी वस्तुके मिलनेमे आनद आता है। हर एक चीजपर दृष्टि डालो। भोजन खाया, तृप्त हो गए, तो वह तृप्ति असलमे किसकी है? अब भोजन करनेकी इच्छा न रही उसकी तृप्ति है। किसी मित्रने आपको पत्र दिया कि हम कलके दिन सुबह सवा आठ बजेकी ट्रेनसे आपके यहाँके स्टेशनसे होकर जावेगे सो आप मिल लेना। पत्रके पाते ही आपके मनमे उस मित्रसे मिलनेकी इच्छा उत्पन्न हो गई। अब आप और दिन तो उठा करते थे मानो ७-८ बजेके करीबमे, पर उस दिन आप ६ बजे ही जग गए। सारे काम आप जल्दी-जल्दी निपटाने लगे, क्योकि अभी मित्रसे मिलने जाना है। अब आपकी सारी क्रियाये आकुलतापूर्ण हो रही है। जब आप स्टेशन पहुचे तो वहां पूछते कि गाडी कितनी लेट है? अगर बता दिया कि गाडी आधा घटा लेट है तो आप कुछ चिन्तामे पड जाते और कहते—अरे आज तो बेचारी आधा घटा लेट है। लो आज वह गाडी बेचारी बन गई। जब वह गाडी आयी तो आपने खूब दौड धूपकर अपने मित्रको किसी डिब्बेमे पा लिया, आप उससे गले मिले और बडा आनन्द आया। अब बताओ वह आनन्द उस मित्रसे मिलनेका है क्या? अरे अगर मित्रसे मिलने पर आनन्द आता है तो ठीक है, तुम्हे आनन्द ही तो चाहिए, खूब मिलते रहो उस मित्रसे और आनन्द लेते रहो। पर आप कहाँ उसके पास रहना चाहते। आप तो झट खिडकीसे उधर-उधर झांकने लगते कि कही गार्डने सीटी तो नही दे दी, कही गाडी चल न दे। तो भाई इससे मालूम होता है कि मित्रसे मिलने पर आपको वह आनन्द नही आया किन्तु मित्रसे मिलनेका काम अब नही रहा,

मित्रसे मिलनेकी इच्छा अब नही रही उस बातका आनन्द है। तो इतनी इतनी आकुलतायें आपको उठानी पडी उस मित्रसे मिलनेकी इच्छा हो जानेके कारण। यदि पत्र पाते ही आप उसे कूडेमे फेंक देते और सोच लेते कि अरे क्या मिलना, तो फिर वहां कोई आकुलताकी बात न थी। आपने इच्छा किया इसलिए आकुलता हुई। तो इससे आप जाने कि जितने भी दु ख होते है वे इच्छासे होते है और जो भी दु.ख मिटते हैं वे इच्छाके अभावसे। हमको इन इच्छावो का अभाव करना चाहिए। वह होगा सम्यग्ज्ञानसे। जो जैसा पदार्थ है उसका उस तरह ज्ञान करले तो आपकी इच्छायें दूर हो जायेंगी। क्यो चाहे बाह्य वस्तुओको ? वे बाह्य वस्तु मेरी है क्या ? ये मेरे नही है। ये सब एक दिन मेरेसे छूट जायेंगे। जब पर तत्त्व पर तत्त्व हैं। ऐसा जान लें तो उनका लगाव छूट जायगा। जब देह पर है तो फिर उसका क्यो आश्रय करें ? क्यो इसको विषयोमे, आराममे रखना, क्यो इस प्रकारकी प्रवृत्ति करना ? ये सब छूट जायेंगे। "निजको निज, परको पर जान, फिर दु खका नहिं लेश निदान।" जान लें कि यह देह पर है। कषायें भी पर हैं, इन कषायोका मेरे पर अधिकार नही है, ये निमित्तनैमित्तिक भाव से होती हैं, जैसे दर्पणमे हाथ किया तो छाया आ गई। हाथ हटाया तो छाया खतम हो गई, यद्यपि निमित्तने उसमे कुछ किया नही तो भी ऐसा ही सहज योग है कि निमित्तके सन्निधानमे विकारभाव होते हैं। ये विकारभाव मेरे सहजभाव नही हैं। ये विकारभाव हट जायें, अपने शुद्धस्वरूपका आश्रय लें, यही तो करनेकी चीज है। इससे इच्छावोका अभाव हो जायगा। जहां इच्छावोका अभाव हो गया वहां सुख शान्ति होगी। सो भाई सम्यग्ज्ञान बनाओ। बारह भावनाओका इस ढंगसे चिन्तन करो कि आपको नित्य भी अनित्य भी, शरण भी अशरण भी, सार भी, असार भी ज्ञानमे आये। इस तरहका बारह भावनाओका चिन्तन चले और अपने आपके भावोमे विशुद्धि बढावें और अपन सबके जो आवश्यक कर्तव्य बताये हैं उन आवश्यक कर्तव्योका पालन करते हुए अपना लक्ष्य विशुद्ध रखें और अपने आपमे अध्यात्मरसका पान करके तृप्त रहे।

(१६७) **शान्तिके उपायमें मौलिक उपाय सत्यपरिचय**—विचार यह करना है कि सुख शान्तिके लिए नाना उपाय करने पर भी सुख शान्ति प्राप्त नही हो सकी तो अब क्या उपाय करना चाहिए ? तो इतना तो जानना ही होगा कि अभी तक जो उपाय बना रखे उनसे सुख शान्ति न मिली तो वे उपाय मिथ्या हैं। अब दूसरा उपाय सोचना पडेगा। हमें शान्ति चाहते है तो हमे दो बातोका निर्णय पहिले करना होगा। हम क्या हैं और वह शान्ति क्या है जो हमे अभीष्ट हैं ? दो बातें पहिले समझ लो। पहिले अपने आपके बारेमे ही विचार करें इससे पहिले एक बात और जान लें कि परिचयका उपाय क्या होता है ? किन

ढगोमे हम परिचय करें। जब वे ढंग हमे विदित होंगे तो परिचय हमे हो जायगा और यह ढग ज्ञात हो जायगा कि इस तत्त्वका आश्रय करनेसे कल्याण है। तो हम उस तत्त्वकी ओर अभिमुख हो जायेंगे। देखिये सूत्रजीमे बताया है कि "प्रमाणनयैरधिगम." तत्त्वका ज्ञान, वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयोके द्वारा होता है। प्रमाण और नयोंके द्वारा सही ज्ञान होना है। मिथ्याज्ञान नही होता और सही ज्ञानके कारणभूत जो प्रमाण और नय है यह भी सही हुआ करता है। प्रमाण भी यथार्थ है, नय भी यथार्थ और प्रमाण नयोके द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ। तो हम प्रमाण और नयोका कुछ प्रयोग करके अपने आपके सहजस्वरूपका परिज्ञान करे। देखिये—सब लोग अनुभव करते हैं अपने आपको कि यह मैं हू। अब कोई देहमे अनुभव करता कि यह मैं हू। कोई इस देहसे भिन्न ज्ञानस्वरूपको अनुभव करता कि यह मैं हू, कोई कषायोको अनुभव करता कि ये मैं हू, कोई ज्ञानसे भिन्न ज्ञानस्वरूपको अनुभव करता कि यह मैं हू। इस प्रकारसे मैं का अनुभव प्रत्येक जीव करता है। तो मैं हू इसमे कोई सन्देह नही, पर मैं क्या हूं इसे जानना है। जितने भी उपाय हैं प्रमाण और नय। प्रमाण तो होता है सर्वात्मविज्ञान और नय होता है प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमे एक देश धर्मको जानना।

(१६८) नयविज्ञान—हम जरा एक देश परिचयकी ओरसे बढकर प्रमाणकी ओर पहुचें। नय कितने प्रकारके है? तो आगममे बताया है—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय ऋजुसूत्रनय, समभिरूढनय और एवभूतनय। ये सातोके सातो नय सही परिचय देते है, उसमे ऐसा नही है कि कोई नय हमे विपरीत रास्ते पर ले जाय और कोई नय हमे सही रास्ते पर ले जाय। हां नयोसे जो परिचय किया जाता है वह भी यदि उपचार भाषामे चलेगा तो उपचार मिथ्या हो जायगा, पर नय कोई मिथ्या नही होते। यह एक नैगम, सग्रह आदिककी जो परम्परा है इसका दर्शन शास्त्रसे अधिक सम्बन्ध है। जैसे नैगमसे जाना क्या? सत, और असत, सग्रहनयसे जाना क्या? सत् व्यवहार नयसे जाना क्या? सतके भेद, ऋजुसूत्रनयसे जाना क्या? सत्की पर्याय। शुद्धनयसे जाना क्या? ऋजुसूत्रमे जानी हुई बातमे शब्द भेदसे और भेद करके जानते है. समभिरूढनयसे जाना क्या? शब्दके भेदमे जाने हुए पदार्थमे अनेक अर्थोंमे जानना। एवंभूतनयसे जाना क्या कि जिस शब्दसे बोला उस शब्दमे जिस परिणतिका द्योतन किया है उस परिणतिसे परिणत हुएमे ही उसे उस शब्दमे कहना। देखिये यह परम्परा अभेदमे भेदकी ओर ले जाने वाली हुई और दूसरी तरह देखो तो स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर ले जाने वाली हुई। यह एक आगम और दार्शनिक परम्परामे बहुत काम देता है। अब दूसरी तरहसे देखो—नयोके चार प्रकार है परमशुद्धनय, शुद्धनय, अशुद्ध

नय और व्यवहारनय नय सभी यथार्थ परिचय दिया करते हैं। अन्य नयोकी बात हम दूसरे उपचारकी ओरसे पहिचानें तो वह मिथ्याभाषा है। प्रयोजनको देखो तो वह ठीक है, लेकिन प्रयोजनपर दृष्टि न दें और जो भाषा सीधी बोली जाती है उपचारसे वह मिथ्या है और सभी नय हमको एक समीचीन मार्गका प्रदर्शन करते हैं।

(१६९) परमशुद्ध निश्चयनयसे शाश्वत स्वरूपका परिज्ञान—परमशुद्ध निश्चयनय का अर्थ क्या है? वस्तुके शुद्धसहज अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावका बोध कराने वाला परम शुद्ध निश्चयनय होता है। देखो इन नयोके विवरणके समय यह दृष्टि डालें कि हमारा कल्याण स्वभावदृष्टिमे है। हमने अब तक पर्यायोको अपनाया और उसका फल यह है कि हम ससारमे अब तक रुलते चले आये। हमने अपने ज्ञानमे अभी तक पर्यायोको महत्त्व दिया प्रकार अपने सहज स्वभावको महत्त्व नही दिया। तो उस स्वभावदृष्टिकी ओर हम किस पर आ जाते हैं इन नयोके द्वारा परिचय करने पर? तो परमशुद्ध निश्चयनय तो सीधा साक्षात् यह प्रेरणा देता है स्वभावदृष्टिमे आनेका। जो शाश्वत अपने आपके स्वभावमय ही है, जो कभी किसी परपदार्थरूप न हो, जो कभी अपने आपका सत्त्व निकालकर नही फेंकता ऐसा शुद्ध एक स्वभाव वह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय है। जैसे शुद्ध दूध किसे कहते हैं? नहा धोकर लाये हुए शुद्ध दूधकी बात हम नही कह रहे। हम पदार्थकी निगाहसे शुद्ध दूध की बात कह रहे है। शुद्ध दूधका यह अर्थ है कि जिसमे न कोई दूसरी चीज पानी वगैरह मिलायी गई हो और न उसमे से सैपरेटा वगैरह निकलकर बाहर गया हो। तो ऐसे शुद्ध दूधकी बात हम कह रहे जिसमे न कोई अन्य चीज मिले और न कोई चीज उसमेसे निकलकर बाहर जाय, तो ऐसे ही परम शुद्धका विषयभूत जो शुद्धतत्त्व है वह किस प्रकार है कि परसे विभक्त है और अपने एकत्वमे तन्मय है। ऐसा अनादि अनन्त ध्रुव तत्त्व अपने आत्मामे विराजमान जो ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव है उसका बोध कराने वाला परम शुद्ध निश्चयनय है।

(१७०) शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनयसे वस्तुका परिचय—शुद्धनिश्चयनय किसे कहते हैं कि एक द्रव्यका ही ज्ञान तो कराये क्योकि वह निश्चयनयका एक नियम है कि वह एक ही द्रव्यको जाने, एकमे ही जाने। तो शुद्ध निश्चयनय जानता तो एक है मगर शुद्ध पर्याय रूपमे जान रहा है। जैसे प्रभु केवलज्ञानी हैं। केवलज्ञान होना एक शुद्ध अवस्था है। तो इस आत्माको केवलज्ञानी निरखना यह शुद्धनयका विषय है। परमशुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध निश्चयनयमे कितना अन्तर आया कि उसने तो स्वभावको विषय किया और इसने पर्यायको विषय किया, लेकिन क्या एक द्रव्यमे उस पर्यायको अभेदरूप करके देखा? देखा शुद्ध पर्यायको।

इससे हम स्वभावदृष्टिपर किस तरह उतरेंगे कि हमने केवल एक ज्ञानपर्यायको देखा, वह है स्वभावके अनुरूप। तो हम उस केवलज्ञान पर्यायको देख करके स्वभावमे उतर आयेगे और जब स्वभावमे आये तो स्वभावमे जब दृष्टि करते हैं तो परव्यक्ति नही रहता है, मात्र स्वभाव रहता है, और उस स्वभावका आश्रय खुद तो है ही, परका हो गया परिहार, तो वह अपने आपकी दृष्टिमे आ जाता है, यह है शुद्धनयका उपयोग। अशुद्ध निश्चयनय जिसे कहते है कि एक द्रव्यमे जाना किन्तु अशुद्ध पर्यायको जाना। जैसे जीव रागी है, जीव है, रागी है, जीवकी रागपरिणति है, रागपरिणतिसे परिणमता है, वह अपने आपके रागके लिए परिणमा है। सारी बात एकमे देख रहे है षट्कारक विधिसे, लेकिन देखा अशुद्ध पर्यायको तो उसे कहेगे शुद्धनिश्चयनयका विषय। अशुद्धनिश्चय द्वारा जब हम एक तत्त्वको जानते है तो कितना उपकार मिलता है। कैसे स्वभावदृष्टिकी ओर आते हैं सो इसे भी परखलो। जाना जीव, पर रागी। यहाँ निमित्तपर दृष्टि न दें, क्योकि हम एक निश्चयनयके केन्द्रमे बोल रहे है। जब परकी ओर हमारी दृष्टि नही है तो हम कब तक उस रागको लम्बा करेंगे ? वह राग अपने स्रोतभूत स्वभावकी ओर हम अपनी बुद्धि ढालेंगे तो स्वभावकी दृष्टि हम करने लगेंगे। इसमे कठिनाई पडती है, क्योकि पर्याय विपरीत है, विपरीत पर्यायको देखकर विपरीत पर्यायके स्रोतको देखा तो उसमे हमे जरा कठिनाई पडती है। तो परमशुद्धनिश्चयकी अपेक्षा शुद्धनिश्चयनयमे थोडी कठिनाई पडती है स्वभावदृष्टिके लिए, उससे अधिक कठिनाई पडी हमको अशुद्ध निश्चयनय द्वारा स्वभावदृष्टि करनेके लिए मगर उपयोग यह ही है कि हम जिस किसी भी प्रकार इन नयोके प्रयोगसे स्वभावदृष्टिमें आयें।

(१७१) व्यवहारनयसे वस्तुका परिज्ञान—अब देखिये चौथा व्यवहारनय। व्यवहार नय यह बतलाता है कि जितने विकार होते है, विभाव होते है वे विकार और विभाव स्वयं पदार्थमे अपने ही मात्र सत्त्वके कारण परके निमित्त सन्निधान बिना उपाधिके अभावमे अपने आपमे स्वय नही होते है, अन्यथा वे विभाव न कहलाते, स्वभाव कहलाते। विभाव और विकारका अर्थ ही यह है कि और किसी उपाधि संसर्गमे स्वभावके विपरीत परिणति बने उसे कहते हैं विभाव। स्वभावके विपरीत परिणति निमित्त सन्निधानमे ही हो सकेगी निमित्तके अभावमे नही होती। किया तो इस तरह लेकिन यह परखिये कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य समझमे आनेपर वस्तुका सत्ता सिद्ध अधिकार है। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो दर्पणमे जो हाथका प्रतिबिम्ब आया वह एक विकार है। वह विकार एक निमित्तके सन्निधान बिना नही होता, इतने पर भी हाथकी सारी बात हाथमे ही है, हाथसे कुछ भी निकलकर दर्पणमे नही गया किन्तु हाथका सन्निधान पाकर यह दर्पण स्वय ऐसी

अपनी योग्यता रखता है कि वह स्वय अपने आपकी परिणतिसे प्रतिबिम्बरूप परिणम गया तो निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातत्र्य होता है। वस्तुस्वातत्र्य होनेपर भी विकारका विधान यही है कि यह किसी पर उपाधिके ससर्गमे ही विकारी होता है। इस सम्बन्धको कहते हैं निमित्तनैमित्तिक योग। हां इस प्रसगमे मूल बात यह कह रहे थे कि व्यवहारनयके प्रयोगसे हम स्वभावदृष्टिका लक्ष्य कैसे ले सकेंगे ? देखिये व्यवहारनय बतलाता है कि यह वर्तमानमे जो राग होता है, द्वेष होता है, विकार होते है ये सब जीवके स्वरूप नही है, क्योकि उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं। इसी कारण उन्हे पौद्गलिक कहा कि पुद्गलकर्मके उदयसे ये उत्पन्न हुए, याने निष्पन्न किए गए, मगर पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो विभाव निष्पन्न होते है वे पौद्गलिक है नैमित्तिक हैं सो उन्हे निमित्तके पास ले जावो, ये पौद्गलिक हैं, ये मेरे स्वभाव नही है। मेरा स्वभाव तो अनादि अनन्त एक ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है। जो मेरे सत्त्वके कारण ही होता है। जैसे व्यवहार नयकी कैसी कृपा हुई कि उसके प्रयोगसे ही हमने ऐसा पाया कि जिसमे ऐसी सुविधा दिखी कि इसका प्रभाव देखकर स्वभावमे से भी हटाकर फेंक दिया। यह मैं नही हू। मैं तो एक अनादि अनन्त ज्ञानस्वभावी हू। तो व्यवहारनयकी पद्धतिसे हम स्वभावदृष्टिकी ओर आये।

(१७२) **चारो नयोमे यथार्थताका प्रकाश**— अब बात यहाँ यह समझनी है कि यद्यपि ये चारो नय यथार्थ हैं, सत्य बातका प्रतिपादन करते हैं। क्या अनादि अनन्त ध्रुव अखण्ड स्वभाव यह यथार्थ नही है ? है। क्या कोई जीव केवलज्ञानी है, शुद्धपर्यायमे परिणत हो रहा है, क्या यह यथार्थ नही है ? है। कोई जीव रागी है, रागपरिणमनसे परिणत हो रहा है, क्या यह घटना सही नही है ? है। इस प्रकार निमित्तके सन्निधानमे पुद्गलकर्मका उदय पाकर जिसे इन शब्दोमे कहो कि पुद्गल कर्मोदयके सन्निधानमे याने पुद्गलकर्म विपाकका निमित्त पाकर आत्मामे आत्माकी योग्यतासे आत्माकी परिणतिसे विकार हुआ है क्या यह बात यथार्थ नही है ? है। इतने पर भी यदि कोई यह कह दे कि पुद्गल कर्मने राग किया, रागपरिणतिको किसने किया ? पुद्गलकर्मने, तो यह बन गया उपचार। कर्ता कर्मभाव एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ नही होता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो रहता है, पर कर्तृकर्म भाव एक द्रव्यमे एकसे ही होता है, अन्यमे नही हुआ करता, क्योकि जो परिणमता है इसे कर्ता कहते हैं, कर्ता नाम ही उसका है जो परिणमता हो। जो परिणति है वह क्रिया है, जो परिणाम है वह है कर्म और जो परिणमता है वह है कर्ता। इस तरह कर्ता कर्मका जो भाव है वह एक द्रव्यका दूसरेके साथ नही है। इस पर भी चूँकि यह बतानेके लिए कि कर्मके उदयका निमित्त पाकर उस निमित्त सन्निधानमे जीवमे यह राग-

परिणति हुई है इतनी बातको लोकभाषामे समझानेके लिए औपचारिकभाषा बोली जाती है, वहां प्रयोजनमात्र ग्रहण करता है। जब यह कहा जाता है कि पुद्गल कर्मने जीवमे राग किया तो यह हुई औपचारिक भाषा। इस ही रूपमे कोई बात माने तो वह मिथ्या है। व्यवहारनयका जो विषय है वह प्रयोजन है उपचारका। इसलिए उपचार तो मिथ्या है, लेकिन व्यवहारनयने जो बात दिखाया वह मिथ्या नही है उसका प्रतिपादन लोक भाषामे उपचारसे होता है। उससे हमे यह शिक्षा लेना है कि रागादिक भावोको परभाव जानकर, भिन्न जानकर उनका आश्रय न करें। आश्रय करें परमशुद्ध निश्चयनयके विषयभूत उस अखण्ड चैतन्यस्वभावका। देखिये—जब आश्रयकी बात आती है—हम किसका आलम्बन लें। तो उस का उत्तर एक ही है अखण्ड सहज स्वभावका।

(१७३) आश्रेय तत्त्वका निरीक्षण—देखो जगतके सब जीवोकी आदत है कि वे किसी न किसीका शरण मानकर उसका आश्रय तका करते है। व्यवहारमे भी कोई भाईका आश्रय लेता है, कोई स्त्रीका, कोई पिताका, कोई गुरुका आश्रय लेता है, यो जीवोमे किसी न किसी का आश्रय लेनेकी आदत पडी हुई है। ठीक ही है। जब तक यह जीव परिपूर्ण नही है, परम कल्याणमय नही है तब तक तो यह अवस्था आयगी ही। अब विवेक यहां यह बनायें कि हम किसका आश्रय लें कि हमारा कल्याण हो, हम ससारके सकटोसे सदाके लिए छूट जायें। देखिये भाई जगतमे हमारा बाहरमे कोई दूसरा नही, कोई मददगार नहीं, इसलिए बडी सच्चाई के साथ पहिले यह सकल्प बनावें कि मेरेको तो अपना कल्याण करना है, इसके सिवाय और मेरा कोई लक्ष्य नही है। बाहरमे बहुत फसाव करना, लगाव करना, यशकी बात चाहना, लोगोमे अपने नामकी बात चाहना, ये सब बातें कोई कल्याणकारी नही। वह तो गुप्त ही गुप्त अपने आपमे मैं इस गुप्त आत्मप्रभुका उस ही के गुप्त रहस्यका पता लेकर इसकी अनुभूतिके साथ मैं अपने आपमे सब कुछ पाऊँगा और कल्याण करूँगा। यही एक मात्र अभिलाषा है। ससारमे अनेक जीवन पाये, सब जगह कष्ट ही सहे और कुछ उन्नति करते-करते आज हम इस मनुष्यभवमे आये, जो बडा दुर्लभ है। इस मनुष्यभवमे आकर भी हम यदि विकल्पोका इतना उपद्रव बनायें कि रागद्वेष मोहमे ही रात दिन पगे रहे, अपने समता रसका स्वाद लेनेकी पात्रता खतम कर दें तो यह हमारे विवेककी बात नही है। हम धीर हो, गम्भीर हो और बडे विवेक से वस्तु स्वरूपका निर्णय बनायें और उसका फायदा उठायें अपने आपके कल्याण लाभका। ऐसी हम प्रवृत्ति न बनायें कि जिससे हम इस कल्याणके अपात्र रहे।

(१७४) सहजपरमात्मतत्त्वके आश्रयके अभ्यासमें मानव जीवनकी सफलता— देखिये—यह मानव जीवन बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ, जिसको अनेक दृष्टान्तो द्वारा बताया

गया है। पा लिया, और साथ ही एक जैनशासन पाया जिसमे वीतराग मार्गका दर्शन है, जिसमे संसारके संकटोसे सदाके लिए छुटकारा होनेका उपाय है इतनी सब कुछ दुर्लभ बात पाकर हम केवल दया अपना लक्ष्य बनाये कि मैं कैसे अपने इस ज्ञानस्वभावमे लीन होऊँ। वह उपाय चाहिये हमे और चूंकि ऐसी बात सदा काल नही बन पाती। कभी कोई क्षण मिल सकेगा। बडी कठिन बात है, यहाँ कुछ न कुछ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियाँ करना ही पडेगी। तो हम अपनी कैसी प्रवृत्ति करें जो हमारे स्वभावदर्शनसे विमुख न कर दे। जो मेरेमे रागद्वेष मोह न बढने दे, ऐसी हम अपनी परिणति बनायें। ऐसी प्रवृत्तिमे, ऐसे सद् व्यवहारमे विनयशील रहकर, जिसे सक्षेपमे कहा गया देवशास्त्र गुरुके प्रति विनयशील रह कर परमार्थत. अपने आपके अविकारी स्वभावकी ओर विनयशील रहकर हम सदा इस धुन मे रहा करें कि हम कैसे अपने आपके ज्ञानस्वभावमे गुम हो जायें ? उस धुनमे फिर हम जो कुछ करेंगे, वे सब हमारे विवेक वाले काम होगे। हाँ स्वभावदृष्टिमे हमको पहुचनेका काम पडा हुआ है।

(१७५) भूतार्थनयका विषय परम आश्रेय तत्त्व—एक उपदेशमे आचार्य कुन्दकुन्द देवने बतलाया है कि व्यवहार अभूतार्थ है, शुद्धनय अभूतार्थ है और जो भूतार्थका आश्रय करता है, उसके सम्यक्त्व होता है, वह कल्याणमार्गमे चलता है। जरा अपनी दृष्टि बनावो। भूतार्थका अर्थ क्या और अभूतार्थका अर्थ क्या ? भूतार्थका अर्थ है—शब्दमे निकली हुई वस्तु मे स्वयं अपने आप सहज निरपेक्षतया मात्र अपने ही सत्त्वके कारण परसन्निधान बिना जो हो उसे कहते हैं भूतार्थ। तो भूतार्थ तत्त्व क्या है ? जो मेरा आत्मा परसम्पर्क बिना, परापेक्ष बिना स्वय अपने आप स्वभावतः स्वय मौजूद हो ऐसा भाव क्या है, जिसे सहज ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव आत्मस्वभाव अतस्तत्त्व किसी भी रूपमे कहो, जो अनादि अनन्त बिराजमान है, पर्यायमे घटाया जाता हैं, पर्यायें आया करती है, ऐसा जो अन्त. स्वरूप है वह है स्वय सहज निरपेक्षतया अपने आपमे होने वाला अर्थ। इसे कहते है भूतार्थ। अभूतार्थ क्या है ? तो सक्षेपमे तो भूतार्थके वर्णनसे ही जान लेना चाहिए कि जो भूतार्थ नही सो अभूतार्थ। वह क्या कि जो आत्मामें स्वय सहज निरपेक्षतया अपने स्वभावसे न हो। तो परसम्पर्कमे निमित्त सन्निधानमे, अशुद्ध पर्यायमे या भेदमे इन सब बातोमे जो हो उसे कहते है अभूतार्थ।

(१७६) सत्य व असत्यरूपमे अभूतार्थकी द्विविधता—अभूतार्थ कोई झूठ होता, शेष सत्य अधिक है जैसें आज हम आप मनुष्य हैं, मनुष्य है क्या यह बात झूठ है ? झूठ तो नही है लेकिन अभूतार्थ जरूर है। कैसे अभूतार्थ है कि यह मैं आत्मा स्वय अपने स्वभावतः निरपेक्षतया निमित्त बिना, कर्मसम्बन्ध बिना मनुष्य नही होता, इसलिए यह भूतार्थ

है। सच होनेपर भी अभूतार्थ है अर्थात् मनुष्य है, यह पर्याय है। त्रस स्थावर ये पर्याय हैं, हम आप क्रोध, मान, माया, लोभमे चल रहे है, दुःखी हो रहे हैं, ऐसी प्रवृत्ति हो रही हैं, वह हो रही है सम्पर्कमे। देह कर्म और जीव इन तीनोंका पिण्डोला बन रहा है। इस विवेकसे भी एक तत्त्वको जाना, वह हमारी श्रेयोमार्गकी दृष्टि है मगर इस समय तो इन तीनोका समुदाय है, यह जो इतनी यात्रा चल रही है। उसका विधि विधान भी यही है सो यह भी चीज सच है और किस पर्यायमे चल रहा है जीव, यह जीवकी परिणति कौनसी चल रही है? यह जानें, यह भी ठीक है। सच होने पर भी एक भूतार्थ नही है, किन्तु अभूतार्थ है। क्यो अभूतार्थ है? है तो सच। क्या सच होनेपर भी अभूतार्थ कोई होता है? सचकी परिभाषा अलग है और अभूतार्थकी परिभाषा अलग है। अभूतार्थकी परिभाषा यह है कि स्वय सहज निरपेक्ष स्वय जो नही है, किन्तु निमित्त सन्निधानमे है, स्वभावमे विपरीत है उसे कहते हैं अभूतार्थ। बात सही है। व्यवहारकी बात भूठ नही है। पर व्यवहारमे जो बात समझी जा रही है वह बात अभूतार्थ है, याने जीवका स्वभाव नही है, जीवका एक निरपेक्ष भाव नही है। अर्थ इतना निकला।

(१७७) सत्यार्थ व असत्यार्थकी पारमार्थिक परिभाषासे भूतार्थ व अभूतार्थका मेल—अब देखिये—भूतार्थका दूसरा नाम सत्यार्थ भी है। अभूतार्थका दूसरा नाम असत्यार्थ भी है। इसे जरा ध्यानसे सुनो—सत्यार्थका अर्थ क्या है? सच्चा, यह नही, सत्यार्थके मायने यह नही कि बात सच निकले। सच निकले वह बात अलग है मगर सत्यार्थका अर्थ है सत्मे स्वय अपने आप निरपेक्षतया जो भाव हो उसे कहते हैं सत्यार्थ। याने जो भूतार्थका अर्थ है वही सत्यार्थ का अर्थ है। याने आत्मापर घटावो। आत्मामे अपने आप स्वय निरपेक्षतया स्वभावतः जो अनादि अनन्त भाव है, जिनके बिना अपना अस्तित्व नही रहता है, ऐसा जो पारिणामिक भाव तन्मय जो एक अतस्तत्त्व है वह है सत्यार्थ। तो असत्यार्थ क्या है? जो स्वय सत्मे अपने आप निरपेक्षतया न हो उसे कहते है असत्यार्थ। याने मुझ आत्मवस्तुमे निमित्त पाकर जो वस्तु बनी है, कर्मोदयसे जो बात निष्पन्न हो रही है वे सब बातें हैं सत्यार्थ। असत्यार्थके मायने यह नही कि यह भूठ है। यह सच है, मनुष्य है, तिर्यञ्च है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है; और उसका विधि विधान भी यही है। ये सब विकार निमित्तनैमित्तिक सन्निधान मे हुए हैं इस कारण ये नैमित्तिक हैं, परभाव है, इतना सब कुछ होनेपर भी बात यद्यपि यह सही है, सही होनेपर भी चूंकि यह स्वभावरूप नही है, आत्माके सत्मे स्वय अपने आप निरपेक्षतया नही हुआ है इसलिए यह असत्यार्थ है। असत्यार्थका अर्थ भूठ नही। असत्यार्थका अर्थ है स्वय निरपेक्षतया अपने आप न होने वाली बात। अभूतार्थका अर्थ है स्वय अपने

आपमे न हुई बात। बात सब जान लीजिये, नय कोई मिथ्या नही होता। आखिर नय श्रुत ज्ञानका अश है। जितने भी नय हैं वे सब श्रुत ज्ञानके अंश है। ये उपचारमे शामिल नही इस लिए उपचारकी बात मिथ्या है। तब फिर नयोके जितने भी विषय हैं वे कोई विषय मिथ्या नही हैं। नैगमनय, सग्रहनय आदिक समस्त नय सम्यक् हैं। व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्ध-नय, अशुद्धनय ये सब सम्यक हैं। किसीका स्वरूप गलत नही है, लेकिन जब हम व्यवहारके इस विषयको, उस विधि विधानके विषयको जब हम एक कर्ता कर्म रूपमे पेश करते हैं, तब फिर जो जैसा हो उसे वैसा जानें सही जानें, वहाँ कोई अडचन नही है। यहाँ तक भी बताया है कि शुद्ध निश्चयसे तो ये रागादिक विकार पौद्गलिक हैं। जान लिया, समझ गए, लेकिन इस निमित्तनैमित्तिक भावके रहस्यको जब हम कर्ता कर्म भावके रूपमे पेश करते हैं तब वह उपचार भाषा हमारी मिथ्या हो जाती है। तो हम इन नयोका प्रयोग करके एक ऐसी दिशा मे पहुंच जाते है जिसमे ज्ञानप्रकाश मिले।

(१७८) **स्वभावदृष्टि कराना नयोंका प्रयोजन**—देखो–सब नयोका प्रयोजन स्वभाव दृष्टि करानेका है यह भी आप ध्यानमे रख लीजिए। सभी नयोका प्रयोजन दृष्टि करानेका है, यही परमशुद्ध निश्चयनय हुआ अथवा व्यवहारनय हुआ। सबका प्रयोजन क्या है कि स्वभावकी दृष्टि करें, विभावोको उपेक्षा करें। रागद्वेष मोहसे दुर हो जायें—"सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःखकी खान। निजको निज परको पर जान, फिर दुःख का नहिं लेश निदान।" निजको निज जान लीजिये, परको पर जान लीजिए। देखिये वस्तु-स्वातत्र्यसे न चिगकर निमित्तनैमित्तिक भावको सही पद्धतिसे पेश करें तो वस्तुस्वातत्र्य मिट जायगा, ऐसा कोई डर मानकर निमित्तनैमित्तिक भावको माने तो यह एक ज्ञानकी कमजोरी है और निमित्तनैमित्तिक भाव मिट जायगा वस्तुस्वातत्र्य माननेसे इसलिए वस्तुको स्वतंत्र न मानना, खण्डन करना, ऐसा कोई सोचे तो उसके भी ज्ञानकी कमजोरी है। ज्ञान का बल वह है कि उसमे दोनो बातें स्पष्ट दिख रही हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता कर्मभाव उनमे परस्पर नही है। जिसे स्पष्ट बताया इन दो कथनोमे एकदम स्पष्ट बात बताया कि जीवके विभावोका निमित्त पाकर कर्म पुद्गलकर्मरूप परिणमते है और कर्म के उदयका निमित्त पाकर जीव विकाररूप परिणमता है यह बात गलत नही है, यह आ-चार्य कह रहे हैं। इतनी बात माननेके बाद अब आगे चलो। इतना होनेपर भी चूँकि जीव का कर्मका परस्परमे व्याप्य व्यापकभाव नही है अतएव कर्तृकर्मभाव नही है, निमित्त नैमि-त्तिक भाव है। कर्तृकमभाव नही है, बस यह ही तो बोध करना है। मोह हमारा कैसे हटेगा ? ससारकी प्रवृत्तियोसे मेरो ममता कैसे हटेगी ? जब सबसे निराले अपने आपको

समझ पायेंगे तब मोह दूर होगा। एक ओर तो यह मानते रहे कि यह मेरा है, इससे मेरा सम्बन्ध है और दूसरी ओर ऐसा बनाये कि मेरा यह मिथ्यात्व मिटे तो यह कैसे हो सकता है ? अपना सच्चा ज्ञान बनावें गृहस्थावस्थामे रागको छोडकर निभाव तो नही हो सकता। आप घरमे रहे, राग न करें, घरके लोगोको गाली दें कि तुम सब नरकके कारण हो, तुम मेरे कुछ नही हो, इस तरहसे कहकर तो आप घरमे पैर तक न रख सकेंगे। आप घरसे हटा दिये जायेंगे। आप घरमे रहेगे तो वहाँ राग व्यवहार करना होगा। इतने पर भी अपना शुद्ध ज्ञान बनाये रहे कि मेरा तो केवल मैं हू, मेरा अन्य कुछ नही है।

(१७९) **आत्मकल्याणाभिलाषीकी निर्विवादता**—देखो भाई जिसे अपना कल्याण करना है उसको कही विवाद नही और जिसके मनमे कल्याणकी बात नही है जैसे जो केवल धन वैभवके द्वारा ही दुनियामे अपना बडप्पन जाहिर करना चाहता है, ऐसे ही ज्ञानद्वारा इस जगतमे अपना बडप्पन करना चाहता है तो उसको न कल्याण है और न वह निर्विवाद बात है। अगर कल्याणका भाव आया है रच भी विवाद नही। देखो जितने भी दर्शन हैं—सांख्य, नैयायिक, मीमासक, बौद्ध, जैन आदि, तो इनके विषयमे एक पुस्तक अध्यात्मसहस्रीमे स्पष्ट बताया है कि अन्य दार्शनिक जो बात कह रहे है वह भी बात सत्य है मगर किस नयसे सत्य है ? तो उन ही नयोका स्पष्ट वर्णन एक परिच्छेदमे किया गया है। जब सब दर्शनोकी बात, हम सब नयोका मिलान करके दर्शन स्थापित करते हैं तब फिर इस जैनधर्ममें कही हुई बात को क्या सत्य नही कह सकते ? फिर परस्पर विवाद क्यो ? अगर कहो कि यह जीव नित्य है, अनित्य है, तो ये दोनो बातें सत्य हैं, जीव नित्य है, जीवमे पर्याय अनित्य है, दोनों बातें समझमे आ गई। जीवमे जीवकी योग्यतासे विकार हुआ है। यह भी बात सत्य है। कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवमे कर्म हुए हैं यह भी बात सच है। सब नयोका प्रयोग बनावें आप तो उसमे उद्देश्य यह रहे कि मुझे कल्याण चाहिए। हमे कल्याणलाभ मिलेगा विविक्त वस्तुके दर्शनसे। सबसे विविक्त अपने आपके अतस्तत्त्वके दर्शनमे लाभ मिलता है। सब नयो के प्रयोगसे आप यह लाभ उठा सकते हैं। केवल एक उपचार ही ऐसी चीज है कि जो जिस भाषामे बोलता है उस रूप ही कोई मान ले तो वह विवादमे आ सकता है, मगर नयोका कोई प्रयोग ऐसा नही है कि जो हमे विपरीत मार्गमे ले जाय। श्रुतज्ञानके ये सब अश हैं। ७ नय, निश्चयनय, व्यवहारनय आदिक ये सब हमे विपरीत मार्गकी ओर नही ले जाते। ये सब नय हमे स्वभावदृष्टिकी ओर ले जानेका एक प्रकाश देंगे। इनको सही रूपसे समझ लीजिए और एक अपने आपका सही उद्देश्य बना लीजिए। देखिये सर्वविशुद्ध अधिकारमे निश्चयनयका बहुत-बहुत आश्रय कराकर हम आपको एक शुद्ध तत्त्वकी ओर ले जानेकी करुणा

की है आचार्यदेवने । तो इस जीवजीवाधिकारमे, कर्तृकर्माधिकारमे अनेक जगह व्यवहारनयके प्रयोगसे वस्तुका वर्णन बताकर हमको स्वभावदृष्टिकी ओर ले जानेकी प्रेरणा आचार्य महाराज ने दी है । कैसे ? अरे भाई ये सब पौद्गलिक है, नैमित्तिक हैं, ये तेरे भाव नही हैं, ये सब परभाव हैं, बल्कि यहाँ तक कहा कि गुणस्थान मार्गणायें आदिक ये सब पौद्गलिक हैं । बतलावो वह है कैसे ? क्या सबमे पौद्गलिक है । हम आपसे पूछें कि निश्चयनयसे ये रागद्वेषादिक भाव पौद्गलिक है क्या ? तो निश्चयनयसे पौद्गलिक कही है, यह तो आत्माकी पर्याय है, पुद्गलकर्मकी पर्याय नही है, लेकिन कितना प्रकाश दिया है कि विकार सब नैमित्तिक हैं, ये मेरे स्वरूप नही हैं ।

(१८०) **आत्मत्त्वकी अङ्गीकारता**— जिसके निर्णयमे अवश्य मार्गदर्शन होता है वह मैं क्या हू ? मेरा क्या है ? मैं क्या करता हू, मैं क्या भोगता हू ? मैं क्या हू—इसके उत्तर यद्यपि अनेक आयेंगे, लेकिन जानना यह है कि मैं अपने आप सहज निरपेक्ष परसम्बव बिना अपने ही सत्त्वके कारण क्या हू ? तो उत्तर मिलेगा—चैतन्यस्वरूप, चैतन्यस्वभाव, ज्ञानप्रकाश । तब इसके अतिरिक्त अन्य जितनी बातें हैं उन्हे मैं न स्वीकार करु । जैसे घर मकान, धन दौलत, शरीर, कुटुम्ब आदि ये तो एकदम स्पष्ट परद्रव्य हैं, ये मैं नहीं हू, और कर्म ये भी परद्रव्य हैं, ये भी मैं नही, और कषाय—ये परभाव है, ये मैं नही, क्योकि कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए है । ये स्वभावसे मेरे सत्त्वमे नही उठे । अगर परसन्निधान बिना रागद्वेषादिक हो तो वे मेरे स्वभाव बनें, ये मेरे स्वभाव नही हैं, ये तो विभाव हैं । ये मैं नही हू, ये नैमित्तिकभाव है, परभाव हैं, इनसे न्यारा मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ । और तो क्या ? ये विचार तरगें जो उठती हैं, जिन्हे छुटपुट जानकारी कहते है, ये छुटपुट ज्ञानकी वृत्तियाँ भी मैं नही हू, ये छुटपुट हैं, अपूर्ण हैं, नैमित्तिक हैं, जितना क्षयोपशम है उतनेका निमित्त पाकर हुए हैं । हुए है सब मेरी योग्यतासे, मेरे उपादानमे, लेकिन नैमित्तिक भाव हैं, वे सब मैं नही हू । तब मैं क्या हू ? मैं हूँ एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व । मेरा क्या है ? मेरा है मात्र मेरा स्वरूप । जो मेरा स्वरूप है वही मैं हू । जो मेरेमे सहज हो वह है मेरा । जो मेरा है वह कभी मिटता नही । जो मिटता है वह मेरा नही । यद्यपि जानकारियाँ या विकारपरिणतियां वे इस समय मेरी परिणति बन रही है । भले हो विकार हैं, पुद्गलके उदय हैं और उसी समय चेतना, वेदना, अनुभवना, अपनाना आदिक सब बातें हो रही हैं, फिर भी चेतन मे जो कुछ हो रहा है वह चेतनके ही धर्मसे चिदाभाम हो रहा है, हो रहा है तो भी ये सब स्वप्रत्ययक नही है । वे केवल मेरे आत्माके ही कारण हो परवस्तुके सम्बध बिना सो नहीं ।

(१८१) **निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका प्रकाश**—एक बात यह

समझना है कि परवस्तुका सम्बंध पाकर जो विकार होते है वे होते हैं अकेले उपादानमे ही, किन्तु परका सम्बंध पाकर हुए, परके सन्निधानमे हुए सो नैमित्तिक है, इतनेपर भी जो जिसकी परिणति है वह उसके साधनसे ही होती है, अन्य साधनसे नही होती। ससारकी जितनी भी व्यवस्था है वह सारी व्यवस्था इसी भाँति है, इसमे सब निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर दिख रहा है। दिख रहा है, लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्र, काल, भाव तक पहुच जाये, एक दूसरेकी परिणति करता हो, दूसरेरूप परिणमता हो तो आज जगत शून्य हो जाता तो बराबर यह देखना है कि यद्यपि सारी व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक विधानपूर्वक है, लेकिन प्रत्येक द्रव्य अपने आपमे अपनी परिणतिसे अपनी परिणति पा रहा है। कौन नही जानता कि रोटी कैसे बनती है ? वही विधि विधान मिलते है, क्या कोई ऐसी शंका करता है कि कल तक तो रोटी बनती थी इस विधिसे और इस इस चीजसे आज पता नही बने या न बने, ऐसी कोई शका नही करता। पहिले पानीसे आटा गूँथना, अग्नि जलाना, फिर उसे सेंकना आदिक जो जो भी काम किये जाते है रोटी बनानेमे, उनको करते हुएमे कोई महिला यह शका नही करती कि पता नही आज कही आटेके बजाय मिट्टीसे रोटियाँ बनें। तो निमित्तकी विधि निमित्तसे है। उपादान की विधि उपादानमे है। जैसा योग है वैसा सबको विदित है और सब लोग वह प्रयोग बनाते हैं।

(१८२) **निमित्तनैमित्तिक योगका ज्ञाता होनेपर भी ज्ञानीका उसमे अटकका अभाव**— भैया, बात व्यवस्था उस प्रकार हो रही है। लेकिन यह तो बतलावो कि हम आपको ससार की व्यवस्था चाहिये कि मुक्तिकी ? बात यह आती है। ससारकी व्यवस्था चाहिये तो विधि विधान संसारका है क्या ? कषायभाव करें, कर्म बन्ध हो, उदयकाल आये, कषाय परम्परा रहे, होती जायगी ससार व्यवस्था। याने जन्म मरण करना, ससारमे रुलना, यह बात पसंद है क्या ? अब जरा मुक्तिकी व्यवस्था देखो किस तरह है ? मोक्ष वस्तुतः चीज क्या है ? जो चीज है वहीकी वही बिना सम्बन्धके, बिना लाग लपेटके प्रकट हो जाय केवल मात्र वही, इसीके मायने मुक्ति है। याने जो सिद्ध भगवान बनता है वह कोई दूसरी चीज लाग लपेट की नही की जाती। कुछ उसमे जोडा नही जाता है। जो था, अनादि अनन्त जो स्वभाव है वही अब सम्बन्ध रहित होकर विकार रहित होकर अपने स्वभावके अनुरूप व्यक्त हो गया है इसीको सिद्ध प्रभु कहते हैं। मुक्ति की एक पद्धति है फिर भी अनादि कालसे विषय-वासना बसी है। इस विषयवासनाके सस्कारमे रहने वाले प्राणी इस ओर मग्न नही हो पाते। बराबर वही वासनायें सताती हैं उन वासनाओ पर विजय पानेके लिए, हटनेके लिए क्रिया व्यवहारधर्म, पाचो प्रकारके पापोका त्याग अणुव्रत महाव्रत संयम ध्यान तपश्चरण

इच्छा निरोध, जिनसे उन विषयोका आक्रमण हमे सता न सके। ये व्यसन सस्कारमे रहते हुए सताते रहते हैं। तो यह समझिये कि निश्चयसे तो धर्मपालन यह है कि आत्माका परिज्ञान करें, श्रद्धान करें और उसीमे मग्न होवें।

(१८३) आक्रामकसे बचाव व आक्रामकपर प्रहारकी कलायें—आत्ममग्नताके प्रयत्नशील होने वालेके लिए ये विषय वासनायें बाधक बन रही है। तो इसके लिए करें क्या कि जिससे इन विषय वासनाओसे निवृत्त होकर हम अपने स्वभावमे ठहर सकनेके पात्र बन सकें? उसके लिए चाहिये अपना सद्व्यवहार, जिससे ये विषय वासनायें व्यसन आक्रमण न कर सकें। बस उसीको तो कहते हैं सद्व्यवहार। उसीको तो कहते हैं चारित्र। करना है ऐसी प्रवृत्ति कि जिससे हम स्वभावदृष्टिके पात्र बनें और स्वभावमे मग्न हो सकें। जैसी हालतमे हम आप यहा पडे हुए है ऐसी हालत वाले पुरुषोको ठीक उसी तरह जैसे किसी योद्धाको विजय पानेके लिए ढाल और तलवार दोनोकी आवश्यकता है इसी प्रकार हम आप इस समय जो वासनाओमे पडे हुए हैं उनसे निवृत्त होनेके लिए यह व्यवहारधर्म तो ढालका काम करता है और निश्चयधर्म शस्त्रका काम करता है। कोई योद्धा केवल तलवार लेकर युद्धस्थलमे नही उतरता है। उसे दूसरोके वारको रोकनेके लिए ढाल भी साथमे रखनी पडती है। कोई केवल तलवार शस्त्र लेकर युद्धस्थलमे उतरे तो उसकी भी खैर नही और कोई केवल ढाल ही लेकर युद्धस्थलमे उतरे तो उसकी भी खैर नही। जब ढाल और तलवार दोनोको लेकर युद्धस्थलमे उतरता है तो उसकी खैर है, अब इस दृष्टान्तके आधारपर अपनी बात देखिये।

(१८४) व्यवहारधर्म द्वारा अशुभपयोगसे बचाव और निश्चयधर्म द्वारा विकारपर प्रहार—हम आपकी खैर किस तरह है कि ये व्यसन, ये पाप वासनायें, ये खोटे सस्कार आक्रमण करते ही रहते हैं। देखो भले ही कोई धनी आदि दुनियामे दूसरोको सुखी बताने के लिए अनेक कारणोसे भीतर बाहर दुःखी होकर भी मुस्कराता है, लोग न जान पायें कि यह दुःखी है, लोग जाने कि यह करोडपति है बडे सुखमे हैं, बडे शान्त हैं। इसलिए वह बाहरसे मुस्कराता हुआ दीखता है, यद्यपि कष्ट उसे बहुत हैं, कही कुछ टोटा पड गया, कही कोई मित्रजन अथवा परिजन विरुद्ध हो गए, यो अनेक तरहकी ऐसी बातें हैं जिनसे उसे कष्ट मिलता रहता है। अभी थोडे धन वालोको ही देख लो वे भी कितने ही प्रकारके विकल्प करके कषायें करके दुःखी रहा करते हैं, फिर अधिक धन वालोकी तो बात ही क्या कही जाय, वे तो और भी अधिक परेशान रहा करते हैं। वे अन्त. परेशान रहा करते हैं फिर भी दुनियाको यह दिखानेके लिए कि यह दुःखी नहीं हैं, वे बाहरसे मुस्कराते रहते हैं।

बाहरसे मुस्कराते हुए भी वे भीतरमें बसी हुई शल्यका दुःख भोगा करते है। यह एक दृष्टान्त दे रहे हैं; कही ऐसा नियम नही बना रहे। आप यह कह सकते है कि साहब यह बात तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धनिक पुरुष पर तो नही घटित होती। पर भाई प्राय: ऐसा ही होता है इस लिए कह रहे हैं। यहाँ भी देखिये—जो पुरुष विषयोंसे आक्रान्त रहते है, जिनमे विषयवासनायें पडी रहती है, जो बाहरी बाहरी ही विकल्प जालोमे पडे रहते है, याने अपने स्वरूपसे चिगे रहते है, ऐसे पुरुष बाहरसे मुस्कराते भी हों तो उससे क्या लाभ ? उनके बाहरी मुस्करानसे उनका भीतरी सकट तो न मिट जायगा। उन भीतरी संकटोंसे दूर होनेके लिए तात्कालिक इलाज क्या है ? उसे बताया है व्रत तप सयम आदिक। इनसे अपना उपयोग हटाकर आत्मस्वभावकी ओर अपना उपयोग लगावें, उस स्वभावकी ही चर्चा करें उस स्वभावकी ही ओर दृष्टि करें। यह व्यवहार धर्म हमारे लिए ढाल जैसा काम करता है। इस व्यवहार धर्म के द्वारा इन विषयोके आक्रमणको रोक दें। लेकिन इतने मात्रसे ही काम तो नही चलनेका। इतने मात्रसे कही मुक्ति तो न मिल जायगी। अरे मुक्ति तो कहते है केवल होनेको। और, केवल होनेके लिए अन्तः क्या करना चाहिये ? उस केवलकी श्रद्धा करनी चाहिये। मैं चैतन्य प्रकाश मात्र हू, उसका परिचय करें, उसीको ज्ञानमे लें, यह भीतरका निश्चय धर्म यह शस्त्र का काम करता है कर्मपर विजय पाने के लिए। भाई, भीतर ही भीतर अपना कल्याण किये जावो, चैतन्यस्वभावको दृष्टिमे लिए जावो, लक्ष्यमे रखो जितना बन सके। यह तो भीतरका एक पौरुष है। यह चाहिए। तब जो अनेक कामोमे व्यग्र हो रहे हो कि दुकानपर भी खूब विकल्प कमाते और जैसा जो कुछ करते है वह सब आप जानते ही है, कैसे अनेक प्रकारके आप विकल्प मचाते हैं, उन विकल्पोका जो संस्कार बनता है उसका अपहरण करनेके लिए हमे जिनेन्द्र देवके द्वारा कही हुई विधिके अनुसार हम कुछ अपना व्यवहार धर्म पालें, उससे हमको वह पात्रता रहेगी कि हम स्वभावदृष्टिका लाभ ले सकेंगे।

(१८५) **आत्मस्वभावदृष्टिके पौरुषमें**—मूल बात क्या कह रहे थे कि संसार—व्यवस्था कैसी है, यह निमित्त नैमित्तिक भावकी व्यवस्था है, और मोक्ष व्यवस्था जितनी है वह अपने आपकी व्यवस्था है। केवल होनेकी व्यवस्था अपनेको केवल निरखनेमे है। केवल हो जाना, उसमे समाये जानेकी व्यवस्था है। फिर भी जो अनेक सांसारिक बातें बहुत तेज लगी हुई है, ऐसी स्थितिमे हम व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा उनकी एक उपेक्षा करते है, उनको हटाते हैं ताकि हम जरा योग्य रहे इस बातके कि हम सब आत्मस्वभावके दर्शनके पात्र बनें। अब व्यवस्था की बात समझिये—निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था कहाँ होती है ? निमित्त और उपादानमे। उपादान तो उसे कहते है कि जो परिणमता है, जिसकी परिणति होती है, जिसमे पर्याय प्रकट

होती है, जिसकी पर्याय कहलाती है वह उपादान कहता है । निमित्त वह कहलाता है कि जिस अन्य पदार्थके साथ उपादानके इस कार्यका अन्वय व्यतिरेक सम्बध हो । अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो और साथ ही अत्यन्ताभाव हो । देखिये कितनी विलक्षणता है । अत्यन्ताभाव है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है । दोनो बातें एक साथ है । वह केवल है, वह चेतन है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है । कर्मोदय हुए बिना रागादिक नही होते । जब रागादिक होगे तो कर्मोदयके सन्निधानमे होगे ही, अन्य प्रकार न होगे । यह सम्बध आप देख लो—अनादिसे अब तक चला आया है । इतने पर भी अत्यन्ताभाव है और इसी कारण उन दोनोमे परस्पर कर्ताकर्मभाव नही है,

(१८६) **विकारके पृथक्करणकी संभवता**—जरा विचार करें कि हमारे वे रागादिक दूर हो सकते कि नही ? दूर हो सकते है ? क्यो दूर हो सकते ? यो दूर हो सकते कि ये रागादिक भाव मेरे सत्त्वकी, गाँठकी, स्वभावकी चीज नही हैं, ये परभाव हैं । निमित्त सन्निधानमे हुए हैं इसलिये हटाये जा सकते है । तो भाई निमित्त नैमित्तिक भावका बोध सही हो । इतनी अपने आपमे प्रेरणा देना है कि हम विकारभावोसे हटें, इन परभावोसे हटें, इनमे हित नही है । हित तो हमारा स्वभावदर्शनसे है । अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि जिनमे यह बात घटित होगी कि निमित्त वह कहलाता है कि जिसमे अत्यन्ताभाव हो । उपादानका और उस मेलका इनमे अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है । हो रहा है ऐसा, इतना होनेपर भी इसके रुचिया नही बनना है । यह तो जानना है । किसलिए ? छूटनेके लिए । मैं इनसे छूटू इसके लिए जानना है । मैं नैमित्तिक भावोसे छूटू इसके लिए जानना है । जब कभी आप दर्पणके सामने कोई रगीन कपडा कर देते हैं तो उस दर्पणमे वह कपडा उस रगके रूपमे परिवर्तित हो जाता है, उस समय उस दर्पणमे स्वच्छता नही दिखती । तो भाई उस दर्पण पर आये हुए उस प्रतिबिम्बको हटाना होगा ना । उसको हटानेके लिए क्या करना है ? ना कि वह प्रतिबिम्ब उस रगीन कपडेका है । जानते हैं, उस रगीन कपडेके सन्निधानसे वह प्रतिबिम्ब आया हुआ है, उस कपडेको हटा दिया जाय तो वह प्रतिबिम्ब भी हट जायगा और वह दर्पण ज्योका त्यो स्वच्छ प्रकट हो जायगा । तो निमित्त नैमित्तिकका ज्ञान किस लिए किया ? नैमित्तिक भावको, विकारको हटानेके लिए । परिचय किसलिए होता है, ज्ञान किसलिए होता है ? ज्ञान होता है परसे हटकर अपने आपमे लगनेके लिए । जिस ज्ञानका यह प्रयोजन नही है वह ज्ञान कुज्ञान है । और जिस ज्ञानका यह प्रयोजन है कि मैं अहितसे हटूँ और निजमे आऊँ वह ज्ञान समीचीन है । अहित है विभाव और हित है स्वभाव । अहितसे हटनेके लिए सब ज्ञान करने पड रहे हैं । ज्ञान करें । जैसे कोई लडका बहुत तेज खिलाडी है तो वह उस खेलको बडे ही कलात्मक ढगसे एक लीलामात्रमे खेलता रहता है ।

वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि उसे उस खेलमें रंच भी कठिनाई नही मालूम होती। इसी तरह जिसको अपने आत्मस्वभावकी ही दृष्टि बनी है, जिसको अपने उस हित स्वरूपकी ही धुन हुई है—मुझे तो इस स्वभावमे ही रमना है। वही हितरूप है। ऐसी जिसको एक धुन लग गई हो वह तो सभी कथनोसे, सभी नयोसे सभी साधनोंसे वह ही पंथ अपनायेगा जिससे वह अपने स्वभावकी ओर आये।

(१८७) युगपत् होनेपर भी निमित्तनैमित्तिकपनेका प्रतिनियत प्रकाश—निमित्त उपादानकी बात संक्षेपमे यह समझे कि जिसमे कार्य हो वह उपादान और वह कार्य जिसके सन्निधानमे ही हो वह निमित्त। अब इस सम्बन्धमे भी बात यह मालूम पड रही है कि उसी समय निमित्त है, उसी समय उपादान अथवा वह नैमित्तिक कार्य है। जिस कालमें रागप्रकृतिका उदय हैं उस ही कालमे राग है, ऐसा है ना। ऐसा होनेपर भी कही यह न कहा जा सकेगा कि रागभाव निमित्त है और कर्मका उदय नैमित्तिक है। आगममे कहा, आपका अनुभव कहेगा, कि निमित्त तो कर्मका उदय ही कहलाता है। विकार नही कहलाता है कर्मके उदयमे निमित्त। किन्तु विकार होनेमे कर्मका उदय निमित्त कहलाता है। जैसा कि ग्रन्थोमे स्पष्ट लिखा हुआ है? तो एक साथ होनेपर भी रागविकार हुआ। कर्मोदय हुआ दोनो एक समयमे हुए; इतने पर भी निमित्त तो है कर्मका उदय और नैमित्तिक है वह राग भाव। अगर हम ऐसा कहने लगें कि निमित्त तो है वह रागभाव और नैमित्तिक है वह कर्म का उदय तो इसका निवारण करनेके लिए आप क्या युक्ति देंगे? युक्ति देनी होगी। जिसको निमित्त करके नैमित्तिकभाव हुआ है वह है निमित्त। विकारको निमित्त करके उदय नही होता, किन्तु विकारका निमित्त करके कर्मबन्ध होता, तो कर्मबन्धनमे निमित्त हुए विकार न कि कर्मोदयमे निमित्त हुए विकार ऐसी बात स्पष्ट झलकानेके लिए यह आर्ष उपदेश है कि जब कर्मोदय होता है तब उसके सन्निधानमे रागविकार होता है। ऐसा होनेसे कही परतन्त्रता नही आयी कि कर्मने अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादानमे डाल दिया। किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि जिस कालमे कर्मोदय है उस कालमे जीवमें राग विकार हो रहा है।

(१८८) ज्ञप्ति, उत्पत्तिके साध्य साधन—उक्त प्रकारसे आपको बतलाया निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका प्रकाश लेकिन आप बोल कब पायेंगे कि यह निमित्त है। अब एक दूसरी बात देखिये—आप कब कह सकते है कि यह निमित्त है? जब आपने नैमित्तिक कार्यको जान लिया। तो यह ज्ञप्तिदिशाका साध्य साधन है जो कि अनुमानप्रमाणका अङ्ग है। पर उत्पत्तिके कथनमें तो यही निश्चित है कि निमित्त होनेपर ही नैमित्तिक होता है।

और जीवित रहती तो मैं और भी उसका सुख भोगता। उसी मृतक शरीरको किसी गीदड तथा कुत्तेने देखा तो उनके मनमें यह भाव आया कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जला रहे, यदि इसे यो ही छोड देते तो कुछ दिनोका हमारा भोजन बनता। अब बतलावो कि वह मिला हुआ वेश्या शरीर उन तीनोके भावोका निमित्त है क्या? अरे निमित्त नही है। अगर निमित्त होता तो उन तीनोंमे एकसा भाव उत्पन्न होता। पर यह है आश्रयभूत। देखो मुनिके हैं कषायका क्षयोपशम, सो इस निमित्तके अनुसार वैराग्य हुआ उसका आश्रयभूत बना वेश्या-देह। कामीके है मोह वेदका उदय सो उस निमित्तके अनुसार कामीके बना कामभाव, उसका आश्रयभूत है वेश्यादेह। ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत है। आश्रयभूतके साथ नैमित्तकभावका अन्वय व्यतिरेक सम्बध नही होता। जब राग प्रकृतिका उदय आया तब वह राग बना, और उस व्यक्त रागके बननेकी विधि यही है कि कोई न कोई परपदार्थ आश्रयमे ले। किसी परपदार्थको विषय न करे, उपयोगमे ग्रहण न करे और व्यक्त राग हो जाय, ऐसा नही हो सकता। व्यक्त रागमुद्रा बननेकी विधि ही यह है कि जिसके रागमुद्रा बनेगी उसके उपयोगमे कोई परवस्तु विषय रहेंगे, ऐसे परवस्तु आश्रयभूत हैं, पर निमित्त नही हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नही है कि वह वेश्या शरीर मिले तो काम भाव हो ही यह तो नही होता। बात यह हुई कि मुनिके था उन कषायोका क्षयोपशम व मन्दभाव, मंद कषाय। तो उस वेश्या शरीरको देखकर उपयोगमें आश्रय तो हुआ, मगर भाव किस तरहका हुआ? उस मंदकषायरूप। कामी पुरुषके था कामप्रकृतिका उदय सो वेश्याको देखकर उसके मनमे कामसम्बन्धी भावना बनी। उन कुत्ता गीदड वगैरहके उस ढगका उदय था असातावेदनीयकी उदीरणा थी इस लिए उनके वैसे भाव बने। तो ये बाह्यपदार्थ आश्रयभूत कहलाते हैं। इनके साथ अन्वय व्यतिरेक नही।

(१६०) चरणानुयोगमें आश्रयभूतका परिहार कराकर अन्तः शुद्धिका विधान—चरणानुयोगमें यह बात बताया है कि देखो कुछ पुरुषार्थ करके जो जो पदार्थ आश्रयभूत हुआ करते हैं कषायोके उन पदार्थोका त्याग करें तो हमे ऐसा प्रकाश मिलेगा कि जब आश्रयभूत पदार्थ बाहर नहीं है तो उस समय परिणाममे विशुद्धिका अवसर है, उस समय स्वभावदृष्टि करनेका अधिक पौरुष भी कर सकते है और आप लोगोने अनुभव भी किया होगा कि जिसके विषयमे आपका क्रोधभाव बनता है वह बैरी आपके उपयोगमे आपके समक्ष बहुत दिनो तक नहीं आता तो आप बहुत कुछ अच्छे रहते हैं। संभाले हुए रहते हैं और उसमे अच्छा भाव भी बना सकते हैं। और बैरी जब सामने दिख जाता है तो आपका क्रोध उमड पड़ता है। तो देखिये आश्रयभूत हुआ ना वह बैरी पुरुष! तो इस आश्रयभूतका परित्याग करें। समय

सो जानना अनुमान प्रमाणकी बात है और होना निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है। किसी घरमे अग्नि जल रही है यह हम बाहर बैठे हुए कब बता पाते हैं ? जब हमने धूमको देखा तब हम बताते है कि इसका निमित्त अग्नि यहाँ है । अब ध्यानमे आया ना ? बतानेके प्रसग मे तो हम नैमित्तिकको ज्ञप्तिके साधनरूपमे पहिले लेंगे तब बता पायेंगे कि यह निमित्त है, मगर होनेके प्रसगमे, विधि विधानके प्रसगमे यह बात नही है कि जब विकार होता है तब उदय हाजिर होता है । देखिये होनेकी बात अलग है और बतानेकी बात अलग है । दार्शनिक लोग जानते हैं कि प्रमाणमे जो प्रामाण्य है उसकी उत्पत्ति कब स्वतः होती है कब परतः । तो निमित्त नैमित्तिक विधानके बारेमे उत्पत्तिकी बात अलग है और ज्ञप्तिकी बात अलग है । नैमित्तिकको देखकर ही हम परोक्षभूत निमित्तकी बात बता सकते हैं, उत्पत्तिकी बात यह है कि जैसे हम इस तखतका निमित्त पाकर इस पर अपनी शक्तिसे बैठ गए । तो यहाँ यह शब्दावली काम नही देती कि जब हमे बैठना है तब यह तखत हाजिर हो गया । यह तखत पहिलेसे है, इसको निमित्त करके हम अपने आपमे अपनी क्रिया करके बैठ गये । तो देखिये उत्पत्ति और ज्ञप्तिविषयक बात दार्शनिक शास्त्रकी कुञ्जी लेनेसे उतर जाती है । उत्पत्तिकी बात अलग है और ज्ञप्ति अलग है ।

(१८९) **निमित्त और आश्रयभूत कारणका अन्तर**—अब दूसरी बात यह समझें कि विकारमे केवल कर्मविपाक निमित्त होगा, अन्य इन्द्रियविषयभूत या मनोविषयभूत पदार्थ निमित्त नही कहलाता । जैसे कि हम बोल जाते हैं कि सम्यक्त्वका निमित्त समवशरण है, सम्यक्त्वका निमित्त उपदेश है, सम्यक्त्वका निमित्त जिनबिम्बदर्शन है, ऐसा आगममे तो कहा है मगर उसका सही अर्थ तो समझलो । ये कोई चीजें सम्यग्दर्शनके निमित्त नही हैं । सम्यग्दर्शनका निमित्त है मात्र सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम । अन्य चीज कोई निमित्त नही । जब और कोई चीज निमित्त नहीं है तब यह संदेह न करें कि फलाना निमित्त मिलाया पर सम्यग्दर्शन न मिला। अरे वह निमित्त था ही नही । समवशरण जिनबिम्बदर्शनादि सम्यक्त्वसे पूर्व सभव होने वाले शुभोपयोगके आश्रयभूत हैं । शुभोपयोग पूर्वक ही सम्यक्त्व होता है, अशुभोपयोगपूर्वक नही । इस भावसे उन्हें सम्यक्त्वका निमित्त कहा जाता है । एक दृष्टान्त और लें— जैसे एक वेश्या गुजर गयी, उसे जलानेके लिए लोग लिए जा रहे थे । उसे लिए जाते हुएमे रास्तेमे एक मुनि महाराजने देखा तो देखते ही उनके मनमे ऐसा वैराग्यमयी विचार आया कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने विषयोमे गँवा दिया । उसी मृतक शरीरको किसी कामी पुरुषने देखा तो उसे देखकर उसके मनमे ऐसा भाव आया कि देखो यह तो मेरेसे भली भाँति परिचित थी । यदि थोडे दिन वह

तो लगा देते हैं हम कई कई घटोंका समय । यह तो लोगोंको मंजूर है मगर जो हितकारी ये देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान आदिक आवश्यक कर्म, हैं, जिन्हे जिनेन्द्रदेवने बताया है, सब जगह भली प्रकारसे बता दिया है, उसमें अगर आधा घटेका भी समय लगे तो उसकी तो आलोचना करते कि हम विकल्पमें रहे और जो हम लडाई व्यापार रोजिगारमें रहे, धर्मचर्चाके नामपर कषायोमे, विरोधमें रहे, इसके सम्बन्धकी कुछ चर्चा अपने आपमें नही करते कि हमने इनमे पडकर तो अपना समय बेकार ही खोया । इससे तो अच्छा था कि हम पूजा, स्वाध्याय, जाप आदिमें रहते तो उसमें भला था । यह आत्म-हितकी दृष्टिसे बात कही जा रही है । भाई व्यवहारधर्मका पालन करके निश्चयधर्मकी आस्था रखते हुए दृष्टि सहज स्वरूपकी ओर रखें ।

(१९२) स्वभावाभिमुख होकर स्वभावके निकट पहुंचना—कोई व्यापारी सिमरिया नामक ग्रामके रहने वाले थे। एक बार वे सामर नमक ग्राममे नमक खरीदने गए। वह सामर ग्राम वहांसे कोई १००० मील दूर पडता था। जब वे नमक खरीदकर अपने ग्रामकी ओर चले तो कुछ दूर चलकर उनमेसे एक व्यापारी दूसरे व्यापारीसे पूछता है कि भैया सिमरिया गांव अब कितनी दूर है ? तो उसने कहा— "सामर दूर सिमरिया नीरी,, ··· अरे ऐसा कैसे ? आप तो कहते कि सामर गांव दूर है और सिमरिया गांव नजदीक है। अरे अभी तो अपन लोग सिर्फ ४ मील ही आये हैं, अभी तो ९९६ मील और चलना है। अभीसे आप कैसे कहते कि सामर दूर सिमरिया नीरी। तो वह बोला—भाई जिस तरफसे पीठ फेरा वह दूर हो गया और जिधरको मुख किया वह नजदीक हो गया तो भाई स्वभाव दृष्टिके रुचिया बनो, उसे नजदीक करो, वह एक भली बात है । अगर समता धीरतासे जिनेन्द्र देवकी सब आज्ञाओंका पालनकरते हुए व्यवहार धर्ममे भी कोई त्रुटि न करते हुए, निश्चय धर्मका उपदेश रखते, हुए की ओर अभिमुख होवें तो यह बहुत भली बात होगी । अपने आप अपनेको समझना उस है। अपनेको अपने आपमे ही आरूढ़ होना है सब जिम्मेदारी हमारी हमपर है, दूसरेपर नही। इसलिए अपना भरोसा बनाकर अपने आपके ज्ञानसे ही समर्थन लेकर ज्ञानस्वभावकेअभिमुख होवें ।

(१९३) आत्महितार्थीको सर्वप्रथम स्याद्वादसे तत्त्वपरिचयकी आवश्यकता—ज्ञान-स्वभावके अभिमुख होनेके लिए जरूरत है सम्यग्ज्ञानकी । ज्ञानके साधन हैं वचन उपदेश । वचन ऐसे होने चाहिये कि जो निजस्वरूपको समझानेमे प्रवीण हो। ऐसे वचन दो प्रकारके हैं । एक अभेद वचन और दूसरे—भेद वचन । अभेद वचन वस्तुके असली सही स्वरूपका सकेत करते हैं, लेकिन ऐसे वचन और ऐसे स्वरूपको समझनेके लिए सबसे पहिले तो हमे भिन्न-भिन्न

सारमे जैसे बनाया है ना "कि वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं । तु होइ जीवाणं । न हि वाह्यवस्त्वना श्रित्याध्यवसानमात्मान लभते ।" बाह्य वस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नही बना सकता । बाह्यवस्तुओंके त्यागकी मुख्यता चरणानुयोगमे दी गई है और देखिये ना, जब आपको कोई काम करना हो तो उसे खूब पौरुषके साथ कीजिए । आप एक बार जगतके समस्त पदार्थोंको असार जानकर उन्हे त्यागनेका पौरुष कीजिए । यह काम गुप्त ही गुप्त करनेका है । कोई मुझे जाने तो क्या न जाने तो क्या ? यहां तो एक ऐसी चीज बना लें कि जिससे आप इस संसारकी भटकनासे छुटकारा पा सकें ।

(१६१) **नयोंसे तत्त्व जानकर आत्महितके लिये पौरुषका संयत विधान**—देखो तथ्यपरिचयकी यह बडी सकरी गली है, बडी सावधानीसे यह रास्ता पार करना होता है । जैसे बहुत ऊँची नीची सकरी गली हो तो उस पर चलने वाला बडी सावधानीसे चलता है । जरा भी फर्क हुआ चलनेमे तो वह गिर जायगा । ऐसे ही हमारी सम्यग्ज्ञानकी गली हमारी आजकी गली ऐसी सकरी है कि हमे इसमे बडे सयमसे, बडी सावधानीसे परिचय करनेकी बात होती है । एक दृष्टिसे कोई भी बात समझें, भावुक बनकर नही यदि अन्य दृष्टिका प्रयोग किया तो वह सकरी दृष्टि करा देगा । देखिये जो हितरूप दृष्टि है वह मुख्य होती है । यह जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी बात है यह चिरकाल तक हृदयमे धारण करनेके लिए नही कही जा रही है, मगर एक सच्चाई जान लो । तब आप बिना गुरुके अपने आप स्वरूप दृष्टिमे खूब लगो । आखिर दृष्टि ही तो होना है । पर अज्ञानदशा है तो हम किसी भी एक दृष्टिको बनावें उसमे सफलता न मिलेगी । अज्ञान हटाकर जो हमारी स्वभावदृष्टि है, शुद्ध दृष्टि है, उसे सब प्रयत्न करके करें । तो देखो—श्रुत ज्ञानके ये अश है—परमशुद्ध निश्चय **नय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और** व्यवहारनय । इन चारो नयोसे अपना लाभ उठावो । इनका उपयोग कीजिए, सदुपयोग कीजिए, ये जो कुछ बताते हैं वे सच बताते हैं । सच होने पर भी कैसे सचका हमे आश्रय लेना है और किसका नही लेना है । व्यवहारनयने बताया पुद्गलकर्म जीवके रागादि भावोका निमित्त करके कर्मरूप परिणमता है, कर्मभावके उदयका निमित्त पाकर विकारी जीव विकाररूप परिणमता है । व्यवहारनयने बताया यह बात सच है । सच होनेपर भी हम इस सत्यके आश्रयसे अपने आपमे क्या पायेंगे ? वह तो जाननेके लिए है व उपेक्षाके लिये है । कोई सत्य जाननेके लिए होता है, कोई सत्य आश्रय करनेके लिए होता है । अब शुद्धनयसे, भूतार्थनयसे जो हमने जाना वह हमारा आश्रेय है, फिर भी हम जिस परिस्थितिमे हैं उसमे हम छलाग मारकर शुद्धोपयोगमे नही पहुच सकते । कुछ अपने व्यवहारमे, अपनी प्रवृत्तियोमे सुधार करें । देखिये—विकल्पोमे और विवादोमें

तो लगा देते है हम कई कई घटोका समय । यह तो लोगोको मंजूर है मगर जो हितकारी ये देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान आदिक आवश्यक कर्म, है, जिन्हे जिनेन्द्रदेवने बताया है, सब जगह भली प्रकारसे बता दिया है, उसमें अगर आधा घटेका भी समय लगे तो उसकी तो आलोचना करते कि हम विकल्पमें रहे और जो हम लडाई व्यापार रोजिगारमें रहे, धर्मचर्चाके नामपर कषायोमें, विरोधमें रहे, इसके सम्बन्धकी कुछ चर्चा अपने आपमें नही करते कि हमने इनमे पड़कर तो अपना समय बेकार ही खोया। इससे तो अच्छा था कि हम पूजा, स्वाध्याय, जाप आदिमें रहते तो उसमें भला था । यह आत्म-हितकी दृष्टिसे बात कही जा रही है । भाई व्यवहारधर्मका पालन करके निश्चयधर्मकी आस्था रखते हुए दृष्टि सहज स्वरूपकी ओर रखें ।

(१९२) **स्वभावाभिमुख होकर स्वभावके निकट पहुंचना**—कोई व्यापारी सिमरिया नामक ग्रामके रहने वाले थे। एक बार वे सामर नमक ग्राममे नमक खरीदने गए। वह सामर ग्राम वहांसे कोई १००० मील दूर पडता था। जब वे नमक खरीदकर अपने ग्रामकी ओर चले तो कुछ दूर चलकर उनमेसे एक व्यापारी दूसरे व्यापारीसे पूछता है कि भैया सिमरिया गांव अब कितनी दूर है ? तो उसने कहा— "सामर दूर सिमरिया नीरी,, ··· अरे ऐसा कैसे ? आप तो कहते कि सामर गांव दूर है और सिमरिया गांव नजदीक है। अरे अभी तो अपन लोग सिर्फ ४ मील ही आये हैं, अभी तो ९९६ मील और चलना है। अभीसे आप कैसे कहते कि सामर दूर सिमरिया नीरी। तो वह बोला—भाई जिस तरफसे पीठ फेरा वह दूर हो गया और जिधरको मुख किया वह नजदीक हो गया तो भाई स्वभाव दृष्टिके रुचिया बनो, उसे नज-दीक करो, वह एक भली बात है। अगर समता धीरतासे जिनेन्द्र देवकी सब आज्ञाओका पा-लनकरते हुए व्यवहार धर्ममे भी कोई त्रुटि न करते हुए, निश्चय धर्मका उपदेश रखते, हुए की ओर अभिमुख होवें तो यह बहुत भली बात होगी। अपने आप अपनेको समझना उत्त है। अपनेको अपने आपमे ही आरूढ होना है सब जिम्मेदारी हमारी हमपर है, दूसरेपर नही। इसलिए अपना भरोसा बनाकर अपने आपके ज्ञानसे ही समर्थन लेकर ज्ञानस्वभावकेअ भिमुख होवें ।

(१९३) **आत्महितार्थीको सर्वप्रथम स्याद्वादसे तत्त्वपरिचयकी आवश्यकता**—ज्ञान-स्वभावके अभिमुख होनेके लिए जरूरत है सम्यग्ज्ञानकी । ज्ञानके साधन हैं वचन उपदेश । वचन ऐसे होने चाहिये कि जो निजस्वरूपको समझानेमे प्रवीण हो। ऐसे वचन दो प्रकारके हैं। एक अभेद वचन और दूसरे—भेद वचन । अभेद वचन वस्तुके असली सही स्वरूपका सकेत करते हैं, लेकिन ऐसे वचन और ऐसे स्वरूपको समझनेके लिए सबसे पहिले तो हमे भिन्न-भिन्न

रूपसे वस्तुका ज्ञान चाहिए याने भेद वचनों द्वारा वस्तुका परिपूर्ण ज्ञान चाहिए। इसकी पूर्ति होती है स्याद्वादसे। किसी भी वस्तुका पूरा परिचय उस वस्तुमे रहने वाली सारी शक्तियोका, सारी वस्तुओका परिचय हो तब होता है। जैसे यहाँ किसी मनुष्यका पूरा परिचय दिया जाय, सभी दृष्टियोसे उसकी सारी विशेतपाओंको बताया जाय तो उसका परिचय होता है। जैसे यह अमुक कामका व्यापारी है। यह अमुक जगहका रहने वाला है। इसका यह पिता है, इसका यह मामा है, इसका यह भान्जा लगता है, इसका यह पुत्र है आदिक अनेक बातें कही जायें तो उस पुरुषका परिचय पूरा होता है। तो जरा इसी परिचयमे देखिये — जैसे किसी आदमीका परिचय दिया जा रहा है कि यह पुत्र है, पिता भी है, यह मामा भी है, भानजा भी है, समझा दिया, ऐसा समझाते समय दृष्टि समझमे आ रही है कि यह अमुकका पिता है, अमुकका भान्जा है, अमुकका पुत्र है। जैसे दृष्टान्त ले लो। मानो किसी सोहन नामके आदमीका परिचय देना है। सोहनके पिताका नाम है मोहन और सोहनके पुत्रका नाम है श्याम। तो यह कहा जायगा ना कि यह सोहन मोहनका पुत्र है, श्यामका पिता है। तो अपेक्षायें इसमे दो हो गयी। यदि केवल यही कहा जाय कि यह तो पिता है तो जैसे श्यामका पिता है वैसे ही मोहनका भी पिता बन जाय तो असत्य बात आ गई ना? यह पुत्र ही है, ऐसा एकान्त किया जाय तो जैसे वह मोहनका पुत्र है ऐसे ही वह श्यामका भी पुत्र हो जायगा। तो उसको बताया जाता है कि यह मोहनका पुत्र है और श्यामका पिता है। अब दूसरी बात और देखिये– अगर "भी" लगा दिया जाय कि यह मोहनका पुत्र भी है तो इसका अर्थ गडबड हो जायगा ना? इसके मायने यह हो जायगा कि यह मोहनका पिता भी है। लो गलत हो गया। तो अपेक्षा लगाकर फिर "भी" नही लगाया जाता है, किन्तु ही लगाया जाता है। मोहनका यह पुत्र ही है। श्यामका यह पिता ही है। तो अपेक्षा लगाना और ही लगाना ये दो बातें आवश्यक हो जाती हैं किसी भी वस्तुका परिचय करानेके लिए।

(१६४) **स्याद्वादमे संशयके अवसरका अभाव**—बहुतसे लोग कहते हैं कि स्याद्-वाद तो संशयवाद है। वे बतलाते हैं कि जीव नित्य भी है अनित्य भी है। तो संशय हो गया। कभी कहते हैं कि नित्य है, कभी कहते हैं कि अनित्य है पर उन्होंने समझा नही। बात यह है कि अपेक्षा बतायें और 'भी' की जगह 'ही' लगाये तो यह एकदम मुद्रासे प्रकट हो जायगा कि स्याद्वाद तो सच्चा निर्णय देने वाला एक प्रबल उपाय है, जब कहा जायगा कि द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है तो देखिये कितने ठोस निर्णय वाला होता है, याने यह जीव सदा रहता है, इसके द्रव्यको जब देखते हैं तो स्वभाव दृष्टिसे सब जीव नित्य ही हैं और जब पर्यायको देखते हैं तो पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य ही है। वहाँ निर्णय लेते हैं तब

हम पर्यायोको देखकर विचार करते है । पर्याय कहते है अवस्थाको, दशाको, जो कि मिटती रहती है । जैसे आज मनुष्य है, कुछ दिन बाद यह देह मिट जायगा, बादमे पता नही देव हो या तिर्यंच हो । तो ये दशायें मिटती रहती है । तो पर्यायोकी अपेक्षासे जीव अनित्य ही है । देखिये स्याद्वादने निर्णय करा दिया । संशय नही । जो लोग उसका पूरा विचार नही करते वे ही तो इसको संशय जैसा रूपक दे सकते हैं । तो स्याद्वाद एक निर्णायक उपाय है । इससे वस्तुका निर्णय बनाइये । यह एक ऐसी यात्रा है ज्ञान की कि जैसे किसी ऊँची पहाड़ी पर नीचे जाने वाली रेलगाडीको देखिये जब वह रेलगाडी चलती है तो उसके आगे पीछे दोनो ओर इजन लगे रहते है । आगेका इजन तो कुछ बेग रोकने वाला होता है और पीछे का इंजन कुछ-कुछ उसको चलानेके लिए है तो जैसे नीचे जाने वाली ट्रेनके लिए २ इजन आवश्यक होते हैं इसी तरह इस वस्तुस्वरूपकी ज्ञान यात्रा करनेके लिए अपेक्षा और एव ये दो इजन लगे हुए है । जिसे कहते हैं—स्यात् नित्य एव स्यात् अनित्य एव । जैसे द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है । तो जीव नित्य है यह तो किया जाना है सिद्धा और उसकी सिद्धिके लिए अपेक्षा लगी है स्यात् या अपेक्षा या द्रव्यदृष्टिसे और आगे लगा है शब्द 'एव' तो सच्चा निर्णय बताना स्याद्वादका काम है ।

(१९५) स्याद्वादसे निष्पक्ष निर्णय, दार्शनिकोंकी तृप्ति व विवादकी समाप्ति—एक प्रश्न एक प्रोफेसर साहबने रातको रखा था किसी दूसरे महाशयके प्रति कि यह तो बतलावो कि जैनसिद्धान्तकी सबसे बडी विशेषता क्या है ? जो अन्यत्र नही पायी जा सके । कोई कहे अहिसा तो अहिसाका वर्णन तो अन्य दार्शनिक भी करते है । किसीका दिल न दुखावो । अपने परिणाम मलिन मत बनावो । तपश्चरणका भी दूसरे दार्शनिक आदर करते हैं । ऐसी कौनसी चीज है जो जैनसिद्धान्तका एक विलक्षण प्रयोग हो ? तो पहिली बात इसी स्याद्वाद को देखिये—कितनी अद्भुत इसमे कला है । भारतमे आजकल जैसे बडे विवाद उत्पन्न हो रहे हैं एक दर्शन धर्म सम्प्रदायके नाम पर कितने विवाद व कलह होते हैं । उन सब विवादोको मेट सकनेमे समर्थ है तो एक स्याद्वाद है । सबकी बुद्धिका आदर करे और उन्हे बतलावें कि तुम्हारी यह बात इस अपेक्षासे सत्य है । किसी भी बातको असत्य साबित करनेके लिए कमर कस लेना यह एक झगडेका मूल बन जाता है और उसकी ही बातको अपेक्षा लगाकर सत्य जाहिर करनेकी बात करना यह बडी मित्रताका काम करता है । तो स्याद्वाद सब दार्शनिकोके कथनका समन्वय बनाता है जैसे आज जरूरत है देशमे कि ऐसा समन्वय रहे कि कोई लोग परस्परमे लडें नही तो कलहको दूर करनेमे समर्थ एक यह स्याद्वाद है । दार्शनिकताके नाते जिन दार्शनिकोने जो बात कही है वह बात सर्वथा याने एका-

न्तदृष्टिसे तो असत्य है, पर उसकी अपेक्षा खोजो किस दृष्टिको लेकर उन्होने कहा है। तो आज बडे कठिनसे कठिन जंचने वाले तत्त्वोका भी निर्णय स्याद्वाद अपेक्षावादसे करता है।

(१६६) दृष्टियोसे तथ्य खोजनेपर विवादसमापनका एक उदाहरण—जैसे एक बात रखी जिसके विषयमे स्पष्ट विवाद है। कोई लोग कहते हैं कि इस जगतको ईश्वरने बनाया है, वैज्ञानिक लोग यह बात नही मानते हैं और अनेक दार्शनिक भी नही मानते हैं। पदार्थ हैं, सत् हैं, अपने स्वरूपसे परिणमते रहते हैं। ऐसा समस्त पदार्थोंका जो समूह है उसका नाम जगत है। यदि ईश्वर बनाता है किसी पदार्थको तो यह बतलावो कि वह सत् पदार्थ को बनाता है या असत् पदार्थको ? याने जो पदार्थ पहिले से है उसको ही बनाता है या जो बिल्कुल नही है उसे बनाता है ? यदि कहा जाय कि सत् पदार्थको बनाता है, जो है उसको बनाता है तो है को बनानेका मतलब क्या ? वह तो है ही। यदि कहा जाय कि असत्को बनाता है तो जो नही है उसे बनाता है यह बात तो बिल्कुल असम्भव है। जिसका अस्तित्व ही नही है उसका किसी भी प्रकारसे सत्त्व नही हो पाता। जैसे ईश्वरवादियोने जो ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं उन्होने भी यह कहा है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, याने जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता और जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही होता। अब जरा समन्वयकी दृष्टिसे विचार करें तो कहा तो है उन्होंने ईश्वरको जगतका कर्ता। अब दृष्टि परखिये। उनकी बात सही मिल जायगी। देखिये जितने भी जगतके प्राणी हैं उनका वास्तविक सहज स्वरूप क्या है ? उनका सहज स्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव। तब इस ज्ञानानन्द स्वरूपको स्वभावको देखते हैं तो विदित होता है कि सभी जीव स्वभावमे ईश्वर हैं। सभी ऐश्वर्यके अधिकारी हैं। तो ये सब जीव ईश्वर कहलाये। पर्यायमे भले ही गडबडी है मगर स्वभावसे सबमें प्रभुका रूप है। देखो इसको भी प्रकट रूपसे लोग कहते हैं कि घट-घटमे ईश्वर है, सबमे प्रभु विराजमान हैं। और वह प्रभु एक है, घट घटमे प्रभु विराजमान है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक जीवमे प्रभुका स्वरूप है, और वह प्रभु एक है। एकका अर्थ है समान। समान भी एक कहा जाना। जैसे किसी जगह गेहूके दाने रखे हो ढेरके रूप मे और वे बराबर समान गेहू हैं तो लोग कहते हैं कि देखो ये सब गेहू एक हैं। तो समानको भी एक कहते। जब समानतासे देखा तो सब जीवोका स्वरूप तो एक समान आया और उस के समान स्वरूपको जब देखा और केवल स्वरूप ही दीखा तो वहाँ समानकी भी बात छूट गयी। वहाँ तो एक तत्त्व दीखा। तो इस तरहसे एक ईश्वर कहलाया और सबमे ये ईश्वर बसे कहलाये, और ये सब पदार्थ चूंकि सत् हैं तो वे अपना उत्पाद व्यय किया करते हैं। तो देखो— सत् है यह ईश्वर है, इसके जो उत्पाद व्ययकी पद्धति है वही सृष्टि कहलायी। तथा इसके

सान्निध्यमे देह व कर्मका परिणमन हुआ यह सब सृष्टि चली, और यह सर्व सृष्टि देखो निर्बाध चल रही है। अगर कोई एक ईश्वर इस जगतकी सृष्टि करने वाला होता तब तो इन सब अनन्तानन्त जीवोंको सृष्टि करनेमें उसे अनेक बार बाधायें होती। कहो किसी जीवको वह भूल जाय, वह जीव बिना परिणमे ही कहो रह जाय यो व्यवस्था बनानेमे उसे तकलीफ होती। जब समस्त जीव ईश्वर स्वरूप हैं, और सब जीव सत्त्वके कारण अपना उत्पाद व्यय करते है तो इन सब ईश्वरोके द्वारा जगतकी सृष्टि करनेमे कभी न बाधा आयगी, न भूल करेगे। तो देखो अपेक्षा लगाकर वस्तुका निर्णय बना और इसका अब धारण कीजिए कि 'एव' ऐसा ही है। स्यात्‌का ऐसा मतलब है कि हम इसके द्वारा वस्तुके स्वरूपका सही परिचय कर सकते है।

(१६७) अपनेको स्वरूपमात्र अङ्गीकार करनेसे कष्ट चिन्ता व विकृतियोंकी समाप्ति

एक बार रुडकीमे हमारे लगातार एक सप्ताह प्रवचन चले। वहांपर सभी लोग आते थे। तो एक अजैन महिलाने मेरेसे एक प्रश्न किया कि महाराज—हम तो इस कारण अधिक दु.खी रहती हैं कि जो हम स्त्री पर्यायमे है यहां हम कुछ विशेष धर्म नही कर सकती है, क्या करें? तो वहाँ हमने यही कहा कि जरा अपनी अन्तः दृष्टि करके सच तो बताओ कि तुम स्त्री हो क्या? अरे तुम स्त्री नही हो, यह तो एक पर्याय है, कभी जीव पुरुष बना, कभी स्त्री बना, कभी पशु-पक्षी बना, यह पर्याय तो मिटने वाली चीज है। तो क्या तुम यह पर्याय रूप ही चीज हो? तुम तो वास्तवमे जो हो सो बताओ। देखो जिसमे मैं मैं का अनुभव होता है वह क्या है? वह मैं एक ज्ञानरूप हू, ज्ञानप्रकाश हू, ज्ञानपुञ्ज हू। देह मैं नही हू। ध्यानमे आया ना? तब तुम शरीर भी नही हो। शरीर तो अशुद्ध है। अपवित्र है, अशुचि है, विनाशीक है। जलकर राख हो जाने वाला है। यह शरीर हो क्या तुम? अरे तुम वह शरीर नही हो तुम तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र हो। तो यह निश्चय करो कि मैं ज्ञानप्रकाश मात्र एक पदार्थ हूं। स्त्री नही, मनुष्य नही और देखो—जो लोग मनुष्य हैं वे भी जब तक यह समझते रहेगे कि मैं मनुष्य हू। पुरुष हू तब तक वे धर्म न कर सकेंगे। वह तो पर्यायबुद्धि है। मिथ्यात्व है। उन्हे भी यह समझना चाहिये कि पुरुष मैं नही हू, किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हू। स्त्रियोको भी समझना चाहिए कि मैं स्त्री नही हू। मैं तो ज्ञानस्वरूप एक आत्मपदार्थ हू। सन्तोष हुआ उसे कि हां ठीक बात है। यह देह ही मैं नही हूं। तो क्या कल्पना करू कि मैं पुरुष हू अथवा स्त्री? तो जब द्रव्यदृष्टिसे कुछ निर्णय किया जाता है तब एक सहजभावका निर्णय बनता है, वह सहज तत्त्व जो आत्मामे अपने आप स्वभावसे अनादि अनन्त पाया जाय वह है स्वभाव। वह हू मैं ज्ञानस्वरूप। और देखो—कोई सोचे कि स्त्री धर्ममे आगे नही बढ सकती, पुरुष आगे बढ़ते, तो आजकी बात यह है कि न तो

पुरुषको मोक्ष है और न स्त्रीको। अब रही चारित्रमे धर्मसाधनकी बात। तो वह होता है ज्ञानस्वरूप आत्माके आश्रयसे। वह सबको प्राप्त है। तो अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय करें और खूब अपनेमें धर्मका प्रसाद पायें। लाभ लें, यह सब कोई कर सकता है। जब द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाता है तो जीव नित्य है, जीव ज्ञानस्वरूप है, उसमे कोई कष्ट नही है, यह अधूरा नही है। इसमे किसी दूसरेका दखल नही है। यह तो जाज्वल्यमान चकचकायमान एक ज्ञान तेज पुञ्ज है। उस प्रकाश पर जिसकी दृष्टि नही गई वह जीव अभी अंधेरेमे है। उन जीवोंको किसी प्रकारसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती है जो जीव अपने आपमे अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता है। तो अपने आपको ज्ञानस्वरूप माननेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने आपमे अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि बनायें। ये सब बातें हो सकेंगी स्याद्वादके प्रतापसे। स्याद्वादसे पहिले भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे वस्तुके समस्त धर्मों का परिचय किया। फिर सब धर्मोंका परिचय करने के बाद उन सभी धर्मोंको गौण करके याने वस्तुमे रहने वाली शक्ति गुण पर्यायोका ख्याल छोडकर एक अखण्ड वस्तुपर आये।

(१९८) **कलिकालमे कलुषित हृदयोमे नयानभिज्ञ वक्तावों द्वारा प्रभुशासनके प्रसार की अशक्यता**—बात यह कह रहे थे कि वस्तुका परिचय करानेका उपाय स्याद्वाद है। उस स्याद्वादकी प्रतिष्ठा जैनसिद्धान्त ने की है। तो जैनसिद्धान्तकी सबसे अधिक विशेषता है स्याद्वाद, जो कि समस्त दार्शनिकोकी फूटको मिटा देता है। सबको एक मचपर उपस्थित कर सकता है। सबमे एकरस होकर सबमे एक अहिंसाकी प्रतिष्ठा बना सकता है। आज सारे देश यदि स्याद्वादका सहारा लें तो कही विवाद न रहेगा। मगर एक बात प्रश्नमें आ सकती है कि जो इतना बडा ऊंचा शासन है स्याद्वाद वह शासन सारे विश्वमे क्यो नहीं अपना प्रभाव फैला पाया? तो भाई बात यह है कि ऐसा कोई पहिले निर्णय न बनावें कि जिसका प्रभाव सब पर फैला हो वह अच्छी चीज है और जिसका प्रभाव कुछ पर ही हो वह अच्छी चीज नही है। देखो—पापका, मिथ्यात्वका अज्ञानका, मोहका अनन्तानन्त जीवों पर प्रभाव पडा है तो क्या उनका भला हो गया। अच्छा बुरा तो परिचय करके पहिचानो गुण देखकर जहाँ गुणोका सद्भाव हो वह अच्छा कहलाता है। खैर इस दृष्टिसे भी अगर विचार करते हैं कि जो अच्छी चीज है वह सब जगह फैली होनी चाहिए, किन्तु नही फैली, तो इसका उत्तर समन्तभद्राचार्यने दिया है "काल.कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतु' प्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु' " जब समन्तभद्र स्वामी भगवानकी स्तुति कर रहे थे तो वहाँ एक बात कही कि हे भगवन्! तुम्हारे शासनका एक अधिपत्य क्यो नही विश्वमे चल रहा है। तो उत्तर दिया है कि तीन कारण हैं जिस कारण

से वह स्याद्वाद शासन यह ज्ञानानन्द जहाँ प्रकट है ऐसा प्रभुका शासन सारे विश्वमें नही फैल रहा तो तीन कारण क्या हैं ? एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वालोके हृदय कलुषित हैं, और तीसरा कारण है बोलने वालोको नयोका ज्ञान नही होता। ये तीन ऐसे कारण है कि स्याद्वाद शासनका सर्वत्र प्रभाव नही फैल सका।

(१६६) **कलिकालमें हीनभावनाका एक दृष्टान्त**—अब उक्त तीन कारणोंपर ध्यान दीजिए—कलिकाल जहाँके लोगोकी बुद्धि निसर्गतः पापकी ओर जाय उस कालका नाम है—कलिकाल। इसकी एक कथा सी गढी गई है। जैसे मानो दो दिन बाद कलिकाल लगना है तो तो पहिले एक पुरुषने किसी दूसरे पुरुषके हाथ अपना टूटा फूटा पुराना मकान बेचा। खरीदने वालेने जल्दी ही उसमे नीव खुदवाना शुरु कर दिया। नीव खुदवाते हुएमे उसने असर्फियोसे भरा हुआ एक हंडा पाया। कही उस मकानमे गड रहा होगा। तो वह झट उस हंडेको ले जा कर मकान बेचने वालेसे बोला—भैया अपना यह असर्फियोसे भरा हंडा ले लो आपके बेचे हुए मकानमेसे यह निकला है, यह आपका है, आप इसे रखो। तो वह मकान बेचने वाला बोला कि मैंने तो मकान और उसकी जगह बेचा था सो उसका मुझे सब कुछ मिल चुका। अब यह हंडा मेरा नही है। इसे आप ही अपने पास रखें। आखिर यह बात ऐसी बढ़ी कि इसका न्याय राजाके पास पहुंचा। दोनोंने अपनी अपनी बात राजाके समक्ष रखी। मकान खरीदने वाला कहता है—राजन् मैने तो मकान खरीदा है, यह असर्फियोका हंडा नही खरीदा, यह तो इन का है, ये अपने पास रखें, मैं इसे न लूंगा। तो बेचने वाला बोला—राजन् मैंने तो मकान बेचा था, उसका मुझे सब कुछ मिल गया, अब मुझे कुछ मिलना बाकी नही रहा। यह हंडा मेरा नही है, मैं इसे न लूगा। इसको ये रखें। राजा उन दोनोकी बात सुनकर बड़ा हैरान हुआ। उस समय कुछ भी न्याय न दे सका। बोला कि इसका न्याय हम कलके दिन करेंगे। (देखिये—आप लोग मुस्करा रहे हैं। शायद सोचते होंगे कि हम न हुए उस समय, तो हम ले लेते। (हँसी)। अब जिस कलके दिन न्याय होना था उससे पहिलेकी जो रात्रि है उसके बाद लगना था कलिकाल। तो उस ही रात्रिमे देखिये उन तीनोके (याने मकान खरीदने वाले के, मकान बेचने वालेके और राजाके) भाव बदल गए। देखिये अभी कलिकाल लगा भी नही, सिर्फ प्रारम्भ होने वाला था उस ही रात्रिको उन तीनोंके भाव बडे कलुषित हो गए। जब प्रारम्भको यह हालत है तो फिर इस कालकी तो बात ही क्या ? हाँ तो उन तीनोंके क्या भाव हुए सो सुनो—मकान खरीदने वाला अपनी खाटपर पडा हुआ सोच रहा था कि देखो मैंने कितनी बेवकूफीकी थी। अरे मैं व्यर्थ ही उस असर्फियोंसे भरे हंडेको उसे देने गया था। कल के दिन जब वह मेरेसे लेनेको कहेगा तो मैं ले लूंगा। मकान बेचने वाला सोचता है कि अरे

उसने तो केवल मकान और जमीन खरीदा था, वह असर्फियोका हडा तो मुझे ही मिलना चाहिये था। मैंने व्यर्थ ही उसे लेनेसे इन्कार कर दिया। कलके दिन जब वह मेरेसे लेनेको कहेगा तो मैं ले लूंगा। उधर राजाके मनमे भी यह भाव आया कि अरे वे दोनो बेवकूफ थे, जो झगड रहे थे। कलके दिन तो मैं यही कह दूंगा कि देखिये यह असर्फियोसे भरा हंडा तो जमीनके अन्दर मिला, इसपर न तुम्हारा अधिकार है, न तुम्हारा। इसपर तो राजाका अधिकार है। तो भाई यह कलिकालकी बात कह रहे हैं। इस कलिकालमे लोगोके ऐसे ही भाव हैं। तो हे भगवन ! एक तो कलिकाल है जिसके कारण आपका पवित्र शासन एक छत्र न फैल सका।

(२००) प्रभुशासनका प्रसार न हो सकनेमे वक्ता व श्रोतावोंकी त्रुटि—दूसरा कारण यह है कि आजकल सुनने वाले लोगोके हृदय कलुषित हैं। वे अपनी मनपसद बात सुनना चाहते हैं। उनके मनके विरुद्ध कोई बात बोल दी गई तो वे वक्तासे लड़ भी बैठते हैं। बहुतसे श्रोता ऐसे भी होते हैं कि जो अच्छे व्यवहारसे रहते हैं, पाप भी नही करते मगर धर्मके मामलेमे जो बात सुनी, जैसा जाना वैसा ही दूसरोंसे कहते हैं और वे मान जायें तो ठीक है और अगर वे दूसरी तरहसे कहें तो वह उनसे लड बैठता है। तो श्रोतावो का मलिन आशय है, तीसरे—वक्ताओको नयोका परिचय नही है। वे यह नही बतला सकते कि यह बात हम इस नयसे कह रहे हैं। जानते हुए भी स्वय वक्ताका एक ऐसा पक्ष रहता है कि वह नयका नाम न लेकर बोलता जाता है कि ऐसा ही है। अरे भाई ऐसा है तो सही मगर इस नयसे ऐसा ही है ऐसी बात बोलो। तो वक्ताओको नयका परिज्ञान नही है। तो हे प्रभो, यही तीन कारण है कि जिसके कारण आपका यह पवित्र शासन एक छत्र विश्वमे व्याप न सका।

(२०१) प्रभुशासनका स्वयं महत्त्व—प्रभु शासनका प्रसार हो चाहे न हो, इसमे क्या है ? इससे कही प्रभुशासनकी त्रुटि नही जाती। एक कविने कहा है कि किसी जंगलमे घूमते हुएमे भीलनियोको मानो हीरा मोती मिल जावें और उन्हे उनकी पहिचान न होनेसे चाहे वे अपने पैरोका मैल घिसनेमे उनका प्रयोग करें, पर उनके इस तरहका अनादर किये जानेसे कही उन मोतियोका कुछ बिगाड तो नही हो गया। वे भीलनियाँ उन मोतियोका अनादर करें तो करें, पर वे बडी बडी रानियोंके गलेका हार बनकर क्या उन रानियोकी शोभाको बढ़ाते हुए स्वयं गौरवको न प्राप्त होंगे ? अर्थात् अवश्य प्राप्त होंगे, तो इसी तरह समझो कि अगर एक स्याद्वादशासनका, आत्मशासनका संसारके ये अनन्त जीव अनादर कर रहे हैं तो करें मगर क्या इससे इस शासनका अनादर हो जायगा ? अरे जो ज्ञानीसत जन है, कल्याणार्थीजन हैं वे तो इसे मस्तकपर रखेंगे ही। उसका आदर करेंगे ही। तो

स्याद्वाद एक ऐसा उपाय है कि दार्शनिकोका, समाजका, गुरुका, सबका विरोध मिटानेमे समर्थ है।

(२०२) स्याद्वादसे वस्तुतथ्यका निर्णयकर अहिंसामें बढ़का प्रोग्राम—अब स्याद्वाद के द्वारा जब वस्तुस्वरूपका निर्णय कर चुकते हैं तो अब हमारा प्रोग्राम क्या हो आगे बढनेमे वह है एक अहिंसा। अहिंसाका शुद्ध स्वरूप है अपने आपमे अज्ञान, भ्रम, मोह, रागद्वेष कल्पनायें ये उत्पन्न न होना, इसे कहते हैं पूर्ण अहिंसा। सच्ची अहिंसा। याने मैं अपने आपकी हिंसा न करूँ, अपने आपको बरबाद न करूँ। अपनेको गुप्त सुरक्षित बना लें इसको कहते हैं अहिंसा। आप कहेंगे कि हम तो सुनते थे कि किसी जीवकी हिंसा न करना सब जीवों पर दया करना उसे अहिंसा कहते हैं। तो आप ठीक ही सुनते आये, मगर आप इस तरह सुनो कि कोई अपने आपमे अज्ञान, मोह, रागद्वेष न बसायें, खोटे भाव न करें तो वह हो गई अहिंसा। जो अपना खोटा भाव न करेगा तो उसके द्वारा बाह्यमे जो प्रवृत्ति बनेंगी वह ऐसी बनेगी कि वह किसीकी हिंसा न करेगा, दूसरोकी दया करेगा। ऐसे लोगोने उसकी प्रवृत्ति देखकर अहिंसाका साक्षात् रूप उसको मान लिया, पर अहिंसाका साक्षात्रूप होता है खुदमे अपने आपमे रागद्वेष खोटे विचार न बनें सो अहिंसा है। इसे कहते है निश्चय अहिंसा। अब व्यवहार अहिंसा वह है दया करना, दूसरोका दिल न दुखाना। कोई पुरुष दूसरोका दिल न दुखाये, दया करे तो उससे पुण्यबध तो हो जायगा, मगर वह अपने आपमें भ्रम रखता है, रागद्वेष रखता है कि मैं इस पर दयाकर रहा हू, इसपर उपकार कर रहा हू। इस प्रकारका भ्रमका भाव रखे तो अभी अहिंसा न बनेगी। वह तो अपने आप पर हिंसा कर रहा है, अपने आपमे कर्तृत्वबुद्धि लाद रहा है कि मैं इन जीवोकी रक्षा करता हूं। मैं इनको पालता पोषता हू। देखो मैंने इतने रोगियोके लिए औषधालय खोल रखा है। अरे भीतरमे इसके ज्ञानप्रकाश नही है। परपदार्थके साथ कर्तृत्वकी बुद्धि लगी हुई है तो वह अपने आपकी हिंसा कर रहा है। तो अपने आपमे अज्ञान न रहे तब ही यह व्यवस्था बन सकती है। तो पहिली बात यह है कि शुद्धज्ञान प्रकाश तो अपने चित्तमे लेना होगा।

(२०३) अहंमन्यताकी महती विपत्ति—देखो भाई जिसपर लोग सुधार बिगाड की कल्पना करते है मैं मै की बात किया करते हैं, मैं हू, मैंने किया यह कितनी बडी विपत्ति है? सबसे बडी विपत्ति है मैं मैं की मान्यता। यह मैं हूं, मैने ऐसा किया मुझको इसने ऐसा कर दिया, मुझे यह कुछ नही समझता। अरे भाई तू तो एक ज्ञानप्रकाश है, तू जब उसे नही समझ रहा है तो वह भी तुझे नही समझ रहा। इसलिए आपेसे बाहर क्यो हो रहे? यह पर्याय है। यह देह है। ये नाक, आंख, कान आदिक मलसे भरे हुए हैं, इनको क्यो

मानते कि यह मैं हूं ? और जब इस शरीरको मानते कि यह मैं हू तो इसमे विवाद उत्पन्न होता है । मैं यह नही हू । मैं तो एक ज्ञानप्रकाश हू । मेरी दया हो जाय, मेरी रक्षा हो जाय, बस यही मैं चाहता हू और मैं कुछ नही चाहता हू । एक बार देहरादूनमे मेरा चातुर्मास था । वहा शौचके लिए प्रतिदिन मैं करीब डेढ मील दूर जाया करता था । घूमना भी हो जाता था । तो जाते हुएमें पंजाबी वगैरहके कुछ बच्चे प्रतिदिन गोली खेलते हुए मिलते थे। एक दिन मेरे मनमे आया कि देखो सभी लोग हमे अच्छा कहते है । प्रशसा सुनते सुनते तो बहुत दिन हो गये । चलो एक दिन निन्दा ही सही । एक बार मैं इन बच्चोकी गोलियो मे लात मार कर बिखेर दूंगा, फिर जो गालियां वे देंगे उन्हें सह लूगा । या बादमे जो होगा सो देखा जायगा, सो हमने उन बच्चोको गोलियोपर लात मार दी । उन बच्चोने बादमे हमे ४—६ गालियां भी दी । उनको सुनकर मैं बहुत खुश हुआ । सोचा कि देखो यह तो मेरी एक परीक्षा थी । उन बच्चोकी गाली सुनकर मैं मनमे क्षुब्ध न हुआ तो यही मेरी उस परीक्षामे विजय है । यदि उन बच्चोकी गालियां सुनकर मैं क्षुब्ध हो जाता तो वही मेरी उस परीक्षामे असफलता थी । तो भाई किसीकी गाली सुनकर किसीके निन्दा भरे वचन सुनकर क्षुब्ध न हो । उस समय यह समझें कि यह तो मेरी परीक्षा कर रहा है । बल्कि उस को तो बडा उपकारी मानना चाहिए क्योकि उसने उस समय मेरेको बहुत सावधान बना दिया । इतना सावधान तो कोई १००-५० रूपये खर्च किए जानेपर भी न कर सकेगा । किसीसे कहे कि भैया हम तुम्हे १००) देंगे, तुम हमे अपने हृदयसे गालियां दे दो । तो भले ही वह १००) के लालचमे आकर कुछ ऊपरी ऊपरी बानाबटी गाली दे दे, पर वह हृदयसे गालियां नही दे सकता । तो किसीके निन्दाभरे वचन सुनकर, किसीकी गालियां सुनकर हम क्षुब्ध न हो बल्कि उसे अपना उपकारी समझे । वह तो अपने लिए एक भली बात है । लोग तो जरा जरा सी बातमे किसीके द्वारा कुछ निन्दात्मक वचन बोले जानेपर अत्यन्त क्षुब्ध हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं । यह उनकी भूल है । यह समझें कि यह तो मेरे भलेके लिए है । यह तो मुझे सावधान कर रहा है । इसलिए उस पर क्षोभ न करके शान्तिपूर्वक सुन लें, यह हम आपके लिए एक भली बात है ।

(२०४) **जन्म मरणकी महती विपत्ति**—आज एक बडी जटिल विपदाकी समस्या है कि जिसका निपटारा करना अत्यन्त आवश्यक है । वह विपदा क्या है ? वह विपदा है इस जीव पर जन्म मरणकी । हम आप जन्मते है, मरते हैं फिर जन्मते हैं फिर मरण करते हैं । यह क्रम हम आपका आज भी चल रहा है और इसमे जितना जीवन मिलता है वह जीवन भी थोड़ा सा जीवन है । वह सारा जीवन सकट पूर्ण है । जन्ममे सकट, मरणमे

संकट और बीचमे रही सही जो थोडी जिन्दगी है उसमें भी संकट । आज इस मनुष्यभवको पाकर अनुभव कर लिया होगा, बताओ कौनसी संतोषकी बात अब तक पायी ? जब जन्में थे तब भी संकट हुआ, जवान हुए तब संकट हुआ, वृद्ध होंगे तब भी संकट मिलेगा, जब मरण करेंगे तब भी संकट मिलेगा । इसे ऐसा समझिये कि जैसे आत्मानुशासनमे गुणभद्र स्वामीने कहा है कि जैसे एक बाँसकी पोरके बीचमे कोई कीडा पड़ा हो और उसके दोनो ओर छोरमे आग लगी हो तो उस कीडेकी बडी शोचनीय दशा है, इसी प्रकार हम आपके जीवनके दोनो ओर जन्म मरणकी आग लगी है और उस आग लगे जन्म मरणके बीच थोडा सा जीवन जो मिला है वह भी दुःखपूर्ण है । आप अनुभव करिये, सोचिये, अगर एक भवमे विषयके साधन मिला लिया, कुछ सासारिक मौज पा लिया तो इससे मेरे जीवका पूरा नही पडता । जैसा भाव किया उसके अनुसार अगला जन्म हो गया तो वहाँ दुःख भोगेगा । एक यह सबसे बडी विकट समस्या है जिसकी कुछ थोडी जिम्मेदारी अनुभव करना चाहिये । मानो कुछ कला प्राप्त करली, धन प्राप्त कर लिया तो उससे क्या होता है ? जन्म मरणका संकट । ऐसा उपाय बन जायगा तो हम आप लोगोका जीवन सफल है अन्यथा सफल नही है । चाहे जिन्दगीमे ससारी लोगोके कहनेमे यह बात बन जाय, इससे कुछ होने का नही । जन्म मरणका संकट मेटनेका उपाय बना लिया तो हम आप लोगोका जीवन सफल हो जायगा । तो कैसे मिटे जन्ममरणका सकट, इसीके सम्बन्धमे थोड़ा कहा गया ।

(२०५) शान्ति चाहने व आश्रय लेनेकी प्रकृतिका सही उपयोग करनेका अनुरोध— जहाँ हमपर विपत्ति है वहाँ यह भी देखिये कि हम आप लोगोको कितनी सुविधायें मिली हैं, हम आप सबकी दो प्रकारकी आदतें हैं । एक तो यह आदत है कि शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं । कोई जीव दु:ख नही चाहता । यह तो बड़ी अच्छी बात है जो कि सुख शान्ति सभी जीव चाहते हैं । एक तो यह बड़ी भली आदत है । और दूसरी भली आदत यह है कि किसी न किसी बड़ेका सहारा, आश्रय करना चाहते हैं । ये दो आदतें हम आपमे बडी अच्छी पडी है लेकिन इन आदतोका दुरुपयोग हो रहा है । चाहते हैं तो शान्ति, पर अशान्तिको शान्ति समझकर चाह लें तो उससे कार्यसिद्धि नही होती । यह तो बड़ी अच्छी बात थी हम आप लोग हृदयसे शान्ति चाहते है, लेकिन शान्तिका स्वरूप जब तक समझमे न आयगा तब तक शान्तिकी प्राप्ति नही की जा सकती । भले ही हम सुख शान्ति चाहते हैं, मगर वास्तविक शान्तिका निर्णय पहिले बनाना चाहिये कि वास्तविक शान्ति क्या है ? तो वास्तविक शान्ति क्या है, इसे थोड़े शब्दोमे बताया है कि जहाँ आकुलता न हो वही वास्तविक शान्ति है । जो लोग बड़ा सुख पा रहे हैं सम्पदाका, पञ्चेन्द्रियके विषयोका तो क्या उनमे आकुलता है ? हाँ

हाँ आकुलता है। निरन्तर आकुलता है। एक सेकेण्डको भी निराकुलता नही है। लग रहा ऐसा कि हम लोग बडे मौजमे हैं, बडा सुख मिलता है। आराममे रहते हैं, और यहाँ कहा जा रहा है कि एक समयको भी, एक क्षणको भी निराकुलता नही होती। यह बात सच है। देखो—यहाँके ये सुख और दु ख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए हैं। यह बात झट समझमे आ जायगी। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदिक पञ्चेन्द्रियके विषयोका जो आनन्द लूटा जाता है तो वह भी क्षोभसे भरा हुआ है। जैसे एक मनका ही विषय ले लो। जब कभी मेम्बर बननेके लिए बात चलती है तो उस समय आपका कैसा कैसा मन चला करता है? मेम्बर होनेके लिए आपको कितना आकुल व्याकुल होना पड़ता है। एक भोजन करनेकी ही बात देख लो—जब आप भोजन करने बैठते है उस समय आप कितने कितने विकल्प करते हैं। भोजन करते हुएमे भी आपको कितना क्षोभ रहा करता है? तो ये पञ्चेन्द्रियके विषय कोई समतासे भोगता है क्या? अरे सभी पञ्चेन्द्रियके विषय क्षोभसे भरे हुए हैं। उन्हे न चाहना। शान्ति क्या है? जहाँ सुख नही दु ख नही।

(२०६) **शान्तिस्वरूप व आश्रेय तत्त्वका निर्णय**—सुखके मायने संसारका सुख। जो इन्द्रियोको सुहावना लगे वह सुख है और जो इन्द्रियोको असुहावना लगे वह दु ख है। तो इस बातका एक सही निर्णय कर लो कि न सुखमे शान्ति है न दुःखमे। इसके लिये तो प्रथम तो शान्तिका स्वरूप समझना है। दूसरी आदत क्या बतलाया कि हम किसी बडेका आलम्बन करना चाहते हैं, किसी बडेका सहारा तकना चाहते हैं। यह भी एक बडी अच्छी आदत है। देखो चाहे कोई बच्चा हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढा हो, चाहे धनी हो, चाहे निर्धन हो, चाहे बुद्धिमान हो, चाहे मूर्ख हो सभीके अन्दर यह आदत बनी है कि हमे तो अपनी सुख शान्तिके लिए किसी बडेका सहारा चाहिए यह भी आदत अच्छी है, लेकिन यहाँ भी भूल करते हैं। वास्तवमे बडा कौन है जिसका हम सहारा लें? और नियमसे सकटोसे मुक्त हो जायें? तो देखिये—उत्तर यह देंगे कि वास्तवमे बडा वह है जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो। और बात सत्य भी है। वे बडे हैं जो परमात्मा हुए, जो रागद्वेषरहित है, जो शुद्ध ज्ञान भोगते हैं, जो शुद्ध आनन्द भोगते हैं वे बडे हैं, लेकिन यहा एक समस्या और आ जाती है कि ऐसा बडा हमे एक भी नही दिखता, और कभी आखो दिख भी जाय समवशरणमे तो उनके निकट पहुचना भी कठिन है, और फिर वे भगवान किसीकी बात सुनते भी नही। आप सोचते होंगे कि क्या वहां पञ्चेन्द्रियके विषयोकी प्रवृत्ति नही है? हा ठीक है, वहाँ तो केवलज्ञान है। वहा तो निर्विकल्परूपमे प्रतिभासमान होता है। हम उन्हे व्यवहारके ढगसे कह सकते हैं, सहारा ले सकते हैं, और वे कैसे सहारा दे सकते हैं? तो उनका सहारा यही है कि हम

उनके स्वरूपका चिन्तन करके अपने आत्मामें पवित्रता उत्पन्न कर लेंगे और हम अपने आप-का वास्तविक शरण प्राप्त कर लेंगे, लेकिन एक बात देखिये कि जब मैं अपने आपका सहारा लेने चलता हू, जो वास्तविक शरण है तो सहारा लेते लेते अन्तमे वह सहारा मिल जाता है जो मेरेमे अन्त:प्रकाशमान तत्त्व है उसपर आ जाया करते हैं। देखो—भगवान केवल-ज्ञानी हैं, अनन्त आनन्द सम्पन्न है और ये ज्ञानानन्द स्वरूप स्वभावके अनुरूप जो भीतर हैं सो बाहर हैं। हम आपको ऐसा नही है। भीतर तो है प्रभुके समान स्वरूप, पर बाहरमे हो रहा है विषय कषायोका परिणमन। यह अन्तर पड रहा है, पर प्रभुके स्वरूपमें अन्तर नही पड रहा है। जो अन्तरगमे है, जो स्वभावमें है सो बाहर प्रकट है, ऐसा अनुरूप परिणमन है वह ज्ञानपरिणमनका। तो ऐसा अनुरूप परिणमन निरखना है, उसका श्रोत है स्वभाव। उसमे पहुंचना है। उसके स्वभावपर पहुंचना है तो स्वभावका जो चिन्तन है वह व्यक्तिगत सत्ताको छोड देता है। तो इसका स्वभाव है ऐसी बात नही रहती, किन्तु स्वभाव है वह ही चिन्तनमे रहता है। तो जब स्वभाव चिन्तनमें रहता है तो परव्यक्ति छूटा, खुद नहीं छूट सकता, इसलिए अंततोगत्वा इस स्वभावके चिन्तनमे हमे अपने आपके स्वभावका स्पर्श हो जाता है।

(२०७) **अन्तस्तत्त्वकी महत्ता**—भैया, सच्चा निर्णय बनावें कि वास्तवमें आप कौन है? जैसे कहते है ना चत्तारिदंडकमे चत्तारिलोगुत्तमा, याने लोकमे चार उत्तम हैं वे चार कौन से उत्तम हैं? अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा प्रणीत धर्म। ये साधु लोकमें उत्तम हैं तिसपर भी अरहंत और सिद्धको उत्तम पहिले कहा। ये अरहत और सिद्ध लोकमे उत्तम हैं। उन अरहत और सिद्धके बताये हुए मार्गपर जो चलने वाले साधुजन है वे मंगल हैं और जिस धर्मको केवली भगवानने बताया है वह धर्म लोकमें उत्तम है। तो व्यवहारमे बड़े हैं परमात्मा और सिद्ध पचपरमेष्ठी, पर निश्चयसे याने ये मेरेमे तन्मय रह सकें, ये मेरेसे अ-भिन्न रह सके, मेरेमे तन्मय हो सके, ऐसा बड़ा कौन है? ऐसा बड़ा है मेरेमे सहज जो अपने सत्त्वके ही कारण परकी अपेक्षा बिना, परके सम्पर्क बिना जो मेरेमे स्वरूप है, सहजस्वभाव है, वह लोकमे उत्तम है। मैं एक छोटी सी कहानी कहूगा, वह केवल इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कि लोकमे उत्तम क्या है? क्या मिलेगा अन्तमे उत्तम? एक पुरुष कुछ बद-चलन था, उसकी स्त्री सती थी। उसने बहुत समझाया कि तुम ये सब अपराध छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो जायगा, पर वह न माने। एक बार फिर उस स्त्रीने पत्थरकी कुछ बटरिया देकर कहा कि लो देखो यह देवता है, यह बड़ा है, तुम इसकी रोज पूजा कर लिया करो और सिर्फ २४ घटेके लिए पाप छोड़ दिया करो। सो उसने स्त्रीकी बात मान ली। अब

वह प्रतिदिन उस बटरिया को पूज लिया करता था और २४ घंटेके लिए पाप छोड दिया करता था। उसने जल्दी-जल्दीमे कह तो दिया था कि हाँ हम यह बात रोज रोज कह दिया करेंगे, पर यह ध्यान उसने न दिया कि अगर हम प्रतिदिन २४ घटेको पाप छोड दिया करेंगे तब तो पाप सदाके लिए ही छूट जायेंगे। स्त्रीने तीन बार सकल्प करा लिया कि हाँ प्रतिदिन इस बटरियाको पूज लिया करेंगे और २४ घटेके लिए पाप छोड दिया करें। अब वह प्रतिदिन उस बटरियाको पूजकर २४ घटेके लिए पाप छोड दिया करता था। एक दिन उसने देखा कि उस बटरिया पर चढाये जाने वाले चावलोको चूहा खा जाता है तो उसके मनमे आया कि अरे इन पथरियोसे बडा तो यह चूहा है, हमे इस चूहाकी पूजा करना चाहिए, अब वह चूहेकी पूजा करने लगा। चूहेको पकडकर रख लिया, प्रतिदिन वह उस चूहेपर चावल चढाये, घटी बजाये, पूजा करे और २४ घटेके लिए पापोको छोड दे। एक दिन उस चूहे पर झपटी बिल्ली। सोचा अरे इस चूहेसे बडी तो बिल्ली है। सो वह बिल्ली की पूजा करने लगा। एक दिन उस बिल्ली पर झपटा कुत्ता सो सोचा अरे इस बिल्लीसे बडा तो यह कुत्ता है, सो उस कुत्तेको पूजने लगा। एक दिन उस पुरुषकी स्त्री रसोईमे खाना बना रही थी, रसोईके पास वह कुत्ता गया, उस स्त्रीने कुत्तेको २-३ बेलन मार दिए; कुत्ता भौं भौं करके भग गया। इस दृश्यको उस पुरुषने देख लिया—सोचा अरे इस कुत्तेसे बडी तो मेरी स्त्री है, अत: उस स्त्रीकी पूजा वह करने लगा। अब तो उस स्त्री के दिमाग बहुत ऊँचे चढे हुए थे। एक दिन उस स्त्रीने खाना बनाया, दालमे नमक अधिक गिर गया। उस पुरुषने पूछा कि आज दालमे नमक अधिक क्यो हो गया ? तो वह झुंझलाकर बोली अरे अधिक हो गया तो क्या हुआ, हाथ ही है हो। गया अधिक तो कुछ पानी और मिलाकर खा लो। उस पुरुषको गुस्सा आया तो उसने ३-४ तमाचें स्त्रीके जड दिए, स्त्री रोने लगी। अब उस पुरुषने सोचा—अरे इस स्त्रीसे बडा तो मैं हूं; वह अपनी पूजा करने लगा। देखिये बाहरमे बडा खोजने निकले तो वह बडा खुद ही मिला। तो भाई, शान्तिकी उपलब्धिके प्रसगमे अपनेको आप ही बडा मिल गया। दूसरेका सहारा आपको शान्तिका साधक न बन सकेगा। तो जब अपने आपमें अपने स्वरूपको निहारियेगा तो बडी उपलब्धि होती है।

(२०८) सम्यक् ज्ञानकी **स्वीकारतासे ही कषायसंकटोके विनाशकी संभवता**—बहुतसे लोग तो जब बहुत हैरान हो जाते हैं तो हमसे कहते हैं कि महाराज, आप हमारे बच्चेको ऐसा नियम दिला दो कि वह क्रोध न करे। अब भला बतलावो—इस बातका कैसे नियम कराया जाय ? उसकी यह बात तो निभ न सकेगी। अरे क्रोध तो एक भीतरका

प्रसंग है। अज्ञानभाव जगता है, क्रोधप्रकृतिका उदय आता है, क्रोधभाव होता है, क्रोध न करें ऐसा नियम नही निभाया जा सकता। अगर सम्यग्दर्शन हो, कुछ विवेक हो, स्वरूपकी बात हो, स्वरूपकी शुध हो, आश्रयभूतके त्यागका नियम लें तो यह निभ जायगा, मगर जब तक अज्ञान है तब तक कषाय छोडनेका नियम कैसे बनेगा ? तो जब अपने आत्माके इस सत्य स्वरूपका बोध होता है कि अरे यह मैं अपने आप सहज स्वतः स्वभावतः अपने ही सत्त्वके कारण एक ज्ञानपुञ्ज हूं। इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नही कहा जाता। रागद्वेष मोह कषाय, विकल्प, विचार, ईर्ष्या, लड़ाई-झगड़े आदिक ये कोई मेरे स्वरूपमें नही हैं। स्वरूपकी बात कही जा रही है, बीत क्या रही है इसकी चर्चा नही करते। मेरेमें स्वरूप क्या है ? मेरा स्वभाव क्या है, इसकी बात कही जा रही। जैसे कोई बड़े कुलका लड़का हो वह खोटे काम करता है तो लोग उसे समझाते हैं—बेटा तुम तो बहुत ऊँचे घरानेके हो, यह काम तुम्हे करना चाहिए क्या ? तो देखिये जैसे करता तो है खोटा काम, पर उसे कहते कि तुम तो बड़े ऊँचे घरानेके हो। इसी तरह जब समझाया जाता कि देखो तुम तो बडे ऊँचे घरानेके हो, जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा तुम्हारा स्वरूप है, तुम हो तो इतने ऊँचे कुलके, मगर कर क्या रहे हो ? यह रागद्वेषका काम करते हो। अरे भाई जब गृहस्थी लगी है तो थोड़ा रहेगा ऐसा कि इस रागको रखे बिना गृहस्थीका काम कैसे चलेगा ? तो भाई ठीक है, गृहस्थी के अन्दर रहकर तो रागका, प्रेमका बर्ताव करना पड़ेगा, मगर भीतरमें श्रद्धा ऐसी बनाये रहो कि ये सब जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, किसी भी अन्य जीवसे मेरा कुछ सम्बंध नही है, मेरा कल्याण करनेमे कोई भी परपदार्थ समर्थ नही है। तो वास्तवमे बडा कौन है ? आदत तो बनी है बडेका आश्रय तकनेका, मगर सच सोचो कि मेरे लिए बडा कौन है मेरेको मेरा सहजस्वरूप ही महान् है।

(२०६) **स्वयंकी जागृतिसे स्वयंकी प्रगति**—देखिये समझाने वाला कितना ही कोई समझाये मगर समझने वाला ही यदि समझना चाहे तो समझ सकेगा। समझाने वाला तो एक आश्रयभूत कारण है। समझाने वाला गुरु तो समझाये पर समझने वाला यदि नही समझना चाहता तो गुरु उसे सिखानेमे समर्थ नही। कोई एक जीव किसी दूसरेका कुछ नही कर सकता। देखिये जब सीता जी का जीव प्रतीन्द्र बना था, श्रीराम उस समय निर्ग्रन्थ मुद्रामे बैठे हुए किसी जंगलमें तपश्चरण कर रहे थे। वहाँ सीताका जीव प्रतीन्द्र पहुंचा श्रीरामको डिगानेके लिए। उसके मनमे यह बात आयी थी कि अभी श्रीरामका मोक्ष न हो, बादमे हम दोनो एक साथ मुक्त होंगे। इसी विचारको लेकर सीताका जीव प्रतीन्द्र श्रीरामको डिगानेके लिए पहुचा। बड़े हाव-भाव दिखाये, बड़े-बड़े प्रयत्न किए, पर श्रीराम रच भी न डिगे।

उस प्रतीन्द्रने ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश पकड़कर खीच रहा है। सीता विलाप करती है—हाय। राम राम मुझे बचाओ। यो सारे प्रयत्न उस सीताके जीव प्रतीन्द्र ने कर लिए, पर श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये सीताके सोचनेसे श्रीराममे कुछ परिवर्तन हो सका क्या ? अरे कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ भी कर सकनेमे समर्थ नही है। कोई चाहे कि मैं किसीको सुखी करे दू अथवा दुःखी कर दूँ तो उसका यह सोचना गलत है। कोई किसीको न सुखी कर सकता, न दुःखी कर सकता। मैं किसीका कल्याण कराना चाहता हू, पर उसमे यदि ज्ञान और वैराग्यकी बात नही जागृत होती है तो हम उसका कल्याण कर सकनेमे कहा समर्थ हो सकते हैं ? तो सभी जीव अपने आपके जिम्मेदार हैं। कोई किसी दूसरेका जिम्मेदार नही।

इस मनुष्यभवको पाकर सबसे बडा संकट है जन्म मरणका। मेरा यह जन्ममरणका संकट कैसे छूटे ? इसका हमे उपाय करना है। वह उपाय है सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व पैदा कीजिए। उसका उपाय क्या है कि निमित्त तो हुए अनन्तानुबधी आदिकका उपशम। उसमे हम करें क्या ? अपनी दृष्टि सही स्वरूपपर लगे। इस परमदृष्टिसे वस्तुस्वातंत्र्य निरखें। प्रत्येक पदार्थ जब असत् है तो वह स्वतः सत् है। दूसरेने उसे नही बनाया, वह अपने आप सत् है। जब वह स्वयं सत् है तो सत्का लक्षण है उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत। जो सत् है वह उत्पादव्ययध्रौव्यमय जरूर है। उसमे निरन्तर ये सब कुछ चलते ही रहेगे। फर्क इतना आ जाता है कि कोई अशुद्ध पर्यायमे है कोई विकारभावमे रहता है तो वह किसी परउपाधिका निमित्त पाकर। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है, सो निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनसे ही परिणमन कर परिणमेगा अपने आपके परिणमन से जीवकी पर्याय अपने आपके परिणमनमे है तब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है, अन्यथा विकार हो नही सकता। इतना होनेपर भी स्वातत्र्यको देखिये कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे रहा करता है। तब बतलावो किसी बाह्य पदार्थका कुछ सम्बध रहा क्या ? आपके घरमे जितने जीव है स्त्री पुत्रादिक वे सब भी उतने ही भिन्न हैं जितने कि जगतके अन्य सब जीव। ये पशु पक्षी कीट-पतिगे, अथवा ये पडोसी जन, ये विदेशी जन आदि जितने आप से भिन्न मालूम हो रहे है उतने ही भिन्न ये घरमे पैदा हुए दो चार जीव है। कही ऐसा नहीं है कि आपके घरमे पैदा हुए ये दो चार जीव आपके कुछ लगते हो, आपसे भिन्न न हो। अरे वे सब अत्यन्त भिन्न यह बात भले ही आज सही रूपसे चित्तमे न बैठे क्योकि राग लगा है, मोह लगा है। पर ऐसी बात नही है कि यह बात समझमे ही न आये। अरे समझना चाहे तो समझ सकते हैं।

(२१०) द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा एकको अन्यसबसे विविक्तताका प्रकाश——

प्रत्येक वस्तु अपने आपमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारो चतुष्टयोंसे सम्पन्न है। किसीकी बात ले लो। जैसे हम इस पुस्तकका ही परिचय करना चाहे तो यह कहेगे कि देखो जो पुस्तकका पिण्ड है, पुस्तकका स्वरूप, जितने आकार प्रकार लम्बाई चौडाईमें फैला है यह इस का क्षेत्र है। इस पुस्तकका काल—जो इसकी नवीन पुरानी आदिक परिणति है यह इस पुस्तकका काल है। पुस्तकका भाव जो इसमे शक्ति है वह शक्ति भाव है। हर एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होता है। तो हम आपमे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। अब द्रव्य है मेरे गुणोका पिण्ड, मेरा क्षेत्र है मेरे आत्मप्रदेश, जितनेमे मै रह रहा हूं। जिसे कहते है कि जितना यह शरीर है नखसे लेकर सिर तक, इतना यह क्षेत्र है। मेरा काल क्या है? जो मेरे आत्माकी वर्तमान परिणति हो रही है—रागमय हुए, द्वेषमय हुए, ज्ञानमय हुए, भेदविज्ञानमय हुए, तत्त्वाभ्यासमय हुए, यो जो जो भी मेरी परिणतियाँ हो रही है वह सब मेरा काल है। मेरा भाव क्या है? मेरेमे जो शक्ति है ज्ञान दर्शन आनन्द वीर्य आदिक वह मेरा भाव है। तो बतलावो मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमें रहेगा या यह मेरे स्वरूपसे बाहर कही जायगा? मेरेसे बाहर मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कही नही पहुंचता। सब जीवोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वतत्र-स्वतंत्र है। उनका सब कुछ उनमे है। उनसे मेरेमे कुछ आता हो या मेरेसे उनमे कुछ जाता हो ऐसा नही है।

व्यवहारमे चूँकि आप गृहस्थीमे रह रहे है, गृहस्थीमे रहनेके नातेसे आपको सब कुछ करना पड रहा है, तो ठीक है, गृहस्थीके बीच रहकर जो करने योग्य कर्तव्य है सो तो करें, पर बाकी समयमे धर्म करना है, ज्ञानाभ्यास करना है। तो ऐसी स्थितिके लिए भी थोडा उद्यम करें तो वहाँ एक कर्तव्य है कि रागके काम करना, प्रेम करना उनका पालन पोषण करना, एक मनमे ऐसा भाव बना लीजिए कि गृहस्थीके बीच रहकर मिल जुल कर हमारा सब काम चल रहा है इतने पर भी जब वस्तु स्वातत्र्यका कथन होता है उस दृष्टिसे अपना ऐसा भाव बनायें कि मैं तो इन सबसे अत्यन्त निराला हू। कोई दूसरा पदार्थ मेरेसे रुष्ट हो अथवा तुष्ट हो उससे मेरा कुछ भला अथवा बुरा नही होनेका। हम ही स्वयं अपना कर्तव्य सही निभायें तो बहुतसे लोग प्रसन्न हो जायेगे। भला बतलाओ अभी तक संसारमे कोई ऐसा हुआ क्या कि जो सबको खुश कर सके। बडे बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण बलभद्र, केवली आदि महापुरुष हुए पर वे भी सबको खुश न कर सके। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। अनेक लोग गाली देते हैं, उनकी कही हुई बात भी अनेक लोगोको नही सुहाती। भला बताओ कौन सी ऐसी शक्ति है जो सबको खुश कर सके? यहाँ हम ऐसे शक्तिवान बनना चाहते हैं कि हम सबको प्रसन्न कर लेंगे। पर सभीको प्रसन्न कभी नही कर सकते।

तो जो अपना कल्याण कर सके ऐसा उचित काम करना चाहिए।

(२११) **परको संतुष्ट बनाने व बनाये रहनेकी हठका मूल देहव्यामोह**—देखिये स्कूलोमें छोटे-छोटे बच्चोको एक कथा पढाई जाती है कि कोई बाप बेटा किसी गांवको जा रहे थे। बाप तो बैठा हुआ था घोडेपर और बेटा पैदल चल रहा था। जब वे किसी गांवसे निकले तो कुछ लोग उनकी हँसी करने लगे। कहने लगे कि देखो यह बाप कैसा बेवकूफ है। अरे खुद तो चल रहा है घोडे पर और बेचारे लडके को पैदल चला रहा है। इस बातको सुनकर बापने बेटेको घोडेपर बिठा दिया और स्वय पैदल चलने लगा। आगे जब दूसरा गांव मिला तो वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो यह लडका कितना बेवकूफ है स्वय तो हट्टा कट्टा घोडेपर चल रहा है और बेचारे बूढे बापको पैदल चला रहा है। इस बातको सुनकर उन दोनोने सलाह की कि देखो लोग अपन लोगोका नाम धरते हैं, इसलिए चलो दोनो ही घोडेपर बैठकर चलें। जब वे दोनो घोडेपर बैठकर जा रहे थे तो रास्तेमे तीसरा गांव मिला, वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि मालूम होता है कि यह घोडा मांगेका है। तभी तो दोनोंके दोनो हट्टे कट्टे इस घोडेपर बैठे हैं। उनकी इस बातको सुनकर वे दोनो बहुत दुःखी हुए। सोचा कि अब क्या करना चाहिए? सलाह हुई कि अपन दोनो पैदल चलें। जब वे किसी चौथे गांवसे निकले तो वहां भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो ये दोनोके दोनो बेवकूफ हैं। अरे जब पैदल ही चलना था तो फिर साथमे घोडा लेकर चलनेकी क्या जरूरत थी? तो भाई यहां कोई किसीको खुश नही कर सकता। किसीको भी खुश करने का उद्यम न करो। खुश करो, सन्तुष्ट करो अपने आपको। जब आप सन्तुष्ट हो जायेंगे, प्रसन्न हो जायेंगे तो वे स्वतः ही प्रसन्न हो जायेंगे। जब खुद ही तृप्त नही, जब खुद ही सन्तुष्ट नही तो फिर दूसरोको हमसे क्या मिलेगा? तो भाई ऐसा जानकर अपने आपको प्रसन्न करनेका उद्यम बनाओ कि इस जीवनमे दृष्टि अपने आपके स्वरूपपर लगे तो उसके आधारमे रहने वाला वह अन्तः स्वरूप स्वयं ही प्रसन्न हो जायगा। यहां किसी भी परपदार्थमे दृष्टि लगानेसे कुछ न मिलेगा। तो ऐसा यह एक सर्वसिद्धियोको प्रदान करने वाला हम आपका स्वरूप है, स्वभाव है। जैसे कहते है ना कि "मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।" तो ऐसे अपने स्वरूपकी भावना बनायें और अधिकाधिक अपना ज्ञानाभ्यास अपने ज्ञानस्वभावको ज्ञानमें लेनेका अभ्यास अधिकाधिक बने तो यह ज्ञान सस्कार मरणके बाद भी साथ जायगा और जन्ममरण का सकट भी छूट जायगा। तभी हम ससारकी सारी विपत्तियोसे छूट सकेंगे।

(२१२) **शान्तिका कारण सहजात्मस्वरूपाभिमुखता**—अपने विषयमे एक यह

विचार करना बहुत आवश्यक है कि सुख शान्तिके लिए हम प्रारम्भसे लेकर अब तक सारे प्रयत्न करते चले आये, लेकिन शान्तिका लेश प्राप्त नही होता। आज भी पूर्ववत् ज्योके त्यो अशान्त है। जरा-जरासी घटनामें क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय उमड पडती है। जरा-जरासे मनके विचारोमे काम और मोहकी प्रगति होती रहती है और इधरमे अपवित्रता भी है और आकुलतायें भी चल रही हैं, तो इतना प्रयत्न कर लेनेके बाद भी जब हमे शान्ति न मिली तो कमसे कम यह निर्णय तो कर लेना चाहिए कि ये बातें शान्तिकी कारण नही हैं जिनको हम करते चले आये। शातिका कारण क्या है उसे सक्षेपमे कहा जाय तो इतना कह लीजिये कि जब मैं अपने आपके स्वरूपसे चिगकर किसी परमे लगाव करता हूँ तो अशान्ति होती है और परसे हटकर जब अपने आपके ज्ञानस्वभावकी ओर दृष्टि करता हूँ तो शान्ति होती है। अब रही एक यह बात कि भाई परसे दृष्टि हटा लें और अपने आपकी ओर आयें तो फिर घरका क्या होगा, परिजनोका क्या होगा? अरे होगा क्या? यह तो एक भ्रम है आपका। जैसे ससारके सब जीव पुण्य पापकर्मसे युक्त है इसी प्रकार घरमे रहने वाले सभी परिजन पुण्य पापसे सहित है। उनका सुख दुःख उनके पुण्य पापके उदयके अनुसार होता है। आप उसको करनेमे समर्थ नही हैं, और फिर जब तक गृहस्थावस्था है तब तक निर्विकल्प तो हो नही सकते। कर्तव्य तो निभाना पडेगा। आप शुद्धज्ञान कर लेंगे तो दूकानका, व्यापारका वही ठीक कर्तव्य निभाते हुए भी आप शान्त रहेगे, और एक सम्यग्ज्ञान न कर पाया, तो चाहे धर्मके नामपर कितने ही विधान जलूस, समारोह, व्रत, सयम, तप सब कुछ कर डालें, पर शान्ति और वास्तविक प्रसन्नता नही हो सकती है। ज्ञान होनेपर फिर आज धर्मके व्यवहारसाधनमे लगें तो भी आपको कई गुना प्रेरणा देगा और आत्मज्ञान बिना तो धर्मके व्यवहार काममे भी लगे तो भी वास्तविक शुद्ध मार्ग नही मिल पाता है। तो शान्तिका कारण है अपने आपकी ओर मुडना और यह बात बन सकेगी यथार्थ ज्ञानसे। सच्चा ज्ञान करें।

(२१३) **वस्तुतथ्यपरिचय और उसका आत्महितमे प्रयोग**—जगतमे जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं और जब अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं तो अपने ही आप वह प्रति समय उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है पर्यायरूपमे। सत् कभी नष्ट नही होता, किन्तु प्रत्येक पदार्थमे नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय विलीन होती है। ऐसा होना उसकी सत्ताके कारण हो जाता है। अब रही एक विकार वाली बात। तो विकार जरूर किसी निमित्तके सन्निधानमे होता है, मगर उत्पन्न होने और विलीन होनेकी कला कोई परपदार्थ नही दिया करता। प्रत्येक पदार्थमे अपने आप ही यह

कला है। तो जब यों प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है कोई पदार्थ किसीका कुछ लगता नही, क्यो नही लगता ? न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सम्बन्ध है और न किसी प्रकारसे भाव स्वभावका सम्बंध है। तो जब कोई पदार्थ मेरा कुछ नही लगता तो ऐसा ध्यानमे बनाये रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व ही हूँ। मेरा शरण तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अतस्तत्त्व ही हू। मेरा सार, मेरा वैभव सर्वस्व सब कुछ यह ही है। ऐसा ज्ञान आ जाय और अनुभवमे भी सही बात उतर जाय फिर कोई भी बाह्य पदार्थ, कोई भी बाह्य समागम हमारे सकटके कारण न बन सकेंगे। कारण तो कुछ भी नही हैं परपदार्थ संकटके, मगर कमजोरी है मेरे अन्दर कि मैं कल्पनायें करता हूं परपदार्थके बारेमे और इष्ट अनिष्टकी बुद्धि बनाता हूँ और उस बुद्धिके अनुसार स्वयं दुःखी रहता हूँ। तो इस दुःखको मेटनेके लिए आप कब समय देंगे ? जब वह अवसर पायेंगे। जब आपको एक श्रेष्ठ मन वाला मनुष्यभव मिला इस भवमे तो फिर क्यों नही अपने कल्याणकी बात सोचते ? क्यो यहांकी व्यर्थकी बातोके लिए अपनी कमर कसे हुए रात-दिन विकल्पोमे पडे रहते ? अरे बतलाओ अब कब ऐसा अवसर आयगा कि जब समस्त परसे हटकर अपने आत्मप्रकाशकी सुध लें और शान्त सुखी होवें। क्यो न मोक्षमार्गमे लगें और निकटकालमे यथाशीघ्र मुक्तिको प्राप्त कर सकें ? इसके लिए अवसर एक यह ही बढिया है, किन्तु एक बडा साहस बनाना होगा। सबसे बडा साहस तो यह करना होगा कि मेरा तो मैं ज्ञानमात्र हू। मेरा बाहरमे कही कुछ नही है। अगर बाह्य पदार्थमे ममता लगी है तो फिर उस ज्ञानमूर्ति भगवानके दर्शन न हो सकेंगे। गृहस्थीमे रहनेके नातेसे राग और द्वेष तो होते रहेगे, जब तक गृहस्थीमे है, आखिर कहां जावें ? घरमे रहते हैं तो वहा तो इष्ट अनिष्टके अनेक प्रसंग आयेंगे ही। ये सब कुछ होनेपर भी अगर अहंकार और ममकार न रहे तो फिर आपकी प्रसन्नतामे कोई बाधा न आयगी।

(२१४) **विकार परभावोसे उपेक्षा होनेपर अहंकार व ममकारका विनाश**—जीवको परेशान करने वाला तो अहंकार और ममकार है। उनका विनाश कैसे होगा ? सो बताते हैं इनका विनाश होगा आत्मज्ञानसे। मैं ज्ञानमूर्ति आनन्दघन स्वय परिपूर्ण अपनी सत्तासे स्वतःसिद्ध यह मैं सबसे निराला हू। मेरा सब कुछ भविष्य मेरे आपके परिणामपर निर्भर है। दूसरेपर निर्भर नही है, मैं परिणाम खोटा रखू, विकारमय बना रहू, दूसरोका बुरा विचारू, परिग्रहमे निरन्तर चित्त बनाये रहू, यह मेरा है, यह मेरा है इस तरहके भाव मे मैं विस्वस्थ रहू, आस्था बनाये रहू, तो ये सब खोटे परिणाम हैं। इनका फल अच्छा नही है, और मैं देहसे भी निराला हूँ, अन्य पदार्थकी तो बात ही क्या कहे, वे तो एकदम परक्षेत्रमे स्थित हैं। मैं देहसे भी न्यारा हूँ और इतना ही क्यो ? उस ही आत्मभूमिकामे

उत्पन्न होने वाले आज जो विभाव हो रहे हैं क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे भी मैं निराला हू। एक रहस्यकी बात और जानें कि कर्म जब उदयमे आते है तो उदयमें आने वाले कर्ममें भी कुछ विलक्षण दशा होती है। अन्यथा उदय नाम किसका ? जैसे कर्म अभी बँधे हुए है, वह विलक्षण स्थिति क्या है कि जिस उनकी है उससे विलक्षण स्थिति होती है उदयकालमे। उदयमे नही आ रहे है, जैसी स्थिति प्रकृतिका जो नाम रखा है वह उस नामके अनुरूप उसमे अपने आपमे स्फुटन होता है। स्फोट परिणमन होता है। जैसे कहते है कि जब क्रोधप्रकृतिका उदय आया तो उस कर्ममे भी क्रोधन अवस्था हुई, लेकिन वे जड हैं, वह क्रोधन अवस्था किस प्रकारकी है वह अनुभवसे रहित है, लेकिन उस क्रोधनदशायुक्त उस अनुभव वाले क्रोध का जब उदय होता है तो वह उपयोगमे तो आता ही है। चेतनामे यह इस चेतनसे और बढ़ जाता है उसी प्रकारका निमित्तनैमित्तिक सम्बध है कि इसके उपयोगमे क्रोध अवस्था होती है। तब ही लिखा है समयसारमे कि क्रोधमे उपयुक्त होनेको क्रोध कहते हैं। यह ही जीव क्रोध है, यह ही जीव कषाय है। जो विकार है वह उसरूप परिणम गया है, उस उपयोगमें वह ही वह समाया हुआ है, यह स्थिति है हम आपकी कि बाह्य पदार्थोंके समागमसे सुख मानते हैं। हम इतनी बडी विपत्तिसे तो भरे हुए है और आशा करते हैं सुख शान्तिकी तो कैसे सुख शान्ति प्राप्त हो ? शान्तिका मार्ग तो भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान करें, यह घर मेरा नहीं है। अरे यह तो मोटी बात है। सारी दुनिया चिल्लाती है, कहती है कि यह परिवार मेरा नही है, यह भी प्रकट दिख रहा है कि नही है और यह देह मेरा नही ऐसा भी बहुतसे लोग बोलते हैं। गांवके लोग, देहातोके लोग, छोटे-छोटे लोग भी किसीके मर जानेपर कहते हैं कि देखो मिट्टी पड़ी रह गई और हँसा उड गया। तो वे भी जानते है कि यह देह निराला है, जीव निराला है। इतनेसे भेदविज्ञानसे काम न सरेगा। कहाँ सरेगा कि ये क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार तरंग आदि इनसे भी मैं निराला हूं। अहो ऐसे निराले उस परमात्मस्वरूप भगवानके स्वरूपकी तरह हू। जरा निरालेकी दृष्टिसे कुछ भीतर अनुभव तो करो।

(२१५) कषाय और उपयोगमे भेदविज्ञानका प्रयोग——भेदविज्ञानका प्रयोग करना है कषाय और उपयोगमे। मैं उपयोगस्वरूप हू, कषायरूप नही। मैं इन्द्रियातीत हू। रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित हूँ, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानप्रकाश हूं। हाँ अब अपने आपकी ओर ध्यान दीजिए। मैं क्या हू, कोई समझने वाला, जानने वाला कोई एक पदार्थ हूँ, तो मेरा स्वरूप क्या है ? उस मे रंग तो हो नही सकता, क्योकि रग वाली चीज जान नही सकते। उसमे रंग गंध आदिक नही होते। तो वह तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र है। तो ऐसे उपयोग मात्र, ज्ञानप्रकाश मात्र इस मुझ आत्मामे क्रोध कहासे आया ? यह कर्मकी दशा है। और कर्ममे क्रोधन अवस्था है,

उसका प्रकाश किया मैंने और उसे अपनाया और मैं क्रोधी बन गया। यह क्रोध अपवित्र है। यह क्रोध दुखदायी है। लेकिन यह मै उपयोग स्वरूप ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वय आनन्द-मय हू। मेरमे कष्टका कोई काम नही है। जब ऐसी अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि होती है तब यह जीव स्वय तृप्त हो जाता है। शान्तिका उपाय यही है शान्तिका उपाय बाहरमे नही है। बाहरमे किस किस जातिकी क्या क्या व्यवस्था आप बना सकते हैं। किसीकी भी व्यवस्था नही बना सकते। सब व्यवस्था-बनती है अपने आप सबके पुण्योदयसे और व्यवस्था बनाने चलें तो क्या व्यवस्था बना सकते है? जैसे कोई जिन्दा मेढक तौलना चाहे कि चलो हम एक किलो जिन्दा मेढक तौलेंगे तो क्या कोई तौल सकेगा? नही तौल सकता, क्योकि अगर उसमे कुछ मेढक रखे जायेंगे तो उससे कुछ मेढक उछल जायेंगे उसका सही तौल आप न कर सकेंगे, इसी तरह बाह्य पदार्थोंकी व्यवस्था बनाकर आप समझें कि मैं ऐसा करता हू तो यह भ्रम है। जो परिस्थिति है आज उस ही परिस्थितिमे अपनी शान्ति की व्यवस्था बनायें और अधिक मत सोचें कि मैं इतना इतना कर डालू, ऐसी परिस्थिति बना डालूं तो मैं फिर शान्तिमे आ जाऊंगा, यह बात असम्भव है। और हो जाय मानो वैसी व्यवस्था और समागम तो भी शान्ति असम्भव है। तृष्णा बढेगी, विकल्प बढेंगे। शान्त न हो सकेंगे अपने आपमे।

(२१६) **आजीविकादिचेष्टायें करके भी ज्ञानीका परमलक्ष्य परमब्रह्म**—भैया! गृहस्थोका भी कर्तव्य यह है कि अप्रयोजक बाहरी पदार्थोंकी चिन्तायें छोडें। कामके, व्यापार के और वैभवके छोडनेकी बात सर्वथा नही कह रहे। आप कर्तव्य निभाते हैं निभाइये। यह समझ लो कि ४-६-८ घन्टेका हमारा इस तरहका कर्तव्य है। जैसी व्यवस्था सोच रखा हो उस तरहका कर्तव्य निभावो। पुण्योदयसे जो आना हो आये, उसकी चिन्ता न करें। साहस यह बनायें कि पुण्योदयसे जो कुछ आता है बस उसीमे अपनी व्यवस्था बनाकर हम रहेंगे। जो आमदनी हुई, मानो हजार रुपयेकी आमदनी है तो इसीमे व्यवस्था बनायें। इतना परिवारके पालन पोषणके लिए, इतना इतना धर्मके लिए, इतना ऊपरी खर्चके लिए, इतना बचतके लिए, इस ढगकी व्यवस्था बना लें। बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता छोड दें। बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता करनेके लिए यह जीवन नही है, किन्तु अपने आपके स्वभावकी परख कर, अपने आपके स्वभावमे मग्न होकर प्रभुवत् आनन्दस्वरूपका लेशमात्र भी जो अनुभव हो सकना हो उस अनुभवके लिए यह जीवन है। यह जीवन बाह्य पदार्थोंके समागमके लिए नही है। होगा क्या? अनेक हैं ऐसे लोग कि जितना जितना वे बढते हैं बाह्यपदार्थोंमे उतना उतना ही वे उनसे हाथ धो बैठते है, कुछसे कुछ ऐसी बुद्धि आ जाती है कि बना बनाया

सारा काम खतम हो जाता है। आपका अधिकार क्या ? आप कर्तव्य निभायें, चिन्ता छोड़ें, और अधिकसे अधिक आत्मतत्त्वका विचार करें। मैं कौन हूं ? मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। मैं ज्ञानस्वरूप अमूर्त आकाशवत् निर्लेप हूं, किन्तु ज्ञानमूर्ति इस आत्मतत्त्व मे कौनसा कष्ट है ? कौन सी विपत्ति है ? आप तो विपत्ति इसीमे मान लेते हैं कि जो अपने परिवारके लोगोंके लिए आप इच्छोनुसार बात नही निभा पाते हैं। अरे और भी तो अनन्ते जीव पडे हैं। उनके कारण तो आप अपनेको दु.खी नही मानते और घरके उन दो चार प्राणियोंके लिए आप दु.खी हो रहे हैं। तो इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि आपने घरके लोगोंको भी उतना ही भिन्न नही समझा जितने कि अन्य, अनन्ते जीव भिन्न हैं। यहाँ आपको गृहस्थधर्मका कर्तव्य निभानेको मना नही किया जा रहा, किन्तु व्यापारके कार्य व षट्आवश्यक कार्य करते हुए भी आप अपने ज्ञानकेन्द्रसे मत हटें। श्रद्धानमें कमजोरी मत लावें। अपना श्रद्धान इतना दृढ़ होना चाहिये कि मैं वज्रघातसे भी डरनें वाला नही हू। किसी भी सक्टसे मेरा विनाश नही। क्या होंगे जगतमे संकट ? टोटा पड गया। अरे उससे इस मेरे ज्ञानमात्र आत्माका कोई घात होता है क्या ? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक। वे तो बाहरी बातें हैं।

(२१७) **मोह व कामकी विडम्बनायें**—अहो, मोहमें कैसा आत्माको मथा जा रहा है कि इसे निरन्तर दुःखी किए जा रहे है। घर मिट गया अथवा कुछ गिर गया तो उससे इस ज्ञानमूर्ति अमूर्त आत्मामे कुछ कमी हुई क्या ? अच्छा, मित्रजन विपरीत हुए, घरके लोग आज्ञा नही मानते। अरे भाई ठीक है, अगर घरके लोग तुम्हारा कहना नही मानते तो उनका विकल्प छोड दो। अपने आत्माका घात मत करो। सब जीव अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार सुख दुःख पाते हैं, उनपर मेरा कुछ अधिकार नही है। वे सुखी अथवा दुःखी होते हैं अपने भावोसे। मैं किसीका सुधार बिगाड नही कर सकता, किसीको सुखी दु खी नही कर सकता, मैं तो केवल अपने भाव भर कर सकता हूं, अपने भावोपर ही मेरा अधिकार है, अन्य किसीपर मेरा अधिकार नही। हम सुखी दु.खी होते है अपनी कल्पनासे। देखो पहिला दुःख मोहका है। पर पर है मैं उससे निराला हू। कोई सम्बन्ध है नही, कोई गुंजाइश है नही कि वह मेरा बन सके। त्रिकाल नही बन सकता। कोई परपदार्थ है, उसके लिए कल्पना उठायें कि यह मेरा है, बस दुःखी हो गए। जब उस परपदार्थको मान लिया कि यह मेरा है तो उसका परिणमन आप अपने मनके अनुकूल चाहेगे, पर वैसी बात न होनेपर आप दु खी तो होंगे ही। अब देखिये कामभावकी बात। देखो शरीरमे अगर फोडा फुसी हो, बुखार हो, सिरदर्द हो तो चलो वह तो वेदना हुई, मगर कामकी बात तो सोचो—उसमे क्या शारीरिक

वेदना है ? उसे तो लोग मनोज कहते है । मनमे विकल्प उठे बुरा विचार आया कि उससे कामभाव पैदा होता है । उस कामविषयक इच्छाके उत्पन्न होते ही इसको बेचैनी हो जाती है और यहाँ तक बेचैनी हो जाती है कि बहुतसे लोग खाना-पीना तक छोड देते हैं, पागल से हो जाते हैं । पुराणोमे सुना होगा—सीताका भाई भामण्डल सीताके चित्रको देखकर कितना बेचैन हो गया था, खाना-पीना तक छोड दिया था । और भी इसकी बहुत बडी घटना है, उसे यहाँ नही कहना है, मगर तत्काल तो देखिये उस भामण्डलका परिणाम कितना बुरा हो गया । अब बतलावो यह काम है क्या चीज ? केवल एक मनका भाव है । विकल्प उठाया, विचार बनाया कि लो दुःखी हो गए ।

(२१८) **कषायोंसे आत्मप्रभुका विघात**—क्रोध-भावको भी देखिये—क्रोधमे जीवकी बुद्धि मारी जाती है । तो उस क्रोधमे यह जीव क्या हित पायगा ? अरे क्रोध करके तो वह अपने आपको जलाता है, उसकी बुद्धि ठिकाने नही रहती, इसीलिए यह दुःखी होता है । घमंड मे कोई सुख पा सकेगा क्या ? उस घमडीके सामने तो उसे कोई कुछ नही कहता पर पीछे कहते हैं कि यह तो बडा घमडी है । यह तो अपनेको बडा बादशाह सा मानता है । तो कोई लोग उसकी प्रशसा नही मानते । तो मान कषाय यह भी दु खका ही कारण है । मायाचार छलकपट करना, अहो यह तो बहुत बुरी कषाय है, इसमे धर्मका प्रकाश नही हो सकता । जैसे कोई कांचकी मोटी गुरिया हो, जिनसे माला बनाया जाता है, तो उस कांचकी गुरियामे अगर छेद टेढा हो गया हो तो उसमे सूत नही पिरोया जा सकता है । इसी तरह जिसका मन छल कपटसे दूषित हो गया है उसके हृदयमे धर्मकी बातका प्रवेश नही हो सकता है । देखिये—यह ससार असार है । यहाँ कोई भी वस्तु मेरी नही । किसीसे मेरा हित नही है । किस वस्तुके लिए मायाचारीकी जा रही है ? अरे सरल रहोगे तो निरन्तर प्रसन्न रहोगे, और मायाचारीसे रहोगे तो निरंतर बेचैन रहोगे, और मायाचारीसे कोई लाभ नही । हाँ बताया है दर्शनमे जैसे कि मैं चाहे दरिद्र रहूँ, चाहे किसीका सेवक रहूँ, लेकिन जिनशासनमे मेरा हृदय बना रहे । जिनशासनसे रहित होकर मैं चक्रवर्तीकी सपदा भी नही चाहता । भाई शाति ही तो चाहिए । अगर शान्ति मिल जाती है स्वय बडे सस्ते और सहज आराममे तो उसे क्यो नही चाहते ? देखो शान्ति मिलती है सहजरूपसे । विकल्पोसे, सक्लेश करके, अपने आपको दु खी करके तो यह जीव अशान्ति पाता है । अशान्तिके लिए परिश्रम करना पडता है और शान्तिके लिए परिश्रम नही करना पडता । तो जो बिना परिश्रमके मिलने-वाली चीज है उस ओर तो इस जीवका मोड नही है, और जो बडा परिश्रम करके, कष्ट करके मिलता है उसके लिए जी (मन) ललचाता है । ये श्रम उल्टा क्यो चल रहे हैं कि मिथ्यात्व बसा है, भ्रम बसा है

उसके कारण ये उल्टे श्रम चल रहे है। उस भ्रमको दूर करें। भ्रमको दूर करनेका अर्थ है कि यह अपने आपमे अपने आपको ऐसा अनुभव करे कि मैं समस्त परभावोसे न्यारा एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। यह न सोचें कि मेरेको बहुतसे लोग जानने वाले है, मेरेको कोई नही जान रहा है। मैं हूं एक ज्ञानस्वरूप। उस ज्ञानस्वरूप चेतन तत्त्वको कौन जानता है ? जो लोग कुछ जान रहे है वे इस आकारको, इस देहकी मुद्राको, इस शक्ल-सूरतको। निश्चयतः इसको भी नही जानते, किन्तु इसको विषय बनाकर वे अपने ज्ञानको जान रहे है। खैर व्यवहारभाषामें ही जान लिया, जानते है, किसको जानते हैं इस देहको, इस आकारको, इस मुद्राको अथवा अनुमानतः इन विकारी पुरुषोको, लेकिन मैं जो एक ज्ञानमूर्ति अन्तस्तत्त्व हू सहज ज्ञायक स्वभाव, उसको जानने वाला यहाँ कोई नहीं है। यह निर्णय अगर बसा होगा तो उस रागद्वेषादिक करनेके लिए जो एक परिचय कारण बनता है वह कारण न रहेगा। मेरेको कोई जानता ही नही। मैं किसका संकोच करूँ ?

(२१६) **आत्मस्वरूपसे चिगकर परकी ओर उपयोगके लगावसें कष्टपात**—यह अपना उपयोग अपने आपकी ओर अपने सहजस्वरूपकी ओर उन्मुख हो तब तो शान्ति है और जब अपने आपसे चिगकर बाह्य पदार्थोंकी ओर अभिमुख हुआ वहाँ लगाव लगाया तब अशान्ति है। इस आधार पर आप देख लीजिए कि दुनियामें क्लेशका कारण केवल एक है। लोग कहते तो हैं बहुत। मेरे धन नही, मेरे घर नहीं, परिवार नही, आज्ञाकारी पुत्र नही, बहुत-बहुत बखान डालते हैं, लेकिन कारण केवल एक है—क्या ? अपने स्वरूपसे चिगकर परकी ओर लगाव है, बाह्यकी ओर लगाव है, परको निज माना है। परसम्बन्धमे विकल्प मच रहा है, बस यह एक ही तो कारण है, अब उस विकल्पके आश्रयभूत पदार्थ नाना हैं, उनको लेकर लोग नाना विषय बताया करते हैं। आपत्ति एक है, तो निरापद होनेकी पद्धति भी एक है। परसे हटकर अपने आपकी ओर आना, इसके लिए निष्कर्ष रूप बात यह है कि अपनेको ज्ञानानन्दमात्र निरखना, अनुभवना यह पद्धति है शान्तिकी। मैं ज्ञानानन्द मात्र हूं और हर समय भी मैं केवल अपने ज्ञानका अनुभव करता हूं। चाहे विकल्प रूप भी अनुभव किया जा रहा हो तब भी अपना उपयोग ही कर रहा हूं और जब अपने शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर निरख रहा हू तब भी मैं ज्ञानको ही तो निरख रहा हू। तो अशुद्धोपयोगरूप अपनेको देखनेसे उस प्रकारका प्रवर्तन व्यवहार होता और कष्टका कारण बनता है। तो अपनेको शुद्ध सहज स्वरूपमे निरखना चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमे किसी भी अन्य वस्तुका प्रवेश नही। भले ही इस समय कर्म बँधे हैं, एक क्षेत्रावगाह है, निमित्त-नैमित्तिक सम्बध है। सब कुछ होनेपर भी जब अपने सत्त्वको देखा—मैं अपने आपमे अपने

सत्वकी ओरसे क्या हूँ, इस तरह अपना सत्व देखा तबतो सहजस्वरूपमे अपना अनुभव होगा, ज्ञान होगा। इस ज्ञानानुभूतिकी ओर दृष्टि होनी चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। अहो! जब बाहर निरखते हैं तो कितना कष्ट हो जाता है, कितना क्षोभ मचता है।

(२२०) अन्तः प्रकाशमान सहजात्म स्वरूपकी शरण्यता—जहाँ क्षोभ हो, कष्ट हो, आकुलता हो, वहाँ क्यो जाना? अपना उपयोग है, अपनी बात है। अपनी समझ है। अपना शरण अपने पास है, उस ओर दृष्टि रहे, उस ओर अपना ज्ञान चले तो कितनी शाति मिलती है सारी अशान्ति तो इस अहंकार और ममकारके कारण बनी हुई है। गृहस्थावस्थामे भी बाह्यके सारे काम करते जानेपर भी यदि श्रद्धा निर्मल है और अपने आपका ही पता है कि मैं तो अनुभव मात्र हूं, ज्ञानमात्र हू, उपयोगमात्र हू, कुछ हू ही नही, यदि ऐसी श्रद्धा, ऐसा निरखना बना रहे तो अनेक कामोके बीच रहते हुए भी वह अशान्त न रह सकेगा। भले ही हम कष्ट ऊपरसे मान रहे, पर भीतरमे प्रसन्नता है। अज्ञानी जन ऊपरसे भी दु.खी हैं और भीतर से भी। तो ऐसी ज्ञानानुभूति पानेके लिए हमारा कर्तव्य क्या है? तो उसे तीन भागोमे बांट लीजिए—सत्याग्रह, असहयोग और प्रभुभक्ति। एक अदरमे ही तो काम करना है। बाह्यकी क्रिया तो एक उपयोग जब तितर-बितर होता है तो उसे केन्द्रित करनेके लिए बाह्य क्रियायें की जाती हैं। जैसे भगवानकी पूजा करनेके लिए अष्ट द्रव्य चढाते हैं, थालसामग्री सजाते हैं। थालसामग्री आदिक ये स्वय पूजा नही हैं, लेकिन प्रभुपूजामें हमारा मन लगे, कुछ आलम्बन है, वस्तुत' तो निजका भाव है। इस प्रकारके मोक्षमार्गमे साधक तो वास्तवमे यह स्वयं आत्मा है। और इसीलिए बताया गया कि यह आत्मा जिस तरह साध्य बने, जिस प्रकार साधन बने उस प्रकारसे इस आत्माकी उपासना करना चाहिए। तो भीतरमे ही कुछ प्रयोग किया जाना है।

(२२१) प्रभुभक्तिका आत्मप्रयोग—आत्मप्रयोगको आप तीन भागोमे विभक्त कर लो—सत्याग्रह, असहयोग व प्रभुभक्ति। लो इन तीनोमे पहिले कौन किया जाय? बादमे कौन किया जाय, ऐसा कुछ निर्णय नही है। सभी साथ हैं मुख्यतासे कुछ भी पहिले हो। साधन तो ये तीन हैं—जैसे प्रभुभक्ति लीजिये—प्रभुकी भक्ति। प्रभु क्या? जो प्रकर्षरूपसे होना हो सो प्रभु। आत्माका जो स्वरूप है वह यथार्थ पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो गया है। ऐसा जो आत्मा है वह प्रभु है याने ज्ञान और आनन्द जहाँ अनन्त प्रकट हो गया, रागद्वेषादिकका मैल जहाँ रच भी नहीं रहा है, जो पहिले ऐसी अवस्था होती है उसका नाम है सशरीर परमात्मा। कुछ स्तवन करनेके लिए, मनन करनेके लिए आकाशमे एक समवशरण विचारिये। बहुत बडा भारी शोभा वाला मण्डप, जिसे देव लोग तैयार करते हैं, वैसा मण्डप

मानव तैयार करनेमे समर्थ नही, ऐसे शोभा वाले मंडपके अन्दर विराजमान सशरीर परमात्माका मुख चारों ओर दिखाई देता है। अहो, कैसी उनकी वीतरागताकी महिमा कि तीनों लोकोसे इन्द्र भागे चले आ रहे हैं। समवशरणमे पहुंच रहे हैं, इसीलिए तो उन्हे त्रिलोकाधिपति कहते हैं। जहां तीनो लोकोके इन्द्र पहुंच गए, नतमस्तक हो गए वहाँ तीनों लोकोके जीव ही नतमस्तक हो गए। क्या कारण है ? उन देवोको किस बातकी कमी थी ? अरे वे तो स्वयं ही एक बडी दिव्यलक्ष्मीका उपभोग करते हैं। उनको क्या कष्ट आया कि वे अपना स्थान छोड़कर यहां समवशरणमे आ रहे हैं, अपना उपयोग यहाँ लगा रहे है। अरे कष्ट नही था बल्कि हर्ष उमड रहा है। क्यों हर्ष उमड रहा ? क्या उन्हे कोई स्वर्ण मिल रहा है ? क्या उनको कोई वैभव प्राप्त हो रहा है ? अरे ये कोई कारण नही हैं, वह कारण है वीतरागताका अतुल प्रभाव। सभीके सभी विवेकी संज्ञी पुरुष आकर्षित हो रहे हैं। और साधारणतया आकर्षण नही है। वे गान तान नृत्य बडी विभूतिके साथ समवशरणमे आ रहे हैं। लेकिन देवोकी बात कह रहे हो, यह तो मान लिया जायगा, क्योकि उनका मन श्रेष्ठ है, मगर इन पशु पक्षी मेढकोको क्या हो गया, वे भी दनादन समवशरणमे भगते चले आ रहे है। हां वे भी संज्ञी है, उनपर भी प्रभाव पडता है। वे भी भव्य जीव हैं, और मनुष्योका तो तांता ही लग गया है। और देखो नीचे पाताल लोकसे निकलकर भवन व्यन्तरोके इन्द्र भी आ रहे हैं। तो वीतरागताकी यह सब महिमा है। यह बाहरी रूप है, लेकिन क्या है वहाँ वैभव ? वह वैभव है जो मेरे स्वभावमें है, मेरे स्वरूपमे है। जाति एक है, चेतन है। भले ही कोई गेहूँ घुन गए, कोई यहां पडे, कुछ वहाँ पडे, फिर भी उनकी जाति जैसे एक है इसी तरहसे चेतन जाति एक है और इसी कारण उस प्रकर्षताको प्राप्त चेतन महाप्रभुका स्मरण करके भव्य जीवोको अपने स्वरूपकी सुध होती है। स्वरूपका जहाँ स्पर्श होता है वहां अतुल आनन्द प्रकट होता है। ऐसा आनन्द जहाँ बँट रहा है, बँट नही रहा, कोई बांट नही रहा, किन्तु लोग स्वय आनन्द पाते हैं, तो ऐसा आनन्द जहाँ प्राप्त हो वहाँ क्यो न सभी प्राणी पहुंचेंगे। क्या है वह प्रभुका स्वरूप ? एक शुद्ध ज्ञानमात्र। केवल ज्ञानका क्या अर्थ है ? केवल सिर्फ परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह गया है, यह महिमा अवश्य है कि परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह जाय तो वह सर्वज्ञ है, लेकिन केवलज्ञानका अर्थ क्या है ? वह ज्ञान ही ज्ञान रहा। अच्छा—और क्या न रहा ? जो कुछ चीज ज्ञानके साथ और चिपट रहे थे रागद्वेष, मोह, विचार, विकल्प, तरग आदिक वे सब कुछ न रहे, ऐसा विशुद्ध ज्ञान हो गया, वही ज्ञान तो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है। स्वभावकी सुध होती है। जिस स्वभावमे हमे लीन होना है उस स्वभावकी सुध प्रभुभक्तिके प्रतापसे बन रही है, इसीलिए प्रभुभक्ति एक हमारा साधन है।

(२२२) असहयोगका आत्मप्रयोग—दूसरा साधन है असहयोग–बाह्य पदार्थोंका सहयोग न रहना, मना करते जाना। जो आजादीका इच्छुक है वह पुरुष दूसरे बाह्य पदार्थोंका सहयोग नही लेता। जैसे जब कभी देशमें विदेशियोने एक क्रान्ति सी मचा रखी थी तो उन विदेशियोंके विरुद्ध सत्याग्रह और असहयोगका नारा लगाया गया था। याने एक सच्चा आग्रह बना लो कि मुझे इन पर तत्त्वोको (विदेशियोको) सहयोग नही देना है। जिन पर तत्त्वोका सहयोग देनेसे हम दुःखी रहा करते है। तो ऐसी ही बात यहाँ है। इन पर तत्त्वोको सहयोग देनेसे हम दु.खी रहा करते है। तो ऐसी ही बात यहाँ है। इन परतत्त्वोको सहयोग न दो जिनके कारण हम आप दुःखी हैं। तो वे परतत्त्व क्या हैं ? वे परतत्त्व हैं ये विषयकषाय आदिकके खोटे परिणाम। इन परतत्त्वोको उत्पन्न न होने दें। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू। मेरेमे क्या ? मेरे साथ मेरे स्वभावके खिलाफ यदि कुछ बात जगती है तो नियमसे उसमे कोई कर्म उपाधि कारण है। यह एक युक्ति है। तो वह द्रव्यकर्म जब उदयमे आता है तो वह भी अपना अनुभाग प्रकट करता है, उनमे भी खलबली मचती है। वे भी किसी विलक्षण विस्फुटन दशाको प्राप्त होते हैं। चूंकि वे बन्धनमे हैं, इसलिए वे कर्म जब उदयमे आते हैं तो जिस जिस प्रकारसे विपाक होता है उस उस प्रकारसे यहाँ उपयोग चलता है और उस समय हम दुःखी हो जाते हैं। तो बन्धनका कारण क्या रहा ? बाह्य वस्तुओका सहयोग। उनका सहयोग मिटा लीजिये, असहयोग कर लीजिये तो अपने आपको शान्तिका मार्ग मिलेगा। अब जरा अपनी अपनी जिन्दगीपर विचार तो करें। ये बाह्य पदार्थ भिन्न क्षेत्रमे रहने वाले हैं, इनसे मेरा कोई सम्बध नही, ये त्रिकाल भी मेरे नही हो सकते। ये प्रकट भिन्न जड पदार्थ, ढले, स्कंध कितना चित्तमे बस रहे हैं। भीतर चित्तमे इसका निश्चय हो रहा है क्या ? न हो रहा हो तो वह तो विजयी पुरुष है, मगर इन परपदार्थोंके प्रति निरन्तर ध्यान रहता हो यह ठीक है। मैं बडा सम्पन्न हू, मैं बडा सुखी हूँ, उसका ध्यान बनता हो तो समझिये कि यह कितना पापका काम किया जा रहा है। हम अपने ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मस्वभावसे खिगकर व्यर्थकी ओर बेकार, असार, अत्यन्त भिन्न जड पदार्थोंमे चित्त लगा रहे हैं, जडकी पूजा कर रहे हैं, तो जीवन बहुत गुजर गया, लेकिन रहा सहा जीवन अब इस तरह न गुजारें। रहा सहा जीवन ज्ञानप्रकाशकी उपासनामे गुजरे ऐसी अपनी कोशिश होनी चाहिए। तो उस ज्ञानानन्दको प्राप्त करनेके प्रयत्नमे करिये असहयोगका प्रयोग। ये विषयकषाय, ये कर्मविपाक ये मेरे स्वरूप नही है। जैसे स्फटिक मणि तो स्वच्छ होता है और वह अपनी ओरसे निरन्तर स्वच्छतारूप परिणमता रहता है ऐसा उसका स्वभाव है। लेकिन जब लाल, पाला, नीला आदिक कागज अथवा कपडा उसके सामने कर दिया जाता है तो वह मणि या

दर्पण उस रूप परिणम जाता है। तो देखिये वह दर्पण उसरूप परिणमा तो अपनी ओरसे, किन्तु उपाधिके सन्निधानसे परिणमा। और देखो उपाधि सन्निधानमे तो यह उपाधि नही परिणमा, वह स्फटिक पदार्थ ही परिणमा, इससे आप देख लीजिये। अपना अज्ञान दूर कीजिए। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे साथ उपाधिका खेल है। इस तरह मैं जानूं और इससे विविक्त होऊँ। इससे असहयोग करना होगा।

(२२३) **बाहरी पदार्थोंसे असहयोग प्रारंभ कर आन्तरिक तरङ्ग तकसे असहयोग करनेका अनुष्ठान**—जरा बाहरसे प्रारभ कर अन्दर तक असहयोग बनाइये। ये घर धन वैभव आदिक मेरे क्या हो सकते है? इनको देखकर मैं क्या खुश होऊँ? बढिया महल है तो उसमे क्या चित्त लगाना, वह तो जड पदार्थ है, परिजन मित्रजन वगैरहमे भी क्या चित्त लगाना, वे भी भिन्न चीजें है। देखो जिनकी दृष्टि विशुद्ध होगी वे अपने घरमे रहने वाले लोगोका भी उतना ही महत्त्व देते हैं जितना कि जगतके अन्य जीवोका। वे सब मेरेसे बिल्कुल भिन्न है। उनका द्रव्य, उनके प्रदेश, उनका परिणमन, उनका स्वभाव सब कुछ मेरेसे अत्यत भिन्न है। यह कोई रजिस्टर्ड बात नही है कि वे आपके ही हैं और आपके ही बनकर रहेगे। अरे यो ही अटपट चलते-फिरते घूमते एक जगह आ आकर इकट्ठे हो गए, अब उनमे ये मोही प्राणी मोह करते हैं। उनके लिए ही अपना सारा तन, मन, धन, वचन न्योछावर करनेके लिए तत्पर रहा करते हैं। उन घरके दो चार जीवोको छोडकर बाकी सब अनन्ते जीवोके प्रति रंच भी दया नही उत्पन्न होती। अरे यह मोहकी कैसी विचित्र लीला है। समस्त जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न है। भले ही आज बँधे है, इसमे रह रहे हैं, लेकिन देह निराला है, मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा निराला हू। देह मैं नही हू। कोई स्कध रूप, ढेला पत्थर आदिक रूप मैं नही। ये जो छुटपुट जानकारियाँ होती हैं। उनरूप भी मैं नही। मै तो एक अमूर्त ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ हू। मै ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हू, और अपने उपयोगमे ऐसा निरख लीजिए कि जो ज्ञान है, ज्ञानप्रकाश है ज्ञान ज्ञानको ही लीजिए, द्रव्यको ध्यानमे न रखें, गुणको ध्यानमे न रखें। केवल एक भावको ध्यानमे रखें—ज्ञानमात्र, अहो वह ज्ञान-स्वरूप जब ज्ञानमे आता है तब यह कोई भार नही रहता। कोई एक अलौकिक ही दशा उत्पन्न हो जाती है। उस ज्ञानके अनुभव करनेके लिए असहयोगका प्रयास कीजिए—देह मैं नहीं, कर्म मैं नही, कर्मकी दशा मैं नही और कर्मकी दशाका जो उपयोग करता हो और उस उपयोगमे जो नाना अवस्थाये बन जाती हैं वे भी मैं नही हू। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हू। जैसे कोई हरा बल्ब लगा है, रोशनी पड रही है, नीचे हरी रोशनी है, तो क्या वहाँ लोग यह विवेक नहीं रखते कि रोशनी हरी नही होती। रोशनी तो प्रकाशमात्र है, हरी तो उपाधि

है। देखो यद्यपि वहाँ हरेपनका और प्रकाशका भेद करना कठिन है। कैसे समझें कि प्रकाश यह कहलाता और हरा यह है, लेकिन युक्ति, अनुभूति वनलाती है कि प्रकाश तो प्रकाशन-मात्र है, और हरा एक उपाधिके सम्बधमे एक रग है। जब इस प्रकारसे यहाँ एक मम्मिलन हो रहा है याने ज्ञानका काम प्रतिभासन, जानन और उसमे लगा है रागद्वेपका परिणाम। तो वे दोनो एक रूपसे स्वादे जा रहे हैं कौन स्वादता है ? अज्ञानी। जैसे ज्ञानी पुरुष हरेपनका और प्रकाशका अलग-अलग विवेक कर सकता है इसी प्रकार वह एक समयमे रागद्वेपादिक होते हुए भी जानन तो यह कहलाता है और रागद्वेषका यह स्वरूप है, रागद्वेप कर्मविपाक है, जानन मेरे आत्माका स्वभाव है, इस तरहमे भेद कर रहा है। तो इस भेदसे बढकर जो तत्त्व हुआ, जो विपय कषाय इच्छा आदिक तरगें हुई उनसे असहयोग कर लीजिए इनके अनुरागसे मेरा जन्म मरण चलता रहेगा। तुम हट जावो, ऐसी एक हठ कर लीजिए कि मैं एक ज्ञान चैतन्यज्योतिस्वरूप हू।

(२२४) **सत्याग्रहका आत्मप्रयोग**—तीसरा उपाय है सत्याग्रह। सत्यका आग्रह करो। जो मेरे सत्मे अपने आपके सत्त्वके कारण होता हो, हो सकता हो, उसे सत्य कहते हैं। बस तन्मात्र मैं हू। ऐसा आग्रह करना इसे कहते है सत्याग्रह, देखिये इनसे हट जानेमे कितना क्लेश है ? जहाँ माना कि मै फलाने चन्द हू, फलाने लाल हू। अमुक प्रसाद हू, व्यापारी हू, सर्विस वाला हू, अमुकका पिता हू, अमुक कुलका हू। काला हू, गोरा हू आदिक कुछ भी इस प्रकारका भाव बनता है। तो इन ही मान्यताओके कारण इस जीवके ऊपर नाना सकट छाये हैं। यदि इन समस्त सकटोसे मुक्त होना चाहते हो, वास्तविक आनन्दकी स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो अपनेको ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञाताद्रष्टा रहनेमे ही मेरा वास्तविक आनन्द है, अपने आपको विशुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करें। देखिये अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें तो यह अपनी बात है और अपनेको मनुष्यादिक रूपमे अनुभव करें तो यह भी अपने मनकी बात है ? लेकिन अपनेको मनुष्यरूप (देहरूप) मान लिया तब उसका फल कितना विकट लग बैठा कि ससारकी ८४ लाख योनियोमे जन्ममरण करना, सकट सहना यह सब चल पडा ? कोई कहे कि साहब हम तो अपने घरमे रहते है, किसीको सताते नही है, अपने कामसे काम रखते है, हमने कोई बडा कसूर तो नही कर दिया, हाँ सिर्फ इतनी भर बात मान लिया कि मैं अमुकका पिता हू, अमुक व्यापारी हू, ऐसा पर्यायरूप अपनेको मान लिया, और तो मैने कोई अपराध नही किया, तो इसमे इतना बडा दण्ड क्यो मिल गया कि कीडा मकोडा, पशुपक्षी, पेड पौधा आदिक नाना योनियोमे जन्ममरण करना पडा ? तो भाई देखनेमे लगता है कि यह तो मामूली अपराध है, पर इसे

मामूली न समझो। अरे इस देहको ही मान बैठे कि यह मैं हू तो यह तो एक सबसे बडा अपराध हो गया। इस शरीरके अन्दर विद्यमान आत्मतत्त्वका अनुभव न किया, अपने आपके ज्ञानस्वरूपको न निरखा बस इस पर्यायमे ही दृष्टि रखी तो यह तो एक विकट अपराध कर डाला। बताओ इस विकट अपराधका फल कौन भोगने आयगा ? लोग तो दूसरे धनिकों को देखकर अपना यह लक्ष्य बना लेते है कि मुझे भी ऐसा ही लखपति बनना है, करोडपति बनना है पर उनका यह लक्ष्य सही लक्ष्य नही है। अरे इस लक्ष्यको रखकर तो इस जीवकी बरबादी ही है। अपना लक्ष्य यह रखें कि मुझे तो शुद्ध ज्ञानमात्रका अनुभव करना है। यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। अब इसके लिए अनेक उपलक्ष्य करने होते हैं सो उन्हे भी करें, पर लक्ष्य अपना यही रहे। इसके लिए चाहे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करने पडें पर सब कुछ न्योछावर करनेको तैयार रहे। जिस चाहे विधिसे हो, अपनेको शुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करनेका ही उद्यम करें। एतदर्थ अपने आपमे अन्तः प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मत्वके अनुभवनेका सत्य आग्रह बनायें।

(२२५) **वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध कल्पनाओसे ससारसकटोंका प्रसार**—हम आप सब यही अनुभव करते है कि सुख शान्तिके लिए अथक प्रयत्न करने पर भी सुख शान्ति नही पा सके है। इसके कारणपर कुछ थोडा विचार करना होगा। सुख शान्ति किस उपायसे प्राप्त होती है और हम कौन सा उपाय बना रहे हैं ? जरा अपने आपपर अपने आत्माकी दया करके सुनो—ससारमे जितने भी पदार्थ है वे सब पदार्थ अपना जुदा जुदा सत्त्व लिए है। सबका परिणमन उनका अपने-अपने उपादानसे होता है। कोई किसीका कुछ करने वाला नही, भोगने वाला नही। तब करने और भोगनेका किसीका किसीके साथ सम्बध नही। फिर यह मानना कि यह मेरा है। मैं इसका मालिक हू, इसको मैं करता हू। इसको मैं भोगता हू तो यह बात भ्रमकी है कि नही ? तो समझ लीजिए कि जहाँ भ्रम लगा हो वहाँ आप कितने ही काम करें, बल्कि जितने काम करेंगे, उलझते चले जायेंगे। शान्ति प्राप्त नही हो सकती। शान्तिका मार्ग भगवानने यह कही बताया ही नही है कि धनसे मिलेगी या परिजनसे मिलेगी या अन्य विषयो के साधनोसे या अच्छा मकान बन जानेसे या बढिया पोशाक पहिन लेनेसे, या खूब गहनागुरिया से लदा होनेसे सुख शान्ति मिलेगी। यह बात सब गलत है। शान्ति कहासे पानेकी आप आशा करते है ? यह मैं आत्मा भीतर निरखिये जो ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञानप्रकाश ही स्वरूप है वह स्वय शान्त है। स्वय सुखी है, स्वय आनन्दमग्न है। आनन्दके लिए क्यो आशा लगाते, क्यों उपयोग बाहर फसाते ? श्रद्धा तो गलत मत बनाओ। करनेमे जो कुछ आ रहा है आने दो। वह भी ठीक हो जायगा, लेकिन श्रद्धा मत बनाओ। अगर श्रद्धा गलत रहेगी तो कही

भी पूरा न पड पायगा। श्रद्धा गलत होगी तो धर्मके नामपर कुछ भी काम करो, वह सब दिल बहलावा कहलायगा। उसका फायदा न मिल पायगा। श्रद्धा सही होगी तो चाहे घरमे कुछ विपत्तियोमे चल रहे हैं फिर भी भीतरमे प्रसन्नता रहेगी। उसे कोई मेट न सकेगा। अगर आनन्द चाहिये हो तो पहिली बात यह है कि श्रद्धा सही बनावें। मैं स्वय शान्त हू, ज्ञानप्रकाश हू, सबसे निराला हूं। देखिये—जब तक अपने आपके अकेलेपनका निर्णय न होगा तब तक धर्मके मार्गमे जरा भी न बढ सकेंगे। जो यह भ्रम लगा रखा है कि मेरे तो इतने परिवारके लोग हैं, मेरे तो इतने सेवक हैं, खुशामद करने वाले हैं। मेरा तो ऐसा प्रभाव है। बाहरमे जब तक ऐसा लगाव रहेगा और अपनेको अकेला अनुभव न कर पायेंगे। तब तक धर्मकी बात जरा भी नही आ सकती। जो बात सच है उसीपर चलनेके लिए कहा जा रहा है, बहकाया नही जा रहा आपको। सच क्या है ? हम आप सभी जीव अकेले हैं। अपने ही एकत्वमे तन्मय है, बाहरके सब पदार्थोंसे निराले हैं। जो भी आया तो अकेले ही आया है, अकेला ही रहेगा अर्थात् इस शरीरको छोडकर जायगा। अकेला ही यह जीव सुख दु ख पाता है। सब जानते है कि यह जीव अकेला है। मेरे लिए भैया शरण है, पुत्र शरण है, पिता शरण हैं या अन्य कोई शरण है यह भ्रम खत्म कर दें। शरण कोई नही है। शरण है तो अपना परिणाम शरण है। आज भी कोई बाहरमे शरणसा मालूम पड रहा है तो आपके ही वह पूर्वधर्मका प्रताप है और आपका ही इतना पुण्य उस वक्त है कि दूसरे लोग भी आपके सहायक बन रहे हैं। वे सही आपके द्रव्य अर्थात् आत्मवस्तुके नातेसे कोई आपके सहायक नही हैं। आपका परिणाम निर्मल था। उसमे जो पुण्य कमाया उसके फलमे आज यहांके लोग भी सहायक बन रहे हैं। तो मेरा वास्तविक सहायक मैं ही हू और मैं ही अपने आपका बिगाड कर सकता हू। मेरा दुनियामे कुछ नही है।

(२२६) **आकिञ्चन्य धर्मके प्रयोगमे आनन्द**—एक बताया है अकिञ्चन धर्म, जिसमे यह विचारा जाता कि मेरा कही कुछ नही है। मेरा तो मात्र यह मैं ज्ञानप्रकाश ही सर्वस्व है, और बाहरमे ऐसा सोचनेकी भी क्या जरूरत है कि मेरा कही कुछ नही है ? अपने आपमे जो ज्ञानानन्दका वैभव है उसपर दृष्टि करें और उसका आनन्द लूटते रहें। तो अपनी सत्य श्रद्धा बनाओ। बाहरमे शरणका भ्रम दूर करो। बाहरमे श्रद्धामे किसी चीजमे राग न करें अर्थात् किसी परपदार्थसे मेरा हित हो सकता है यह गलती न करें। मेरा हित होगा मेरा ज्ञान मेरे ज्ञानकी कलासे चलेगा और मेरेमे विराजमान ज्ञानप्रकाशमय भगवानके दर्शनके लिए चलेगा तो इस ज्ञानमूर्ति भगवानके दर्शनसे ही हमारा यह उपयोग शान्त आनन्दमय हो सकेगा। बाहरमे न हो सकेगा। एक कुछ समस्या गृहस्थोके सामने यह आती है कि यहाँ तो

धन अधिक होगा तो लोगोंमे पूछ होगी कदर होगी, सुखसे रहेगे, और बतलावो रिस्तेदारोमे गरीबीके ढगसे कैसे रह सकेंगे ? तो ये तो सब हमारे सुखके ही साधन है। इसका एक सकोच है, और एक चिन्ता बना ली जाती कि किसी भी तरह हो, धन आना चाहिए, मगर इस धन-वैभवका आत्माकी शान्तिके नातेसे कुछ विचार नहीं किया। किया केवल बाहरी-बाहरी विचार। अगर आत्मशान्तिके नातेसे विचार करें तो आपका आत्मा पवित्र होगा और इतना साहस जगेगा कि बाहरमे कुछ भी बीते, किसी भी बातसे मेरेको कोई हानि नही है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको बताया है कि ऐसा भी वज्र गिरे, जिसकी आवाजसे तीनो लोकोके जीव भी भय खा जायें, इसपर भी सम्यग्दृष्टि जीवको शका और भय नही रहता।

(२२७) परमात्मत्व होनेके निर्णय वाले मार्गके चुननेसे कल्याणदिशामें प्रगति— बात यह है कि जब तक यह जो मोही जीवोकी लिस्टमे अपना नाम लिखा रखा है तब इसकी यह ही इच्छा जगेगी कि मै इनमे सरदार कहलाऊँ, मोहियोमे सरदार कहाऊँ। जैसे मूर्खोका सरदार क्या कहलाता ? महामूर्ख। कही सरदार नाम सुनकर खुश हो जानेकी बात नही है। जब इसने मोही जीवोकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है तो इसको उत्सुकता जगती है कि दुनियामे मेरी कीर्ति रहे। मैं आगे कहलाऊँ, तब तक शान्तिका मार्ग न मिल सकेगा। और यदि भगवन्तोकी उम्मीद वाली लिस्टमे अपना नाम चढवा दें मेरेको तो मुक्ति पाना है, मेरेको तो परमात्मस्वरूप पाना है, उस उम्मीदवारीमे हमारा नाम है तो दूसरोको यह प्रकाश मिलेगा कि हमे तो ऐसा जीवनमे चलना है कि जिससे हम रागद्वेषरहित हो, ज्ञानमय बनें। मेरेको वह परमात्मस्वरूप प्राप्त हो जिससे ससारके सकट सदाके लिए विदा हो जायें। मेरेको ऐसा पद चाहिये। अगर यह सकल्प बन जाय, ऐसी धुन बन जाय तो मुझे यहाँ तो लोकलिहाजका, यहाँकी बातका, यहाँकी इज्जतका कुछ ख्याल न रहेगा। तो फिर ऐसा होनेपर तो शायद यहांके लोग इज्जत न करेंगे। अरे न करें इज्जत तो न सही, ये कोई भगवान नही है, बल्कि ये तो हमारे फँसनेके कारणभूत है। कितनी हिम्मत करनी होती है ज्ञानी जीवको। अपने आत्माके बलपर जो लोकमे विजय प्राप्त कर सकता है। जो दुनियाके आधीन बन जाय उसे क्या कोई विजयी कह सकेगा ? अरे वह तो हार गया। भले ही दुनियाके ये लोग देशके नेता कहलायें अथवा धर्मके ऊपरी नेता कहलाये, जिनका बडा स्वागत होता है, जिनपर बडा खर्चा किया जाता है, एक नेता आया तो उसके पीछे लाखो करोडो रुपये तक खर्च कर दिये जाते है। लोगोको लगता है कि यह तो बडे ऊँचे पुरुष है, मगर आत्मा उनकी खोखली है, क्योकि उन्होने मोहियोकी लिस्टमे अपना नाम लिखा रखा है। इनमे मैं सरदार कहाऊँ। अरे भाई अपनेको सोचो कि मै भगवन्तोके ज्ञानमे भला कहलाऊँ।

अब भगवान तो यहाँ हैं नही कि जिनको देख करके चित्तमे यह बात उठे कि मैं भगवानके ज्ञानमे भला कहलाऊँ। लोगोकी दृष्टिमे मैं भला होऊँ अथवा नही, उससे मेरा कोई सुधार बिगाड नही है। लोग यह सोचें कि यहां तो लोग यह सोचते है कि लाखो करोडो आदमियो की निगाहमे मैं भला बन जाऊँगा, मगर भगवान कितने हैं ? अनन्त। जितने शुद्ध आत्मा हैं, जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब भगवान है ना ? तो अनन्त भगवानोकी निगाहमे हम झलकें तो ऊँची बात होगी या इन इने-गिने लटोरे खचोरे लोगोमे हम भला कहलायें तो ऊँची बात होगी ? जरा तुलना तो करो।

(२२८) कष्टसहिष्णुताकी व पारमार्थिक आनन्दके मार्गपर गमनके उमगकी अभ्यर्थना—अच्छा दूसरी तुलना और करो। यहाँकी रही सही १०–५ वर्षकी जिन्दगीमे हमे आनन्द मिल जाय और वह आनन्द कल्पित हो यह बात अच्छी कहलायगी या अनतानन्त काल तकके सकट सदाके लिए छूट जायें यह बात भली रहेगी। अगर कुछ इसपर निगाह डालते हैं तो अनन्तकाल तकके लिए मेरे संकट छूट जायेंगे यह बात भली रहेगी। इसके लिए इस रहे सहे ५-७ वर्षके जीवनमे उपसर्ग आये, कष्ट आये तो मैं उनसे छूटनेकी प्रार्थना न करूँगा। कष्ट जितने आते हो आने दो। हम तो ससारके सकटोसे सदाके लिए छूटनेका प्रोग्राम बनाये हुए हैं। ये थोडे सकट आते है तो दिखने वाले ये सकट मेरे लिए कुछ सकट नही है। इन सकटोंसे मत घबडाइये। इन सकटोसे हटनेकी प्रार्थना भगवानसे मत करें, आने दो, उनका भी खेल देखें, भेदविज्ञान बनायें, अपने आत्माको सबसे निराला देखें और यह भी देखते जावो कि क्या कष्ट है, क्या लोगोका बर्ताव है ? मन ही मन खुश रहे। इन सकटोसे मत घबडायें। भगवानसे प्रार्थना यह करें कि सब कष्टोको सहन करनेकी मेरेमे शक्ति बढे। वह शक्ति आती है ज्ञान बलसे ? कष्टसे हटनेकी प्रार्थना करनेके लिए जैसे कही अमुक क्षेत्रमे जा रहे, कोई किसी तीर्थस्थानपर जा रहे, किसलिए जा रहे ? हमारा कष्ट मिट जाय, हमे अमुक चीजकी प्राप्ति हो जाय यह घुड दौड छोड दें और ऐसी प्रार्थना करें अपने प्रभुमे अथवा परमात्मासे कि हे प्रभो! मेरेमे कष्ट सहनेकी शक्ति आये। क्या कष्ट आ गया ? निर्धन हो गए तो आने दो कष्ट, शक्ति बढावें कि वहापर भी हम धर्म धारण करते हुए, अपनी आत्मसाधना करते हुए प्रसन्न ही प्रसन्न रहा करें। चाहे निर्जन हो गए, परिवारके लोगोका वियोग हो गया तो उसे भी देखते रहे, ज्ञाता द्रष्टा रहे, मैं तो अकेला हू, पूर्ण ज्ञानानन्दमय हू, मेरा क्या बिगाड है ? मैने तो प्रभुताकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है। मुझे यहांकी कुछ नही पडी है, मै तो अब दूसरोकी पक्तिमे हो गया हू। जैसे कोई किसी पार्टीका मनुष्य है तो उस पार्टीका उत्तरदायित्व तब तक निभाता है जब तक उसमे नाम लिखाये है। जब उससे अलग हुआ तो फिर उसका

क्या लिहाज ? जब उसने प्रभुकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है तो फिर उसे दुनियाकी बातोंसे क्या मतलब ? मेरेमे कष्टसहिष्णुता बने और धर्मके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर कर देनेकी उमग बने ।

(२२९) **धर्मनिधिकी परमनिधिरूपता**—भैया, धर्मकी बात समझें कि धर्म किसका नाम है ? ये ऊपरी बातें, ऊपरी जलसे ये धर्म नही कहलाते । धर्म कहलाता है रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । अपने आत्माका सहज स्वरूपमे विश्वास । मैं तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप हू, और कुछ नही हू । कोई कितना ही हिलाये, कोई कितना ही बहकाये, कितना ही कहे, मगर श्रद्धासे चलित न हो । मैं अमुक चन्द नही, अमुक लाल नही, परिवार वाला नही, गृहस्थ नही, मुनि नही । मै तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतत्र वस्तु हू, जिसका किसी परसे कोई सम्बन्ध नही । समस्त परसे निराला यह मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मवस्तु हू । उसे श्रद्धामे लीजिए । मेरा ज्ञान बने, बस इसी उपयोगमे बना रहे । यही है रत्नत्रय, यही है सुख शान्तिका, मुक्तिका मार्ग । यही है सकटोसे छूट जानेका मार्ग । यह बात कर लीजिये गुप्त ही गुप्त । यह प्रकट करके नही हो सकता । कुछ लोग कहते है ना कि अपने गुण अपने मुखसे बखानोगे तो हल्के हो जावोगे, फिर वे गुण न रह पायेंगे । उसका रहस्य क्या है ? यही है कि जो मैंने साधना की, जो मेरेमे गुण बने, जो मेरेमे अपने आप चरित्र बनाया, उत्तम चीज प्राप्त की, उसीका अपने मुखसे प्रशसा करने लगे तो देखो हम बाहरमे अधर्म करने लगे तो यह धर्म कहाँ रह गया ? इसलिए कहते है कि गुण अपनेमे गुप्त रखो और उन्हे देख देखकर खुश रहो । देखो जैसे किसी गरीबको कोई निधि मिल जाय तो वह उसे एकान्तमे बैठकर उसे खोलकर देखता है, खुश रहता है, इसी प्रकार किसीको यदि धर्मकी निधि मिल जाय, ज्ञानकी निधि मिल जाय, अपने आपको अकेला तकनेकी कुञ्जी मिल जाय तो एकान्तमे समस्त परपदार्थोंसे उपयोग हटाकर, अपने आत्मामे अपने उपयोगको रमाकर अपने इस वैभवको देखते रहे, और खुश होते रहे, यह आत्मसाधनाकी बात है ।

(२३०) **धर्मके लिये जीवनकी समझ**—धर्मके लिए अपना जीवन समझिये– बाकी अन्य-अन्य काम तो जैसे होने होगे पुण्य प्रतापसे । जैसे कि पूर्व जन्मकी जो साधना है उसके अनुसार जो कुछ होना होगा सो वह होता रहेगा, उनमे चित्त मत लगावो । वहाँ तो यह निर्णय बनाओ कि जो व्यवस्था जो भी सम्पदा, जो भी पद्धति बननी पडेगी बने, उसमे हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे । देखो काम तो इतना ही करना है गृहस्थीमे ऊपरी । थोडा भूख मिटाना है और कुछ कपडे पहिनना है, इसके अतिरिक्त जरूरत क्या होती है ? मगर अन्याय करके, लूट कर या अनेक विकल्प बनाकर किसी तरहसे अपना धन वैभव भरना, यह सब

अब भगवान तो यहाँ है नहीं कि जिनको देख करके चित्तमे यह बात उठे कि मैं भगवान ज्ञानमे भला कहलाऊँ। लोगोकी दृष्टिमे मैं भला होऊँ अथवा नही, उससे मेरा कोई सु बिगाड नही है। लोग यह सोचें कि यहां तो लोग यह सोचते हैं कि लाखो करोडो आद की निगाहमे मैं भला बन जाऊँगा, मगर भगवान कितने हैं ? अनन्त। जितने शुद्ध अ जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब भगवान है ना ? तो अनन्त भगवानोकी निगाहमे हम भ ऊँची बात होगी या इन इने-गिने लटोरे खचोरे लोगोमे हम भला कहलायें तो ऊ होगी ? जरा तुलना तो करो।

(२२८) **कष्टसहिष्णुताकी व पारमार्थिक आनन्दके मार्गपर गमनके उ र्थना**—अच्छा दूसरी तुलना और करो। यहांकी रही सही १०-५ वर्षकी *आनन्द मिल जाय और वह आनन्द कल्पित हो यह बात अच्छी कहलायगी य* तकके संकट सदाके लिए छूट जायें यह बात भली रहेगी। अगर कुछ इसप तो अनन्तकाल तकके लिए मेरे संकट छूट जायेंगे यह बात भली रहेगी। सहे ५-७ वर्षके जीवनमे उपसर्ग आये, कष्ट आये तो मैं उनसे छूटनेकी प्र जितने आते हो आने दो। हम तो संसारके सकटोसे सदाके लिए छूटनेक ये थोडे संकट आते हैं तो दिखने वाले ये संकट मेरे लिए कुछ सकट न घबडाइये। इन सकटोसे हटनेकी प्रार्थना भगवानसे मत करें, आने भेदविज्ञान बनायें, अपने आत्माको सबसे निराला देखें और यह भी दे है, क्या लोगोका बर्ताव है ? मन ही मन खुश रहे। इन सकटोसे मत प्रार्थना यह करें कि सब कष्टोको सहन करनेकी मेरेमे शक्ति बढे। वह श बलसे ? कष्टसे हटनेकी प्रार्थना करनेके लिए जैसे कही अमुक क्षेत्रमे जा रहे, व स्थानपर जा रहे, किसलिए जा रहे ? हमारा कष्ट मिट जाय, हमे अमुक चीज जाय यह घुड दौड छोड दें और ऐसी प्रार्थना करें अपने प्रभुमे अथवा परमात्म प्रभो ! मेरेमे कष्ट सहनेकी शक्ति आये। क्या कष्ट आ गया ? निर्धन हो गए तो आ शक्ति बढावें कि वहांपर भी हम धर्म धारण करते हुए, अपनी आत्मसाधना करते ही प्रसन्न रहा करें। चाहे निर्जन हो गए, परिवारके लोगोका वियोग हो गया त देखते रहे, ज्ञाता द्रष्टा रहे, मैं तो अकेला हू, पूर्ण ज्ञानानन्दमय हू, मेरा क्या बिगाड तो प्रभुताकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है। मुझे यहांकी कुछ नही पडी है, दूसरोकी पंक्तिमे हो गया हू। जैसे कोई किसी पार्टीका मनुष्य है तो उस पार्टीका ब तब तक निभाता है जब तक उसमे नाम लिखाये है। जब उससे अलग हुआ तो

हम आप इस शरीरमे उस ढगसे कही बैठे हुए नजर आते ? अरे मानलो कुछ दिन पहिले ही मरणको प्राप्त हो गए होते तो फिर यहांका कुछ भी मेरे लिए क्या था ? यहाँसे मरकर न जाने कहांसे कहां पैदा हो गए होते। न जाने किस योनिमे होते, न जाने कैसे कैसे कीडा मकोडा आदिकके देहोमे फसे होते, फिर यहांका कुछ भी था क्या हमारे लिए ? अब आज भी हम आपका जो शेष जीवन है वह केवल धर्मकार्योंके लिए है।

(२३१) **व्यामोहवश सुखमे धर्मके प्रति उपेक्षा**—किसी विपत्तिके आनेपर तो लोग सोचते है कि यदि मैं इस बार इस विपत्तिसे बच गया तो बस धर्म ही धर्म करूँगा, मगर होता क्या है कि ज्यो ही वह विपत्ति (बाधा) टली कि फिर वे धर्मकर्मकी बातको भूल जाते हैं। एक कथानक है कि कोई आदमी किसी नारियलके पेडपर चढ गया। चढनेको तो वह चढ गया मगर उतर नही पा रहा था। वह बहुत घबडा रहा था। उसे बचनेका कोई आसार न दीख रहा था। सो वह सोचने लगा कि यदि मैं इस बार उतर गया तो १०० ब्राह्मण अथवा अनाथोको भोजन कराऊँगा ? समयकी बात कि वह नीचे को खिसकने लगा, आधी दूर तक उतर आया। अब सोचा कि अगर १०० न खिला सका तो ५० को जरूर खिला दूँगा, कुछ और भी नीचे खिसक आया तो सोचा कि ५० को नही तो २५ को जरूर खिला दूँगा, यो ही कुछ और नीचे उतर आने पर सोचा कि १० को जरूर खिला दूँगा। जब वह बिल्कुल ही नीचे उतर आया तो सोचा कि वाह उतरा तो स्वय अपने आप ही मैं किसीको खिलानेकी क्या बात ? तो ऐसे ही यहाँ हम आप भी जब कभी बचनेकी उम्मीद नही रहती तो सोचते है कि इस बार यदि बच गया तो फिर खूब मन माना धर्म करूँगा, पर बच जानेपर वह समय निकल जाने पर फिर धर्म धर्मकर्मकी बातको भूल जाते है। तो भाई धर्मके सिवाय किसीका कुछ शरण नही है और अपने आपको अकेला निहार, क्योकि अकेले ही हो, अकेला निहारो और यह जानकर कि धर्मसे ही मेरेको सुख शान्ति हो सकती अन्यसे नही, उस धर्मके लिए, उस ज्ञानार्जनके लिए अपना उत्साह बढावें तो इसमे जीवनकी सफलता है।

(२३२) **निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्यके अपरिचयमे कषायवश कष्टोका भार**—दो बातोका समझ लेना आवश्यक है, वे कौन सी बाते है ? एक तो निमित्तनैमित्तिक भाव, दूसरा वस्तुस्वातत्र्य अर्थात् जगतमे जो कुछ भी बात उल्टी चल रही है, विभाव, विकार कषाय इच्छा विषय आदिक परिणाम चल रहे हैं, इनके चलनेमे कर्मोदय निमित्त है और ये नैमित्तिक है अर्थात् कर्मोदयके बिना विकार नही बनते। इसलिए इनमे निमित्तनैमित्तिक भाव है। इनका जो गूढ रहस्य है वह समझ लेना चाहिए और दूसरा है वस्तुस्वातत्र्य याने

प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र है, वह अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, कोई दूसरा पदार्थ उसे द्रव्य गुण पर्याय दे नहीं देता है. इसे कहते हैं वस्तुस्वातन्त्र्य । इन दोनो बातोको सही समझ लेनेपर शान्तिका मार्ग स्पष्ट हो जाता है । इन्ही दो बातोपर आज कुछ विवेचन करेंगे । बात कुछ कठिन सी भी लगे तो भी उपयोगको केन्द्रित करके बडे ध्यानसे सुनो— यदि कठिन बातको सुननेसे इन्कार ही रहे तो जीवनमे फिर कब सही बातकी समझ आ सकेगी ? ध्यानसे सुनो, सब समझमे आ जायगा । इन दो बातोसे मुख मोडकर अज्ञानी जीवोने अब तक निमित्त कर्ता की बात कही है । जैसे मैं मकान बनाता हू, मैं पालन पोषण करता हू, लोग मुझे सुखी करते है, अमुक लोग मुझे दु.खी करते हैं आदिक कर्तापनकी बात ला दे अथवा सिद्धान्तके सम्बधमे यह सोच लीजिए कि कर्तापनकी बात यो ला दी कि लोग कहते हैं कि कम ही सुखी दुःखी करता है, कर्म ही जीवको नचाता है यो कह डालते है । जैसे कि मानो कर्म इसपर जबरदस्ती करते हो और यह कुछ न कर पाता हो, इस तरह लोग कर्तृत्वकी बुद्धि लादे है, उससे हटने के लिए उक्त दो बातोको समझ लीजिए । सबसे पहिले आप किस बातको समझना चाहते हैं ।

(२३३) **वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयका लाभ**—हम कभी इसका निर्णय नही कर पाये कि आपको कौनसी बात सुनायें जो आसान पडे और बादमे कौनसी बात सुनायें जो कि कठिन होकर भी आसान पडे और बादमे कौनसी बात सुनायें जो कि कठिन होकर भी आसान लगे । खैर वस्तुस्वातन्त्र्यसे शुरू करें । देखिये जगतमे जितने भी पदार्थ है वे स्वय सत् हैं या किसीने स्वय सत्ता बनाया ? स्वयं सत् जो जगतमे है उसको कोई बना नही सकता । तो सभी पदार्थ स्वय सत् हैं, और जब सत् हैं तो उनमे यह कला अपने आप पडी हुई है कि यह उत्पाद व्यय निरन्तर करता रहता है, नवीन पर्यायका उत्पाद करे और पुरानी पर्यायको विलीन करे, बस ये सत्के अभिन्न धर्म हैं । ऐसा करते हुए ही ये सत् रह सकते हैं कि अपनी नवीन पर्याय बने और पुरानी पर्याय विलीन करे, प्रत्येक सत्मे यह कला पायी जाती है । तो अब देखिये मैं भी सत् हू ना ? हू । तो मेरेमे भी यह कला है कि मैं प्रतिसमय नवीन पर्यायको बनाऊँ और पुरानी पर्यायको विलीन करूँ । पर्यायके मायने दशा । जो स्थिति बनी है उसे कहते हैं पर्याय । तो इस प्रकारकी वस्तुकी स्वतन्त्रता स्वय सिद्ध है ।

(२३४) **निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका लाभ**—वस्तुस्वातन्त्र्य होनेपर यह बात भी समझमे आयगी कि कोई पदार्थ अपनी ओरसे अपने आप अपना ही निमित्त करके बिगडता नही है, यह वस्तुमे समताकी बात, शान्तिकी बात, क्षोभरहितकी बात, स्वभावरूप रहनेकी बात सबमे प्रकृत्या पायी जाती है जैसे कोई स्फटिक मणि है अथवा कांच है तो वह तो सफेद है, अत्यन्त स्वच्छ है । वह कांच अपने आपकी ओरसे अपना ही निमित्त करके रग

बिरगा हो रहा है क्या ? वह तो स्फटिक पाषाण अथवा मणि अपने आपकी ओरसे तो अत्यन्त स्वच्छ ही रहती है और निरन्तर जगमगाती हुई केवल अपने आपमे स्वच्छतारूप ही परिणमती रहेगी, लेकिन कोई उपाधि सामने आ जाय तो जिस रंगकी वह उपाधि हो वैसे ही रग रूप उस स्फटिकमे भी छाया, आभा आ जाती है। तो कोई भी पदार्थ अपने आपकी ओरसे मलिन नही होता। तो मैं भी एक उपयोगस्वरूप आत्मा हू ज्ञानरूप। जिसका जानन निरन्तर काम है। ऐसा जाननस्वभावरूप मैं आत्मा अपने आपकी ओरसे क्रोधी, मानी, कामी आदिक नही बनता, किन्तु जिस-जिस जातिके कर्म उदयमे आते है उस उस प्रकारसे आत्मामे वह छाया पडती रहती है और यह जीव उसे अपना लेता है। देखिये—इस ज्ञानमे दो तरह की बातें आती हैं—एक तो आश्रयभूत और एक निमित्तभूत। आश्रयभूत तो यो है कि हम यदि बाह्य पदार्थोंको अपने ज्ञानमे लें तो वह आश्रयभूत कहलाता है, मगर कर्मका हम ज्ञान कहां करते ? कर्म यहां एक क्षेत्रावगाहमे है, उनका हम बोध नही बनाते, किन्तु जब उदय आता है तो वह प्रतिभास तो होता है, किन्तु वह प्रतिभास आश्रयके ढगसे नही होता। निमित्तके ढगसे होता, एक जडताके रूपसे होता है। तो कर्मका उदय आया उसका आवरण मुझपर पडा, मै उससे आक्रान्त हो गया। तो नाना प्रकारके ये विकार उत्पन्न होते रहते हैं, तो इन विकारोका करने वाला मैं स्वयं हूँ।

(२३५) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावके एकत्र परिचयमे तथ्यका दर्शन व प्रयोग—वस्तुस्वातन्त्र्यकी ओरसे देखिये कि निमित्तके सन्निधानमे यह जीव अपनी परिणति से रागी द्वेषी बनता और निमित्तनैमित्तिक भावसे बांधे कर्म अपनेमे रहे, किन्तु उसका निमित्त पाकर जीवमे कषायभाव जग गया। तो इस रहस्यको न समझनेके कारण ऐसा अज्ञान जीवो के बनता रहता है जिसके कारण इसे दु:खी रहना पडता है। कितने ही विकल्प करता है। जैसे ये विकल्प करता है कि अमुक मुझे दु:खी करता है ऐसा सोचनेमे जैसे कष्ट रहता है वैसे ही ऐसा सोचनेमे बडा कष्ट है कि इसने मुझे सुखी किया। भीतरमे आकुलता रहती है चिन्ता रहती है। कितने ही विकल्प उत्पन्न होते है। जब कोई यह मान ले कि मुझे तो लडके ने सुखी किया, पिता ने सुखी किया स्त्री ने सुखी किया, इस प्रकारका मिथ्याभाव जब रहता है तो उस श्रद्धामे भी इस जीवको निरन्तर क्षोभ रहता है और जितने वियोग आदिक के कष्ट उठाने पडते है उनका कारण है यह ही अश्रद्धान। तो जैसे कोई दूसरा मुझे दु:खी करता है ऐसा सोचनेमे कष्ट है इसी प्रकार कोई मुझे सुखी करता है ऐसा सोचनेमे भी कष्ट है। जब यह निर्णय बने कि मैं एक ज्ञानस्वरूप स्वच्छ आत्मा हू, मैं अपने आत्माके सही स्वरूपको जानता रहूगा तो मैं आनन्दमे रहूगा और जब मैं अपने स्वरूपकी जानकारीसे चिग

कर कल्पनायें बनाऊँगा तो नियमसे दुःखी होऊँगा।

(२३६) **कल्पनावोंका फल क्लेश**—कल्पनाओंका फल दुःख है। चाहे परसे सुख मानने की कल्पना हो, उसका फल दुःख ही है। जैसे किसी सर्पका नाम साँपनाथ रख लो चाहे नागनाथ रख लो। कही ऐसा नही है कि साँपनाथ कहनेसे तो जिसे काट लेगा वह मर जायगा और नागनाथ कहनेसे न मरेगा, ऐसी बात नही है। नाम चाहे जो धर लो, पर काट लेगा तो मरण हो जायगा, ठीक ऐसे ही चाहे सुख नाम रख लो तो, दुःख नाम रख लो तो, दुःख दोनो ही स्थितियोमे मिलेगा जैसे दुःखमे यह जीव आकुलित रहता है अशान्त रहता है इसी प्रकार सुखमे भी यह जीव आकुलित रहता है, अशान्त रहता है। ये सुख दुःखकी कल्पनायें अज्ञान है। इनसे कोई जीव शान्त नही रह सकता। एक शब्द है 'सुन्दर' तो जरा देखो तो सही कि इस सुन्दरका शब्दका क्या अर्थ है? लोग तो कहेगे कि सुन्दरका अर्थ है जो मनको सुहावना लगे पर सुन्दर शब्दका असली अर्थ यह नही है। देखिये सुन्दर शब्दका अर्थ है—जो तडफा तडफा कर मारे। कैसे? देखिये इस सुन्दर शब्दमे ३ शब्द है सु, उन्द और अर। सु उपसर्ग है, उन्द धातु है और अर प्रत्यय लगा हुआ है। उन्द क्लेदने धातु है जिसका अर्थ है क्लेदन करना। क्लेदन करना वह कहलाता है जैसे कि किसीकी खाल छीलकर उसमे नमक छिडक दिया जाय तो जो कष्ट उसमे होता है उस कष्टको क्लेदन कष्ट कहते है। उसमे जीव को बडी पीडा होती है। अब उस उन्द शब्दमे सु शब्द पडा हुआ है जिसका अर्थ है खूब अच्छी तरहसे पूरी तादातसे जो तडफाये, उसे कहते हैं सुन्दर। यह सुन्दर शब्दका अर्थ है। इसी तरह सुखको भी देख लीजिए। सु का अर्थ है सुहावना और ख मायने इन्द्रिय। जो इन्द्रियको सुहावना लगे सो सुख मगर ये इन्द्रियाँ हमारी बैरी है। हम तो सर्वज्ञ स्वभाव वाले हैं, ऐसा ज्ञानप्रताप है कि हम सारे लोकको जान जायें और ऐसा ज्ञान है कि रचमात्र भी दुःख नही हो, लेकिन साथमें ये जो हत्यारी इन्द्रियां लगी हुई हैं, जिन इन्द्रियोके वश होकर मुझको नाना कष्ट भोगने पडते हैं। ये इन्द्रियाँ विषयोको चाहती हैं, कान राग रागनी के शब्द सुनना चाहते हैं, आँखें अच्छा रूप देखना चाहती हैं। यो अलकारमे कह लो कि हैं तो जड मगर इनकी करतूत विचित्र है। तो ये इन्द्रियाँ अपने इन विषयोमे सुख माना करती हैं और उनसे ही यह त्रिलोकीनाथ, यह अधिपति, यह सर्वज्ञ स्वभाव वाला, यह परमात्मस्वरूप दुःखी होता रहता है। यह कहानी अपनी खुदकी है। तो जगतके इन पदार्थोंका मोह रच भी न रहे, इन पदार्थोमे जरा भी लगाव न करे।

(२३७) **काल्पनिक कीर्तिके कलनकी कल्पनाका विकट कष्ट**—सबसे बडा लगाव इस जीवको होता है तो इज्जत कीर्तिका। मेरी इज्जत रहे, सम्मान रहे, कीर्ति रहे, और लोग

हमसे खुश रहे, मगर यह है महाविष। जिसे कहते है ससारमे रुलना, कष्ट पाना। अहो सम्यग्दर्शनका अभ्युदय हुए बिना इस कीर्तिसे लगाव नही हट सकता। यहांसे कहां पैदा हो गए। हमारी इज्जत कहाँ काम देगी ? जैसे धन काम न देगा मरनेके बाद ऐसे ही यह कीर्ति भी काम न देगी। काम देगा अपने आपका सदाचार अपने आपका श्रद्धान, अपने आपकी सरलता, यह काम देगा। ऐसा श्रद्धान रखते हुए यदि कोई काम होता हो तो उसमे इज्जतका लगाव न रहेगा। मगर जिस इज्जतसे इस जीवको लगाव है उससे तो इस जीवकी बरबादी है।

(२३८) **सहजज्ञानानन्दमय सहजात्मस्वरूपके अतिरिक्त सबकी मेरे लिये असारता**—ससारमे कौन सा ऐसा पदार्थ है जो मेरेको सुखी कर दे, शान्त कर दे ? तब क्या करना ? सब ओरसे आँखे मीचकर अपने आपको निरखना। मैं इतना ही हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही मेरा सर्व निधान है। इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नही है। अगर परिजनोका, धन वैभव आदिकका लगाव है तो उसमे तो अपनी बरबादी है। मामला तो स्पष्ट है कि इस ज्ञान कलाके द्वारा हम दुखी भी हो सकते है और इस ही ज्ञान कलाके द्वारा हम सुखी भी हो सकते है। अब अपनी अपनी छाँट है कि हम शान्त रहना चाहते है या ससारमे सदाके लिए दुखी रहना चाहते हैं। अगर दुखी रहना ही पसद है, यह छाँट आपने किया है तब तो मोह राग-द्वेष सस्ते लग रहे है सो उपाय है ही और यदि अपनेको शान्ति चाहिये है, सदाके लिए जन्म मरणके सकटोसे छुटकारा चाहिए है तो उसका उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। अन्य सब बाते बेकार समझ लीजिए। अरे भाई बेकार कैसे हैं कोई सोचता होगा ? कुछ धन रहेगा तो हम समाजमे इज्जत पायेगे, कुछ साता से बैठ तो सकेंगे। अरे किसे दिखाना चाहते ? स्वयको कितनी आवश्यकता है ? वह तो बहुत अल्प है, लेकिन जितनी आवश्यकतायें बढा दी, जितनी चिन्तायें बढा दी, वह सब दूसरोका लगाव लेकर कर रहे है।

(२३९) **आत्मस्वरूपकी सम्हालमे ही अपनी सम्हाल**—भैया ! किसे दिखाना चाहते कि मैं इज्जतदार रहू ? अरे वे स्वय कर्मके प्रेरे, जगतके ऐसे ही पापी, खोटे विचार वाले, मोही, जन्म मरणका कष्ट सहने वाले, इन कर्मसहित जीवोकी दृष्टिमे आप अपनी इज्जत चाहते है तो यह क्या कोई हितकी बात है ? अरे उसकी अपेक्षा तो यह चाहे कि अनन्त भगवानोके ज्ञानमे मेरी इज्जत रहे। अरे इन इने-गिने कुछ लोगोमे क्यो इज्जतकी बात सोच रहे हो ? ये सब तो व्यर्थकी बाते है, अरे इन मोही मलिन जीवोके बीचमे चाहे कितना ही अपमान हो तो उस अपमानसे इस आत्माका बिगाड़ क्या होता है ? केवल एक अपने आत्माको सम्हाल लिया समझो सब कुछ सम्हल गया। हाँ गृहस्थधर्ममे इतना कर्तव्य तो होता ही है कि भाई ढगसे रहे, कुछ कीर्ति सम्पादन करें, वह भी एक रक्षाकी चीज है लेकिन जो ऊँचे विचार

रखे कि हमे तो कीर्ति मिले तो भले ही कीर्ति मिल जाय, पर उसका आत्मकल्याण नही हो सकता। तो हमे सबसे पहिले दो बातोपर विचार करना चाहिए —वस्तुस्वातत्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव। कर्म निमित्त है और उस निमित्त सन्निधानमे इस जीवमे काला प्रतिभास आ जाता है। देखो किसी दर्पणपर बहुत तेज काले, पीले अथवा नीले कपडे या कागजकी छाया पढ जाय तो उस दर्पणमे कुछ लगता है ऐसा कि इसमे स्वच्छता ही नही है, अधेरासा लगता है। तो ऐसा ही अधेरा कालापन इस जीवमे आया है तो यह उपयोग जडवत हो गया है। मैं ज्ञानमात्र हू, और यह सब कर्मकी लीला है। कर्मकी लीला सदा न रहेगी मेरा ज्ञान• स्वरूप सदा रहेगा। कर्मकी लीला मेरे सुखके लिए नही हुआ करती, किन्तु मेरा ज्ञानस्वरू। मेरी सुख शान्तिके लिए है ऐसा जानकर, कर्मकी लीलाको पर जानकर इससे हटें और अपने ज्ञानस्वरूप इस अन्तस्तत्त्वको अपनायें तो यह सम्यग्ज्ञान अपने आपको एक कल्याणपथमे ले जायगा। यह बात जरा समझनी है कि कर्मका उदय आनेपर आत्मा अपने आपकी परिणति से कालिमारूप होकर चिदाभास होकर अपनेको दु.खी किया करता है।

(२४०) एकमे दूसरेसे बाधाकी अशक्यता—प्रत्येक वस्तु स्वतत्र सत्ता रखती है। किसीका किसीपर अधिकार नही। आप तो जैसी कल्पना बनायेंगे वैसा कष्ट पायेंगे। हम इन कष्टोसे बचें यह हमारा अधिकार है। हम ही अपने कष्टको निवृत्त कर सकते, दूसरा नही। देखो जब सीता जी अर्जिका हो गयी, फिर उनका स्वर्गवास भी हो गया और वह मरकर १६वें स्वर्गमे प्रतीन्द्र बनी। तो अवधिज्ञानसे उस प्रतीन्द्रने सोचा कि श्रीराम मुनि हो गए हैं और वह ज्ञानध्यानमे रत हैं तो ऐसा उपाय करें कि जिससे श्रीराम जल्दी मोक्ष न जावें, अगर हम दोनों एक साथ मोक्ष जावें तो अच्छा है। (देखिये ऐसी दोस्ती लगती तो सरल है, मगर निभ सकती है क्या? नही निभ सकती।) तो उस प्रतीन्द्रके मनमे आया कि श्रीरामको ध्यानसे डिगा दें, यह अपने ध्यानसे चिग जावें तो इनका मोक्ष अभी रुक जायगा, बादमे हम दोनो एक साथ मोक्ष जायेंगे। तो उस प्रतीन्द्रने श्रीरामको डिगानेका बडा प्रयत्न अनेक प्रकारके हाव-भाव नृत्य आदि दिखाये, सब प्रकारसे रिझानेका प्रयत्न किया, यहां तक कि ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश पकडकर घसीट रहा है और सीता विलाप करती है—हा राम, हा राम, बचाओ, बचाओ, परन्तु इतनेपर भी श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये—न तो कोई किसीको मुक्त कर सकता है और न कोई किसीको ससारी बना सकता है। सब जीव अपने आपकी परिणतिसे सुख दु ख पाते है, कल्याण अकल्याण पाते है। तो बात अन्तमे एक यह समझना होगा कि अपने स्वरूपको देखो। मैं एक हू, अकेला हू। मेरा कोई शरण नही, मेरा कोई साथी नही जो कुछ करना होगा सो मुझे अपने आप

अकेलेको ही करना होगा। ऐसा अपने एकत्वस्वरूपका विचार करें और अपनेको अकेला निरखकर अपने आपको सतुष्ट बनाये। सच बात तो यह है कि एक यह निर्णय बना ले, सच्चा ज्ञानप्रकाश बना लें कि यह धन वैभव, यह इज्जत प्रतिष्ठा, ये परिजन मित्रजन आदि मुझे सुखी नही करते, मैं तो एक अकेला कर्मोसे लदा हुआ एक अपने आपमे कर्मोको भोग रहा हू, और अपनी कल्पनासे सुख दुःख पाता रहता हू।

(२७१) **सम्यक् ज्ञानके बलसे कषायोंका परिहार करनेमे ही आत्महितका लाभ**—हित शान्तिमे है और अहित अशान्तिमे है। अशान्त होता है तो यह क्षुब्ध बेचैन रहता है और जब शान्त होता है तो यह प्रसन्न आनन्दमय रहता है। तो यहा यह बात बिचारें कि शान्ति कैसे मिलती है और अशान्ति कैसे होती है? शान्ति होनी है कषायके अभावसे क्रोध मान, माया, लोभ ये चारो कषायें न रहे तो इस जीवको शान्ति है। अनुभव भी बताता होगा कि जब किसी पुरुष पर क्रोध किया जा रहा है तो उस समय कितनी अशान्ति रहती है। मान किया जा रहा हो, मायाचार किया जा रहा हो, अथवा लोभ किया जा रहा हो तो उस समय जीवको अशान्ति रहती है। जब कषाय मद हो तब शान्ति मिलती है, तो ये कषायें कैसे मिटें इसका उपाय जानना चाहिए। कषाय मेटनेका उपाय कोई बाहरी जबरदस्ती नही है। तन, मन, वचनको रोकना यद्यपि एक साधन बताया गया है मगर तन, मन, वचन को रोकने से भी अशान्ति मिटती नही है, उसका मूल उपाय है सम्यग्ज्ञान। अगर वस्तुका सही सही बोध हो जाय तो अशान्ति दूर हो सकती है। बोधमे कैसे अशान्ति दूर होती है। बात यह है कि जब यह जीव किसी पर पदार्थमे लगाव रखता है तब ही कषाय होती है और अशान्ति रहती है। किसीको इष्ट मानना, किसीको अनिष्ट बस सब अशान्तिकी जड यही है कि कोई पदार्थ इष्ट लग रहा है कोई अनिष्ट। किसीको मान लिया कि यह मेरा है, किसी को मान लिया कि यह मेरा विरोधी है, बस परपदार्थोंमे जो यह राग विरोधकी छटनी है, इष्ट अनिष्टकी छटनी है यह ही कहलाता है मिथ्याज्ञान और इस छंटनीके आधार पर कषाय और अशान्ति चलती है। ये सब बातें दूर हो सकती है तो सम्यग्ज्ञानसे। जब वस्तुके स्वरूप का ज्ञान किया जायगा तो पता होगा कि ओह मुझ ज्ञानस्वरूप आत्माका तो दुनियामे परमाणुमात्र भी कुछ नही है।

(२४२) **पदार्थोंके साधारणस्वरूपके परिचयमे ही विरक्ति संपादक ज्ञानका प्रकाश**—देखो प्रत्येक पदार्थमे ६ बातें साधारणरूपसे होती है? अस्तित्व जिसके प्रतापमे पदार्थकी सत्ता है। है ना पदार्थ बस इसीको ही हम अस्तित्व शक्तिसे ज्ञान कराते है। तो प्रत्येक पदार्थ चूंकि है तो है। है, इसलिए सिद्ध है कि आत्माका अस्तित्व है, लेकिन है है इतनेसे

पदार्थका परिचय नही होता । पदार्थ है कब रह सकता है कि जब पदार्थ अपनी ही सत्तासे हो और परकी सत्तासे न हो । अगर कोई पदार्थ ऐसा स्वीकार करले कि हमने तो कह दिया कि यह है रहेगा तो हम भी है रहेगे और यह भी है हो जायगा । कुछ कुत्ता बिल्ली अथवा पेड-पौधे या भीत निवाड सब कुछ हो जायगा तो पदार्थ तो न रहेगा । पदार्थ तब ही है रहता है कि वह वह ही हो, दूसरा कुछ न हो । एक पदार्थकी सत्ता तब है जब कि वह उस ही रूपसे तो है और अन्य पदार्थके रूपसे नही है । अगर यह सबके रूपसे हो जाय तो यह है न रहेगा, इसलिए पदार्थ है और अपने रूपसे है, पररूपसे नही है, इसे कहते हैं वस्तुत्व । वस्तुत्व हो गया, मगर इतनेसे पदार्थकी यात्रा नही चल सकती, वह त्रिकाल नहीं रह सकता। उसका अस्तित्व नही बन सकता । तो वह है, अपने रूपसे है, पररूपसे नही है, ऐसा होनेके बावजूद भी उसमे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है । अगर परिणमन न हो तो कोई पदार्थ है नही हो सकता । जो है वह नियमसे प्रतिसमय परिणमन होता है, मगर उसे हम जानते नही हैं । चूकि है इसलिए परिणमन जरूर है । तो मैं हू, अपने रूपसे हू, पररूपसे नही हू, इसलिए निरन्तर परिणमता रहता हू । मैं निरन्तर परिणमता रहता हू । मैं निरन्तर परिणमता तो रहता हू, लेकिन मैं अपने रूप परिणमू । दूसरे रूप परिणमू, तो क्या काम बन जायगा ? नही । अब मैं न रहा, मेरा अस्तित्व खत्म हो जायगा, इसलिए मैं अपने रूपसे ही परिणमता हू, पररूपसे नही, यह व्यवस्था बनती है अगुरुलघुत्व गुणके कारण । इतना होनेके बाद भी अगर इसका कोई ढाचा न होता, उसका कोई आकार न होता, उसका कोई प्रदेश न होता, विस्तार न होता । तो फिर मेरी सत्ता क्या ? तो मैं हू और मेरा कोई विस्तार है । जैसे ऐसा लगता कि मैं सारे देहमे व्याप्त हू, तो इसे कहते है प्रदेशवत्व गुण । इतना होने पर भी अगर यह ज्ञानमे नही आया कि अस्तित्व क्या है ? यह ज्ञानमे आता है यह है प्रमेयत्व गुणका प्रताप । ये छहो बातें प्रत्येक पदार्थमे मिलती है ।

(२४३) **असाधारण गुणके परिचयसे परविविक्तताका परिचय**——असाधारण गुणके परिचयसे आत्माकी परविविक्तता स्पष्ट होती है। आत्माका असाधारण गुण है चैतन्य । प्रत्येक पदार्थसे निराला हू, ज्ञानस्वरूप हू इसलिए अपनेको ज्ञानस्वरूप परखना है । ऐसा जब जान लूगा कि मैं हू, ज्ञानस्वरूप हूं, परपदार्थोंसे निराला हू, अकेला हू, अकेला ही यात्रा करता हू, अकेला ही अपना अनुभव करता हू, अकेला ही सुख दु.ख भोगता हू । सब कुछ बात तो अकेले अकेलेमे होती है, जहाँ यह बोध हुआ वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि परपदार्थमे न रहेगी । लोग तो घर, स्त्री, पुत्र, भाई, बधु, परिवार, पार्टीके लोग, इनको अपना इष्ट मानते है, मगर जहाँ इष्टकी कल्पना उठी तो ज्ञानका ढाँचा बना । जहाँ अज्ञानका ढाँचा बना वहाँ

क्षोभके निरन्तर कारण बनते हैं। वह जीव शान्त नही रह सकता। तो सम्यग्ज्ञान करना है। सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ? सम्यग्ज्ञानका अभ्यास बने, तत्त्वज्ञानका अभ्यास बने यह सब असाधारण गुणके परिचयके आधारपर होगा।

(२४४) निजके स्वभाव व परिणमनविधानका परिचय—इस प्रकरणमे दो बातें समझें। देखो पदार्थको जाननेकी दो किस्में है—एक तो इस तरह जानना कि कोई पदार्थ अपने आप अपनी सत्तासे अपनेमें स्वयं कैसा है, एक तो इस ढंगसे जानना और एक इस ढंगसे कि वे पदार्थ परिणमते हैं तो किस-किस तरह परिणमते हैं अथवा परके प्रसंगमे निमित्त सन्निधानमें किस किस तरह परिणमते है, वह परिणमन स्वभावके अनुरूप है या स्वभावके विपरीत है, इस तरहकी भी जानकारी की जाती है। तो एक सहजस्वरूपकी जो जानकारी है उसे तो कहते हैं शुद्धनय और जो सहजस्वरूपके अतिरिक्त अन्य जितनी भी जानकारियाँ है उसे कहते हैं अशुद्धनय। शुद्ध नयमे क्या जाना जायगा ? अपने आपके बारेमे कि मैं हू, इन दो बातोंकी परख कीजिये—शुद्धनय और अशुद्धनय। शुद्धनयसे क्या जाना जायगा ? यह मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकभाव हू, और अशुद्धनयमे क्या जाना जायगा कि अरहंत परमेष्ठीको दशा, सिद्ध परमेष्ठीकी परिणति, संसारियोकी परिणति, अज्ञानियोकी परिणति। परिणतिया सब अशुद्धनयकी आयी। यह बात हम कह रहे है मूलको उठाकर। अशुद्धनयमे भी फर्क है। अशुद्धनय कोई तो स्वभाव वाला है, कोई विभाव वाला, लेकिन एक अपने आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके मामलेमें सब अशुद्धनय कहलाते है। अब इसी बातको···यहाँ शुद्धसे मतलब है अखण्ड और सहजभावसे। और अशुद्धनयसे मतलब है खण्ड एवं असहज भावसे। तो अखण्ड भाव केवल एक मौलिक दृष्टि स्वभाव है, वह तो शुद्धनयका विषय है और एक स्वभावके अतिरिक्त परिणमन कहो, गुण कहो, और और भी भेद बनायें, चाहे स्वभावपर्याय हो, चाहे विभावपर्याय हो, जहाँ विकल्प उठा, जहां खण्ड हुआ, जहाँ अंश जाना गया वह सब अशुद्धनय हैं। इस प्रकरणमे एक बात और समझें कि जहां यह भेद किया जाता है कि तत्त्व ७ है—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोंका जानना शुद्धनयसे नही होता है, अशुद्धनयसे होता है। मोक्ष भी अशुद्धनयका विषय है बध भी अशुद्धनयका विषय है। यहां पर्यायविषयक शुद्ध अशुद्धकी बात नहीं कह रहे कि यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, लेकिन यह बात कह रहे कि जहां भेद किया वह अशुद्ध है, जहां अखण्ड देखा वह शुद्ध है। मोक्ष, इसमे यह बात आयी कि यह जीव पहिले बध दशामें था, उसने कोई सम्वर निर्जराका उपाय बनाया, उससे मोक्षदशा हुई। वह मोक्ष दशा तो कभीसे उत्पन्न हुई, अनादिसे नहीं है। जो अनादि अनन्त हो, त्रैकालिक हो, सहज हो, निरपेक्ष हो

वह है शुद्धनयका विषय ।

(२४५) **शुद्धनयके आश्रयसे सम्यक्त्वसंभूति**—अब आगे और बढ़ें, जहा यह लिखा है कि जो शुद्धनयका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है । जो भूतार्थका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है, तो इससे बात यह लेना कि अशुद्धनयमे अरहन्त और सिद्धपर्याय भी जानी गई । है वह शुद्ध पर्याय । पवित्र है, परमात्माकी पर्याय है, लेकिन उस पर्यायका आश्रय करनेसे आत्मामे अखण्डका परिचय नही होता । उस पर्यायको निरख करके पर्यायके स्रोत अखण्ड स्वभावपर दृष्टि पहुचती है, इतना तो लाभ है, मगर साक्षात् उस अनन्त ज्ञान-पर्यायको ही ज्ञानमे लें तो अखण्ड दशाका परिचय नही बनता । अखण्ड स्थितिका परिचय बनता है ज्ञानस्वभावको ज्ञानमे लेनेसे । यह तो एक बहुत गम्भीर अन्तस्तत्त्वकी बात कही है ।

(२४६) **निश्चय व व्यवहार विधिका वर्णन**—अब जरा और निर्णय करनेके लिए दूसरी पद्धति लीजिए । वर्णन होता है दो ढगोंसे एक तो एक द्रव्यका एक द्रव्यमे एक द्रव्य की ही चीजको निरखनेका । दूसरे दूसरे द्रव्यके सम्बन्धसे होने वाली बातको या सम्पर्कको निरखनेका । एक द्रव्यको एक द्रव्यमे ही देखनेकी पद्धतिको कहते हैं निश्चयनय और सम्पर्क को या एक द्रव्यके सम्बन्धसे दूसरे द्रव्यमे होने वाली बातको कहते है व्यवहारनय । अब यह दूसरी पद्धतिसे बात कह रहे हैं, निश्चयनय होता है तीन प्रकारका परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । परमशुद्धनिश्चयनय तो वह है जो अभी शुद्धनय बताया था । अखण्ड एक अभिन्न, निर्विकल्प स्वभावको ज्ञानमे लेना परमशुद्ध-निश्चयनयका विषय है शुद्ध निश्चयनयका विषय है अरहत सिद्ध परमात्माकी पर्यायको जानना । प्रभु अनन्त ज्ञानी हैं, प्रभु अनन्त दृष्टा है, प्रभु अनन्तवीर्यवान हैं, वीतराग हैं, परमपवित्र हैं, उनकी भक्ति होना, उनके स्वरूपका बोध होना यह कहलाता है शुद्धनिश्चयनयका विषय और ससारी जीवोकी पर्यायको देखना यह रागी है, यह द्वेषी है यह कहलाता है अशुद्ध-निश्चयनयका विषय और किसी परद्रव्यका कोई सम्बन्ध लेकर किसी बातको समझना यह कहलाता है व्यवहारनय । यहाँ तक कि कोई अभी यह कहे कि कर्मका क्षय होनेसे परमात्मा बने है तो यह व्यवहारनयका विषय हो गया । किसी दूसरे द्रव्यका सम्पर्क लगा लेना—जैसे यह जीव रागी है तो यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय हो गया । एक ही पदार्थमे देखा, एक मे देखा, चाहे अशुद्ध देखा मगर एकका सम्बन्ध रहे वह है निश्चयनयकी सीमा । जहाँ दो का सम्पर्क बनाया तो वह हो जाता है व्यवहारनयका विषय । तो जीव केवलज्ञानावरणके क्षयसे सर्वज्ञ होता है यह व्यवहारनयका विषय हो गया । क्योकि उसमे कर्मका नाम ले लिया । लिया है क्षय कह कर मगर एक सम्बन्ध बताया जब दूसरे पदार्थका प्रभावरूपसे या

सद्भावरूपसे तो वह व्यवहारनय होता है। यह सद्भाव है व्यवहारनय। जीव क्रोधी होता है कर्मके उदयसे, यह कहना भी व्यवहार है। तो अब निश्चय और व्यवहार इन दो पद्धतियोमे असत्य किसीको न कहा जायगा। सत्य तो सारी बात है, मगर व्यवहारनय कहता है क्या समझानेके लिए, उसका प्रयोजन जानना चाहिए। व्यवहारनय विधि विधान बताता हैं और निश्चय सीधी एक-बातको बताता है। तो विधि विधान क्या गलत है ? कर्मके क्षयसे मुक्ति होती है, कर्मक्षयसे परमात्मा होता है,…यह विधि विधान है। इस विधि विधानको बतलाता है व्यवहारनम और एक वस्तुको दिखाता है निश्चयनय। विधान भी असत्य नही और एक वस्तुके दर्शन होना वह भी असत्य नही।

(२४७) **व्यवहार और निश्चयकी प्रयोजकता**—समय समयपर व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है और निश्चयनय भी प्रयोजनवान है। व्यवहारनय न हो तो समझाना नहीं हो सकता, अज्ञानियोको कैसे समझाया जाय, ग्रन्थनिर्माण नही हो सकता। न समझने वालोको किस तरह समझायें वहाँ तो व्यवहारनय ही काम देगा। जैसे कोई संस्कृत भाषाका जानकार पुरुष किसी अंग्रेजी जानने वालेको आशीर्वाद देता है तो कहता है कि स्वस्ति भव। याने तुम्हारा कल्याण हो। पर वह बेचारा समझ न सका, उसने तो कोई गाली जैसा समझा तो झट नाराज हो गया और भला बुरा बकने लगा। अब बताओ उस अग्रेजको कैसे समझाया जाय ? तो उसका उपाय यही है कि जो पुरुष संस्कृत और अग्रेजी दोनों भाषायें जानता हो वह पुरुष उसे समझा दे कि देखो इन्होने तुमको ऐसा आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारा कल्याण हो। तो उस पुरुषकी बात समझकर वह प्रसन्न हो जायगा। तो यह है व्यवहारनय। इसे व्यवहारनय ही समझायगा निश्चयनय नही। निश्चयनय तो व्यवहारनयसे समझनेके बाद असली बात यह समझाता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र सत् है। वह अपने आपमे परिणमता रहता है, उसका किसी अन्य पदार्थसे कोई सम्बंध नही। जैसे कुम्हारके हस्तादिकके व्यापारके निमित्तसे घडा तो बन गया मगर कुम्हारका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उस मिट्टीमे तो नही पहुंचा। मिट्टीमे मिट्टीकी परिणतिमे मिट्टीका काम हुआ, कुम्हारमे कुम्हारकी परिणतिसे कुम्हारका काम हुआ, मगर एक ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बध है कि वहाँ घड़ा बन गया। देखिये प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई पदार्थ किसीकी परिणतिसे नही परिणमता। जगतमे जितने भी क्लेश हैं वे सब मोहसे है। मोह मिटेगा वस्तुकी स्वतंत्रताका परिचय होनेसे। मैं एक आत्मा टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वभावमय आत्मा हू। यह मैं शरीर नही हू। जब शरीर ही मैं नही हूं तो दुनिया भरके नाते रिस्ते शरीरके आधारसे होते हैं। दुनिया भरके ये सब झंझट इस शरीरके आधारसे होते हैं। तो जब यह शरीर मैं हू ही नही तो फिर ये नाते रिस्ते सम्बध

मेरे कैसे हो सकते हैं ? ऐसे अखंड एक निर्मल स्वभावको परखनेसे मोह दूर होता है। मोह दूर होगा तो कषाय दूर होगी। कषाय दूर होगी तो अशान्ति दूर होगी। अशान्ति दूर होने का दूसरा उपाय नही।

(२४८)-अन्तःप्रकाशमानकी बहिर्व्यक्तिमें परमरूपताका एक दृष्टान्त—अब इसीसे सम्बधित तीसरी बात सुनो—यह आत्मा स्वयं शान्तस्वभावी है, स्वयं आनन्दमय है जैसे कि सिद्ध भगवानका स्वभाव है वैसा ही हम आपका है, लेकिन यह स्वभाव आज आवृत है, ढका है, दबा है, विकृत हो रहा है। तब ऐसा उपाय बनाना चाहिए कि हमारा स्वभाव सही प्रकट हो जाय और हम सदाके लिए संकटोंसे छूट जायें। ऐसे उपायपर जरा आज विचार करना है कि वह कौनसा उपाय है कि जिससे मैं परमात्मा हो जाऊँ ? उपाय देखिये—अच्छा पहिले यह बतलाओ कि परमात्माकी (अरहत तीर्थंकरकी) जो मूर्ति बनाते हैं पत्थरकी तो वह कैसे बनाई जाती है ? आपने देखा होगा कि एक पाषाण खण्ड कारीगरके सामने रख दिया जाता है और कारीगरसे कह दिया जाता है कि देखो इसमे बाहुबलि स्वामीकी अथवा अन्य कोई मूर्ति बनानी है, तो वह कारीगर उस पाषाणको भली प्रकार देखकर कह देता है—अच्छा बन जायगी। देखो कारीगरको वह मूर्ति उस पाषाणमे ज्ञानद्वारा पहले ही दिख गई तभी तो कह दिया कि अच्छा बन जायगी। नही तो यह बात वह न कह सकता था। अब देखिये उस मूर्तिको प्रकट करनेके लिए वह कारीगर क्या करता है ? क्या उसमे कोई पदार्थ ला लाकर जोड़ता है ? अरे वह तो छेनी हथोडेसे उस मूर्तिको ढकने वाले बड़े-बडे पाषाण खण्डो को हटाता है। वह तो वहाँ हटाने हटानेका ही काम करता है। लगानेका काम कुछ नही करता। पहिले तो वह बडे छेनी हथौडेसे बडे आवरणोको हटाता है, उसके बाद दूसरे नम्बर के छेनी हथौडेसे याने कुछ हलके छेनी हथौडेसे हलके आवरणोको हटानेका काम करता है। सबसे बादमे अत्यंत हलके छेनी हथौडेसे अत्यन्त हलके सूक्ष्म आवरणोको हटानेका काम कारीगर करता है। वहाँ वह इतनी सावधानी रखता है कि देखने वाले लोग जानते हैं कि वह तो कुछ काम ही नही करता है। लो हटाने हटानेका ही काम कारीगरने किया, अब वह मूर्ति प्रकट हो गई। तो देखिये कारीगरने उस मूर्तिको प्रकट करनेके लिए कोई दूसरी चीज ला लाकर तो नही जोडा, मूर्ति तो ज्योकी त्यो उस पाषाणखण्डके अन्दर विद्यमान थी। सिर्फ उसको ढकने वाले आवरणोको हटानेका काम किया, वह मूर्ति ज्योकी त्यो प्रकट हो गई।

(२४९) आत्मामे नित्य-अन्तःप्रकाशमान सत्त्वकी बहिर्व्यक्तिमे परमात्मरूपता—जब भगवानकी मूर्ति बननेकी यह [illegible] फिर जो कारीगर याने जो ज्ञानी भव्य पुरुष अपने आपके अन्तः विराजमान [illegible] प्रकट करना चाहता है उसको भी यही पद्धति

अपनानी होगी। उसने अपने आत्माके स्वरूपकी बात समझा, चेतन पदार्थके सत्त्वकी बात समझा, परमात्माके स्वरूपकी बात समझा तो उसे अपने अन्तः विराजमानका भान हो गया कि हाँ यह मैं परमात्मा हो सकता हूं, बस यही है जीवका सम्यग्दर्शन। सम्यक् मायने भली प्रकारसे दिख जाना, जो सहज चीज है, जो स्वतःसिद्ध है ऐसी वस्तुके दिख जानेका नाम याने ज्ञानद्वारा अनुभव होनेका नाम, समझमें आनेका नाम सम्यग्दर्शन है। यह तो उसका पहिला कदम था। अब इसके आगे क्या कदम बढाता है? बस वह हटाने हटानेका काम करेगा, लगानेका नही। इस आत्मामें हमें लगाना है सो बात नही, किन्तु हटाना है। तो हटानेका काम क्या छेनी हथौडा करेंगे? कहांसे लायें? अरे वह भिन्न छेनी हथौडेसे काम न करेगा, जिसे कहते हैं प्रज्ञा (ज्ञान) की ही छेनी और प्रज्ञाके ही हथौडेसे यह हटायगा परपदार्थोंको। जैसे कारीगरने बड़े-बड़े पत्थर हटाये थे वैसे ही यह विवेकी कारीगर बाहर पडी हुई भिन्न चीजें धन वैभव, मकान, महल, स्त्री पुत्रादिक परिजन, मित्रजन इन सबको वह अपने चित्त से हटायगा। इसके बाद दूसरे कदममें वह राग द्वेषादिक भीतरी कलुषित भावोंके अपनी प्रज्ञा छेनी एवं हथौडेसे हटायगा, इसके बाद तीसरी बार प्रज्ञाकी छेनी हथौडे द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विचार विकल्प तरंग, कल्पना आदिकके आवरणोको बडी सावधानीसे हटायगा। देखिये ज्ञानकी जो छुटपुट जानकारियाँ होती है उनको भी वह अपनी प्रज्ञा छेनी द्वारा हटाता है। ये मैं नही हू। देखो ज्ञानकी परिणतियों द्वारा ही जान रहा है कि मैं अखण्ड हूँ, शुद्धनयका विषयभूत हू, और जिनके द्वारा यह जान रहा है उनसे ही अपनेको अलग कर रहा है, कितना उसका एक भीतरी पुरुषार्थ है कि जिस ज्ञान बलके द्वारा, जिस ज्ञानवृत्तिके द्वारा निर्णय कर रहा है, कि मैं अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हू, उसही साधनको अपने ज्ञानसे अलग कर रहा है कि यह मैं इससे निराला हूं। तो यो बाह्य पदार्थोंको हटा-हटा करके जो एक अखण्ड शुद्धनयके विषय भूत भूतार्थस्वरूप सहजज्ञानभावका आश्रय लिया और वह आश्रय जरा चिरकाल तक बन जाय तो यह कैसे मालूम होता है वह बात अपने आप होगी। पर पदार्थमे जो होता हो हो, कर्म झडेंगे, निर्जरा होगी। देह छूटेगा, सदाके लिए वियोग हो जायगा, वे बातें सब अपने आप हो जायेंगी। आप यदि कर्मोंपर दृष्टि देंगे तो बताओ अष्ट कर्मोंको आप किस तरहसे ध्वस्त करोगे? यदि आप बाहरमे दृष्टि डालेंगे कि मैं ऐसा विचारू ऐसा करू, तो इससे अष्टकर्मों को ध्वस्त करनेकी बात न बनेगी। तुम तो स्वभावदृष्टिमे निश्चल हो जावो फिर जो होना होगा वह होता रहेगा।

(२५०) निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही आत्मपरमसाधनाकी उपपन्नता—एक बात अवश्य है कि स्वभावदृष्टिमे निश्चल होनेके लिए हमे बाहरी साधन इतने बना लेना चाहिए कि बीचमे हमें

विकल्प न सता सकें। तो ऐसा साधन है निर्ग्रन्थ अवस्था। आप लोगोंको तो कही दूकान जाना है, कही और कुछ करना है, यो अनेक विकल्प चलेंगे पर निर्ग्रन्थ अवस्थामें किस बातका विकल्प हो ? यह निर्ग्रन्थ दशा एक साधन है निर्विकल्प होनेका। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष है, जिसने अपना ऐसा लक्ष्य बनाया है कि हमे तो अपना कल्याण करना है वह इस निर्ग्रन्थ दशाका सदुपयोग कर लेगा और जिसने अपना कोई कल्याणका लक्ष्य नही बनाया वह इस निर्ग्रन्थ दशा का सदुपयोग नही कर सकता। इसलिए मूल बात यह है कि जो शुद्धनयका विषयभूत है, अभेदनयका विषयभूत है ऐसा जो एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव है उसको दृष्टिमे लें तो अपने आप अपना कल्याण है।

(२५१) सहजपरमात्मतत्त्वके उपयोगकी महिमा—हम जो कुछ करते हैं इस उपयोग द्वारा ही करते हैं। तो करना क्या है ? कभी हम इस उपयोगको परपदार्थोंमे महत्त्व देते हैं तो कोई ज्ञानी पुरुष इस उपयोगमे अपने आपके स्वरूपको महत्त्व देते हैं। संक्षेपमे देखें तो सर्वत्र दो बातें मिलेंगी। पहिली है स्वको महत्त्व देनेकी बात और दूसरी है परको महत्त्व देनेकी बात अरे जो जीव परपदार्थोंको महत्त्व देते हैं वे कष्ट पाते हैं—धन वैभव, सम्पदा, देह, यशप्रतिष्ठा, विचार तरग विकल्प इनको जो महत्त्व देते हैं वे कष्टमे रहते है और जो अपने आपके सहजस्वरूप परमात्मतत्त्वको मानते हैं, उसका आदर करते हैं, उसकी शरण गहते हैं वे आनन्द तृप्त होते हैं, बस इतनी ही है हम आपके इतिहासकी कहानी। अब जरा विचार करो कि परको महत्त्व देकर, धन सम्पदा, इज्जत प्रतिष्ठा, कुटुम्ब आदिकको बडा मानकर, इनमे लगाव रखकर, इनको शरण समझकर हम कौनसा लाभ पा लेंगे ? बड़ी गम्भीर दृष्टिसे विचार करनेकी बात है, हम सदा रहने वाले पदार्थ है। यह नही है कि जिस मानव पर्यायमे आये हैं उसके बाद हम न रहते हो। अरे जो पदार्थ है वह सदा रहता है, केवल परिणतियाँ बदलती रहती हैं। हम सदा रहने वाले पदार्थ है। अगर इस थोडेसे जीवनको व्यर्थकी कल्पनाओमे मौजोमे व्यर्थ ही गंवा दिया। तो भला बतलाओ उससे कौनमा लाभ लूट लिया गया ? अरे यहाँके ये सुख दुःख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए हैं। प्रत्येक स्थितिमे रागका क्षोभ है या द्वेषका, कोई कल्पनाजाल साथमे लगा हुआ है तो उससे इस आत्माको कोई आनन्द नही है। आत्माका सहज ज्ञाता दृष्टापन है, वही वास्तवमे आनन्दकी वस्तु है। तो हमें अपने आपके बारेमें यह विचार करना है, किसीको दिखानेके लिए नही, किसीमे अपना कुछ बनानेके लिए नही, किन्तु अपनेको जगतमे अशरण जानकर, अपने आपके गुप्नस्वरूपको शरण जानकर गुप्त ही गुप्त अपने अन्तस्तत्त्वकी शरण पा लेना यह अपनी दयाके लिए बात है। कोई धर्म कर[illegible] दूसरेपर एहसान नही डालता। जो दूसरेपर एहसान समझता है, हम [illegible] आवे[illegible]

व्यवस्था बनाते हैं, हम समाजमें कुछ धार्मिक विचार करते है तो देखो हमने समाजका कितना उपकार किया है, ऐसी अगर समाजमे ऐहसानकी बुद्धि होती है तो वह धर्मके अनुकूल बात नही है। धर्म करनेमे, अपने स्वभावकी दृष्टि करनेमें, अपने आत्मस्वभावमे मग्न होनेका प्रयत्न करने मे इसमें किसी दूसरेके ऐहसानकी बात ही क्या है ? यह तो खुदकी दयाकी बात है।

(२५२) **बाह्य पदार्थोंके लगावमें आत्माकी बरबादी**—यह जीव अनादिकालसे अब तक बाह्य पदार्थोंकी शरण मानता आया, अतः अशरण बनता चला आया। कभी कुछ विवेक किया तो भले ही कुछ भावना बनाया कि इस जीवको कोई शरण नही, कोई शरण नही। बाहर बाहर तो तकता रहा कि मेरेको कुछ भी शरण नही, पर यह न लख पाया कि मेरेको तो यह आत्मा ही शरण है। बाहर कितना ही भटकलें, वे सब पर घर है, पर घरमें, परपदार्थमे अपना कोई कदम स्थापित करे, रहना चाहे तो वह रह नहीं सकता, भगा दिया जाता है, पर इस जीवकी ऐसी कुटेव है कि प्रत्येक घरसे यह भगाया जाता है फिर भी उन्ही घरोमे यह जाना चाहता है। परपदार्थोंसे हटता रहता है फिर भी पर पदार्थोंमे ही लगना चाहता है। यह इसकी एक कुटेव है। मामला सत्य है। मैं केवल उपयोगमात्र हू, केवल ज्ञानस्वरूप हूं, जानना मेरा काम है। पर उपाधि साथमे लगी है इससे मैं कुछका कुछ जान बैठता हूं। वह ठीक नही है। मैं सही जानू, दूसरी बात लगना मेरा काम है चारित्र गुणका यह एक काम है कि यह लगे। अब कहाँ लगे ? परमे लगे, मिथ्या चारित्र, स्वमे लगे यहँ सम्यक् चारित्र। लगनेकी हममे आदत पडी है। किसी न किसीका विश्वास करें, कुछ जानें और कही न कही रम जायें, यह जीवमे आदत है। तो विवेक यह करना है कि कौन वस्तु हितकारी है उसकी सही आस्था बनायें। कौन सी वस्तुका परिज्ञान मेरेको क्षोभ न कर सकेगा, उसका परिचय बनायें ! किस जगह हम रम जायें तो उससे मेरेको शान्ति प्राप्त हो ? उस पदकी सुध ले। यह तो एक विवेकका कार्य है। बाकी जगतमे किसीसे कुछ बडा कहलवा लिया, कुछ यश लूट लिया तो उसमे कोई बल नही, कोई हित नही।

(२५३) **आत्मरमणकी परमधर्मरूपता**—हित चाहते हैं तो आत्माका ज्ञान करें, आत्माकी आस्था बनायें, जो आत्म स्वरूप है उसमे लीन होनेका पौरुष बनायें, यह ही बात सीखनेके लिए हमारा जो आवश्यक कार्य है देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ये केवल यों ही करते रहनेके लिए नही हैं देखो— पूजामे कहा है—तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनं। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः। हे भगवन् ! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहें, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोंमे रहे, कब तक ? जब तक कि निर्वाणकी प्राप्ति न

न हो। मोक्ष प्राप्त हो गया, फिर जरूरत क्या है ? तो देखो यह भक्त अभीसे जल रहा है और उससे भगवान बुरा भी नही मानते। जो सच बात है, जो भगवानका उपदेश है उसीकी बात भक्त बोले तो इसमे भक्तका कोई अपराध नही है। हे प्रभो तुम्हारे चरणोंमें हमारा हृदय कब तक रहे, जब तक कि मुझे मुक्तिकी प्राप्ति न हो जाय। देखिये यहाँ कोई किसीको कह तो दे कि हम तो तुमसे तब तक मित्रता करते हैं जब तक कि मेरा यह काम न बने, तो इसका क्या प्रभाव होगा ? अरे वह तो खुदगर्जी कहलायगी। मित्र परेशान हो जायगा। वह खुद समझ जायगा कि यह क्या दोस्ती है ? कोई किसीको ऐसा कहता है क्या कि मैं तुम्हारी तब तक आदर भक्ति करूँगा जब तक कि मेरेको इतने धनकी प्राप्ति न हो जाय ? उसकी यह बात क्या कुछ मतलब रखती है ? लेकिन वस्तुस्वरूपके प्रसगमे यह बात बिल्कुल सही है और धर्मके अनुकूल है—तुम्हारे चरणोमे मेरी भक्ति तब तक रहे जब तक कि मुक्ति प्राप्त न हो अथवा यह कहो कि जब तक मेरेको निर्विकल्प समाधि न हो निर्विकल्प समाधि हो गई फिर भक्ति रागका काम बन ही कैसे सकेगा ? तो सच बात कही जा रही है। तो व्यवहारमे हमारा कोई शरण है तो पचपरमेष्ठी शरण हैं।

(२५४) **ज्ञानी द्वारा सर्व जीवोमे सहजात्मस्वरूपका दर्शन**—ये परिजन शरण नही। मोही जन अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ कुर्बान करते हैं अपने परिजनोपर, उनके अतिरिक्त दुनियाके अन्य लोग जैसे मानो उनमे कुछ जान ही न हो, ऐसी घृणा और उपेक्षा की दृष्टिसे देखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जगतके सब जीवोमे भगवत्स्वरूपका दर्शन करता है, किसीका बुरा नही मानता। किसीने निन्दा की, किसीने गाली दी तो यह जानता है कि यह तो भगवत्स्वरूप है, इसमे तो कोई अपराध हुआ ही नही करते। यह अपराध तो कर्मकी लीला है। यह बेचारा, यह स्वय यह अतस्तत्व भगवत्स्वरूप है, इसमे तो अपराधका नाम ही नही, इसमे कोई सतानेकी बात ही नही। वह तो एक ज्ञानस्वरूप आत्मपदार्थ है। लो स्व-भावदृष्टि करके, द्रव्यदृष्टि करके ज्ञानी पुरुष वहाँ उस भगवत्स्वरूपके दर्शन करता है, वह दूसरेका बुरा क्या मानेगा ? बुरा मानने वाला अथवा दूसरोको इष्ट समझने वाला पुरुष किसी न किसी राग विकल्पमे अटका रहता है और वह इष्ट अनिष्ट समझता रहता है व्यवहारत. मेरेको शरण है पचपरमेष्ठी और निश्चयत: मेरेको शरण है तो मेरा अपने आपका सहजस्व-रूप। मैं हू ना, तो कुछ तो हू, परकी दया बिना, परके सहारे बिना, परकी अपेक्षा बिना, परके सम्बंध बिना मेरी सत्ता तो है ना खुदमे। यद्यपि मैं अनादिसे अब तक कर्मके साथ चला आ रहा हू, कोई समय ऐसा नही मिला जिसमे कर्मरहित हो गया था, कर्मरहित होकर फिर कर्मसहित नही होता। तो मैं एक समय भी अब तक कर्मरहित न हो पाया। सदा

अनादिसे ये कर्म साथ चले आये, इसपर भी मैं अपने आप अपनेमें सहज स्वरूप अपना स्वतन्त्र ही सत्व रखता हूं। कर्मकी दयासे मेरी सत्ता नही है। भले ही कर्म उपाधिसे इस समय विकारभाव चलते हैं वैसा जीवन चल रहा है, लेकिन मेरा अस्तित्व कर्मने नही किया। किसीका अस्तित्व कोई दूसरा पदार्थ नहीं करता। मैं अपने आप जैसा सहज हूं वैसा निरखू तो इसमे सब आनन्द ही आनन्द है। जैसा मैं सहज नही हू, पर उपाधिमे बात बनती है, और तब हम उस रूप अपना अनुभव करने लगते है, ऐसा ही परभावमें लगता है कि मैं यह हू तब इसको बडी प्रवृत्तियां करनी पडती है। और उन प्रवृत्तियोसे इसे कष्ट सहना पडता है। तो बाहरी पदार्थोंसे दृष्टि हटे और मैं अपने निजस्वरूपमें आऊँ, बस यही काम पडा है करनेको।

(२५५) **आत्मतथ्यका निपटारा**—देखो तथ्यका निपटारा स्याद्वाद विधिसे हो पायगा। किसी भी विधिका ज्ञान किसी भी दिशामे खडे होकर किया जा सकता है। जो जिस पदार्थको जिस दिशासे देख रहा है तो जो शक्ल उसकी दृष्टिमें उस दिशामें आयी वह उसे जान रहा है, पर वह पदार्थ उतना मात्र नही है। दूसरी दिशासे देखनेपर दूसरे ढगका विदित होता है, अन्य दिशाओसे खडा होकर देखनेपर और और ढंगका विदित होता है, सर्व दिशाओंसे देखने पर जो स्वरूप समझमे आया है, पदार्थका सम्पूर्ण स्वरूप वह है। सर्व दिशाओमें देखकर कहनेकी आदत न होनेके कारण एकान्त पड़ जाता है। जैसे इस ही आत्मतत्वके बारेमें विचार करो—यह मैं आत्मा हूं, प्रति समय परिणमता रहता हूं, परिणमता रहूंगा। तो वे सब मेरे परिणमन मेरे ही द्रव्यके हो रहे हैं, दूसरेके परिणमन नही है, ये परिणमन अनन्त काल तक होते चले जायेंगे इनको जाना माना अवधिज्ञानीने, सर्वज्ञदेवने, तो जो जाना सो होगा। तो जिस समय जो जाना गया उस समय वह होगा। यह एक किनारे खडे होकर देखनेकी बात है, पर दूसरी बात भी तो देखिये—भगवानने जो जाना है, ठीक है, मगर जो हुआ था, हो रहा है, होगा पदार्थमे वह होनेकी बात है, जो हुआ उसे जाना या जो जाना सो होगा, इसमे अन्तर पडता है। भगवानके ज्ञानका विषय है तीन लोक तीन कालका पदार्थ। तो जैसा वह है, वैसा प्रभुने जाना। अब यह था, होता है, कैसे होगा, उसका विधान है विभाव निमित्त सन्निधानमें, इस आत्माके अशुद्ध परिणमनोसे बनते चले जाते है। निमित्तके अभावमे कोई विकार हो भी सकता क्या? वह उसको जो विधि है उस ओरसे देखे तो यह विदित होता कि निमित्तके सन्निधानमे ही यह आत्मा अपनी स्वतंत्र परिणतियोसे परिणमता है। स्वतंत्र परिणतिका अर्थ यहां लगावो—किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिको ग्रहण न करके स्वयं अपने आपकी परिणतिसे रागद्वेषरूप होता है, मगर रागद्वेष कोई निमित्तके अभावमे बन

सकेंगे क्या ? अगर बन जायें तो वे स्वभाव बन जायेंगे, कभी मिट न सकेंगे । तो देखिये—एक दिशासे देखते है तो क्या दीखा ? दोनोंको मान लो—विरोध मत करो । समन्वय समझ लो, यह तो स्याद्वादकी एक बडी देन है ।

(२५६) **वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था**—उदाहरण लीजिए । लगता है और भी है ऐसा कि विकारभाव होना और कर्मका उदय होना एक ही समयमे होता रहता है । जिस समय कर्मका उदय है उस ही समयमे रागादिक विकार हैं । एक समयमे दोनो बातें हो रही है तिसपर भी निमित्त किसे कहा गया है ? कर्मोदयको । नैमित्तिक किसे कहा गया है ? रागादिक विकारोको । अब एक साथ होनेपर भी कोई यह बात कहे कि जिस समय रागादिक विकार होते हैं उस समय कर्मोदय हाजिर होता है । क्या ऐसा नही कह सकते कि जिस समय कर्मोदय होता है उस समय रागादिक विकार होते है ? जब एक ही साथ दोनो चीजें होती हैं तो उनमेसे एकका तो हठ कर लेना कि जिस समय विकार होता है उस समय कर्म हाजिर होते हैं, ऐसा कहनेमे एक उल्टीसी बात सिद्ध होती है कि राग विकार होना निमित्त है और कर्मोदय होना नैमित्तिक है । यह सिद्धान्तके एकदम विपरीत है । दूसरी बात देखिये—जिस समय कर्मोदय होता है उस समय राग विकार होता है, ऐसा कहनेमे स्पष्ट यह जाहिर होता है कि कर्मोदय निमित्त है, रागादिक विकार नैमित्तिक हैं, जो सिद्धान्तके अनुकूल बात है, जो कर्मोदयका सन्निधान होनेपर राग विकार होनेका भी निमित्तनैमित्तिक भाव है, इतना होनेपर भी इसका परस्परमे कर्तृकर्मभाव नही है अर्थात् कर्मने जीवको रागी बनाया हो ऐसा नही है, बस यह ही तो एक सावधानीकी बात समझनी है कि निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्तृकर्मभाव नही है । कर्तृकर्मभाव एक पदार्थका दूसरेमे न होनेके कारण वस्तुस्वातन्त्र्य कहा जाता है, बात सब स्पष्ट है । जो लोग, वस्तुस्वातंत्र्य मिट जायगा, इस भयसे निमित्तनैमित्तिक भावका खडन करते हैं उनका ज्ञान अधूरा है, यह तो एक जगतकी व्यवस्था है । सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भावसे सारे काम हो रहे हैं इतने पर भी प्रत्येक अणु-अणु, प्रत्येक जीव अपनी ही परिणतिसे परिणमते चले जाते हैं । कोई पदार्थ दूसरेमे अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नही डालता, कोई पदार्थ किसी दूसरेको परिणति नही बनाता इसलिए वस्तु स्वतन्त्र ही है ।

(२५७) **परिणमनके आविर्भावकी विधिमे निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी परि-**

दृष्टान्त आया है रत्नकरण्डश्रावकाचारमे कि भगवान बिना इच्छा

, उपदेश करते हैं ? तो बताया है कि "अनात्मार्थं विना रागै

ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ।" देखिये—दृष्टान्तपर

दृष्टि दीजिये—मृदंग बजाने वाला पुरुष उसके हाथका हुआ स्पर्श मृदंगपर, उस बजाने वाले का हाथ उसके हाथमें ही है, अब वह मृदंग उस हाथका संयोग पाकर अपनी ध्वनि करने लगा। याने जो भाषा वर्गणाके शब्द हैं उन शब्दोरूप परिणमने लगा। तो इस स्थितिमे वे भाषा वर्गणाके शब्द शब्दरूप परिणमनेमे किसकी अपेक्षा करेंगे ? वे शब्द वर्गणायें तो शब्द रूप स्वयं परिणमेगी। यह एक दृष्टान्त दिया है। प्रत्येक जगह यही बात घटा लो। जैसा निमित्तसन्निधान मिला वैसा ही परिणमन उपादानमें अपनी योग्यतासे हुआ। वह किसीकी अपेक्षा नही करता। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य है। शिक्षा इसमे दोनो विधियोसे मिल जाती है। देखिये— मैं वस्तु स्वतंत्र हूं, मैं अपनी परिणतिसे परिणमता हू, मेरेको कोई दूसरा परिणमाता नही। मैं भी अपने परिणाम सुधारू तो मैं कल्याण पाऊँगा कोई भगवान या कोई मित्र मुझे कल्याण देगा, ऐसा नही है। मैं ही अपने भावोका सुधार करू तो कल्याण पाऊँगा। वस्तुस्वातंत्र्यसे हमने यह शिक्षा ग्रहण की है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि मैं अपने आपमे उत्पाद व्यय करता हुआ ही त्रिकाल सत् रह सकता हूं। इस तरह जब देखा कि बात सही है वस्तुस्वातंत्र्यके विज्ञानसे हमे अध्यात्मउन्नतिमें शिक्षा उत्पन्न हुई है। देखो मैं जब जो कुछ करता हूं, परपदार्थोसे हित माननेकी बात करता हू तो मैं दुःखी हो जाता हू। तब मैं अपने आपमें केवल ज्ञानका परिणमन कर सकनेमे समर्थ हू, यह निरखते हैं बाह्य आश्रयभूत पदार्थका आश्रय करते है, उपयोगमे बाह्य पदार्थ न आने दें उस समय यह शान्तिका पात्र बन जाता है। देखो मैं जिस तरह चलू, जिस तरहका ज्ञान करू वैसा ही मै करता चला जाता हू। देखो वस्तुस्वातत्र्यसे हमे कितनी बडी प्रेरणा मिली। इस परिचयने मेरी अन्यसे दृष्टि हटा दी और मैं अपने आपके स्वरूपमे मग्न होनेका रास्ता पा गया।

(२५८) **निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे शिक्षा**—अब इसमे निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे क्या शिक्षा मिलती है ? जैसे क्रोध, मान, माया, लोभमे मैं मस्त रहता हू और जिसके प्रसगमे बाह्य पदार्थोंमें लगाव बनाया करता हू वे सब बातें क्या है ? नैमित्तिक भाव हैं। मेरे स्वरूपकी चीज नही है। कर्मोदयका फल हैं कि यह आचार्य सतोंने उन्हें पौद्गलिक कहा है, पर परिणाम है, यह मेरा स्वरूप नहीं। यह मेरी चीज नही। मै तो एक ज्ञायकस्वरूप हू। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे इसने अपने आपको कैसा पृथक् बना लिया। यह क्या है ? इस व्यवहारनयके सदुपयोगका लाभ नही है क्या ? देखिये—कर्म भी अपनी स्थिति अनुभाग लिए हुए रहते हैं जिस समय कर्म उदयमे आते हैं उस समय कर्म अपने अनुभागकी लीला खेलते हैं। वे अचेतन है, वे मेरेपर कोई प्रभाव नही डालते। जैसे;

हम राग विकार करके अनुभव किया करते हैं और अपनेको विकृत बना लेते हैं, कर्म भी विकृत बना लेते हैं। उसमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिककी सब स्थितियां उन कर्मोंमें स्वय पड़ी हुई हैं, अन्यथा क्रोधप्रकृति नाम किसका पडता ? मिथ्यात्व नाम किसका पडता ? जिस प्रकृतिका नाम क्रोध है उसका क्या अर्थ है कि इस प्रकृतिका क्रोध करनेका अनुभाग पड़ा है तो वह प्रकृति क्रोध करती रहती है, पर वह चेतन नही है इसलिए अनुभाग नही हैं। पर अनुभाग नही चल रहा है, इसलिए उस ही एक क्षेत्रावगाहमे, उस ही स्वभावमे पडे हुएमे उसे चेता, उसे अपनाया, एक यह चेतन है और अनुभव करता है तो अनुभव करनेके कारण इसकी विकट होड हो जाया करती है, तो किस तरह हुए ये नैमित्तिक भाव ? किस तरह यह विडम्बना हुई ? ये निमित्त पाकर हुए, इसलिए ये नैमित्तिक हैं, ये मेरी चीज नहीं हैं, ये पौद्गलिक हैं। मैं तो एक सहज ज्ञानमात्र हू।

(२५९) **आत्मकल्याणाभिलाषीको सर्वत्र आत्मकल्याणके उपायके दर्शन**—देखो जिसे कल्याणकी धुन हुई है उसे सब जगहसे लाभ मिल जाता है, और जिसे कल्याण करनेकी धुन नही है वह प्रत्येक बातमे विवाद करेगा, अपना पक्ष रखेगा। कल्याण चाहिये, विवाद और पक्ष न चाहिये। कल्याणकी भावना है तो सबका सदुपयोग बना सकते हैं और कोई भी विरोधी नही जच सकता है। सबकी बात हमारे यहाँ सम्भव हो सकती है। देख लिया, जान लिया, सबकी बात छोडनेका उपदेश है। व्यवहार भी छोड़ें, निश्चय भी छोड़ें। कल्पना मात्रको छोड़ें, आखिर है तो उपयोग यह ही। तो जाननेके प्रसगमे सब दृष्टियोसे जान लें, कल्याणके प्रसगमे सब दृष्टियोको छोड दें। अपने आपमे सहज जो परिणति होती है होने दें। वह ही मोक्षमार्गकी बात है। तो एक मोटे रूपमें ऐसा अनुभव करें कि जगतमे मेरेको कोई शरण नही है। बाहरमे किसकी शरण गहू, किसका मुख देखकर ऐसी आशा बनाऊँ कि ये मेरेको मुख देंगे, ये ही मेरे हैं सब कुछ। घरमे जितने जीव हैं वे उतने ही निराले हैं जितने निराले ये कीडा मकोडा, पेड पौधे आदिक अन्य जीव हैं। रच भी तो इनसे सम्बन्ध नही है। बात यह हुई कि आप गृहस्थधर्ममे आये हैं। गृहस्थीमे रहकर मिलकर काम करना है जीवनमे। ये भी अच्छी तरहसे जिन्दा रहे हम भी अच्छी तरह जिन्दा रहें। घरके ये ४-६ प्राणी जिन्दा रहे तो वहाँ भी प्रयोजन रहे एक धर्मसाधनाका। वास्तवमे जिन्दा रहनेकी आवश्यकता समझें धर्मके लिए। इसलिए राग करना होगा, खटपट करनी होगी, प्रेमसे रहना होगा, सब बातें करनी होगी, तिसपर भी कोई भी जीव किसीका जरा भी कुछ नही लगता।

(२६०) **ज्ञानीका सुसंगत गुजाराके लिये ही प्रेमव्यवहार**—कोई एक सस्थाका काम कर रहा है, उस कमेटीमे १०-१२ आदमी हैं। सभी भिन्न-भिन्न जगहोके लोग हैं। कोई

किसी जिलेका है कोई किसी जिलेका, कोई किसी जातिका है कोई किसी जातिका। वहाँ किसीसे कोई नाता तो नही है, लेकिन एक संस्थामें काम करनेके नाते से वे सब भाई भाई का जैसा व्यवहार करते हैं। तो उनका वह परस्परका प्रेमव्यवहार एक संस्था चलानेके लिए है, ठीक उसी तरहसे समझ लो—जिस गृहस्थीके बीच आप रह रहे हैं वह एक कमेटी है। उसके परिवारके अन्दर जितने भी लोग हैं वे सब उसके मेम्बर हैं। सबका उद्देश्य होना चाहिए एक धर्मसाधनाका। वहाँ कोई किसीका कुछ लगता नही है, वहाँ किसीका कुछ है नही। हाँ एक कमेटीमे रहनेके कारण सब कुछ कार्य वहाँ करने होते हैं। वहाँ एक यह स्पष्ट दृष्टि हो जाय कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। इसके अतिरिक्त मेरा कही कुछ नही है। मेरा शरण तो यह ज्ञानस्वरूप स्वयं है। मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप बना हो, ज्ञानस्वरूप समाया हो तो बस समझ लीजिए कि हम मोक्षमार्गमे चल रहे है, हम सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं, हम सिद्ध हो सकते हैं, हम कर्म काट सकते हैं, हमारा सही कल्याण होता है और ऐसी निज धर्मकी बात, निजधर्मका पालन मोक्षके लिए तो महत्त्वपूर्ण ही है।

(२६१) **शुद्धभावके साथ कर्मविपाकवश रहे सहे शुभरागकी महिमाका लोककी उच्च पदवियोंमे दर्शन**—जब तक संसारमे रहना पडेगा, जब तक मोक्ष न जा सकेंगे तब तक भी जो बड़ी बड़ी पदवियां हैं—जैसे चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदिककी, वे प्राप्त होती हैं। और और भी जो बडी समृद्धियां होती हैं वे भी इस धर्मके प्रतापसे प्राप्त होती हैं। इस निज धर्मके पालनके साथ जो रागकी गल्ती रह जाती है उसका यह परिणाम है कि तीर्थंकर, चक्री आदिक होना, तो आखिर यह धर्मका ही तो प्रताप है। अब बतलावो जिस धर्ममहाराजके विधानके कारण रही सही रागकी गल्तीमे भी इतनी इतनी ऊँची पदवियां प्राप्त होती हैं, तब फिर जब कोई गल्ती न रहे तो उसमें एक शाश्वत आनन्दका लाभ होने में क्या आश्चर्य? ऐसा जानकर बाहरमे किसी पदार्थको शरण माननेकी बुद्धि न बने। कोई शरण नही है। बाहरमे किसीको सार माननेकी बुद्धि न बनाये, मेरे लिए कोई सार नही है। मेरा जो सहज स्वरूप है जिसके कारण यह मैं सहज प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वरूप वही मेरा शरण है, वही मेरा सार है, उस परमसार निज अंतस्तत्त्वकी भावनाके लिए अपना तन, मन, धन वचन, प्राण सर्वस्व न्योछावर करके भी अपने आपके सहजज्ञानस्वरूपका प्रकाश पा लें तो समझो कि मैंने सब कुछ पा लिया, इसीसे मेरा कल्याण होगा। तो हम आपको ऐसे अपने अंत. विराजमान प्रभुकी ओर ही उन्मुख होनेका भाव रखना चाहिए।

(२६२) **पदार्थयथार्थविज्ञानका प्रभुत्व**—सभी जीवोंकी यह भावना होती है कि दुःख

दूर हों और शान्ति प्राप्त हो। तो यहां यह विचार करना है कि सारे उद्यम इसीलिए करते चले आये फिर भी न दु:ख दूर हुए, न शान्ति प्राप्त हुई। तो इसका कारण क्या है? और कौनसा साधन है ऐसा कि जिससे नियमसे दु:ख दूर हो और शान्तिकी प्राप्ति हो? तो बात यह है कि दु:ख होता है भ्रमसे। दुःखका कारण है केवल भ्रम, मोह, अज्ञान। जो बात जैसी नही है वह उस तरह समझना, यही मूलमे दु:खका कारण है। नियमसे दु:ख होगा। यह एक अलग बात चल रही है। देखिये—मोटे रूपसे धन अलग चीज है, मैं आत्मा अलग चीज हू, पर यह जब भावना हुई कि यह धन मेरा है तो बस इस भावनासे तुरन्त दु:ख हुआ। धनकी रक्षा न कर सकनेका विकल्प, उसे छिपाना है, उसे सुरक्षित करना है। कुछ भी बात उसके सम्बन्धमे जीव सोचता हो तो वहाँ बात उसके अनुकूल हो भी, न भी हो, तो वह उसमे दु:ख मानता है। तो एक उदाहरणके लिए एक मोटी बात कही। तात्पर्य यह लेना कि जितने भी क्लेश होते हैं वे सब भ्रमसे होते हैं। और भ्रमका क्लेश मिट सकता है तो भ्रमके नाशसे मिट सकता है। भ्रमका नाश होगा तो वस्तुके स्वरूपके ज्ञानसे होगा इस कारण जैनसिद्धातमे आचरणकी तपश्चरणकी अन्य सब बातें भी करते हैं, मगर सबसे अधिक प्रधानता दी है स्वरूपके ज्ञानकी। वस्तुका सही सही ज्ञान करे तो शान्ति मिलेगी अन्यथा नही। तो वस्तुस्वरूप क्या है? छोटे-छोटे बच्चोको पढाया जाता है कि भाई द्रव्य ६ जातिके होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो बच्चे थोडा बहुत धर्मपाठशाला मे जाते हैं तो प्रारम्भमे यह ही पढाया जाता है और लगता है ऐसा कि वह कौनसी पढाई है? इससे क्या लाभ है? द्रव्य ६ जातिके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और उन बच्चोकी पढाई सुनने वाले लोग सोचते हैं कि धर्मकी पढाई तो बिल्कुल बेकार है, तो उस समय तो लोग सोचते हैं, लेकिन उसका सही सही ज्ञान हो तो वे सारे दु:खोको दूर कर सके इतना इसके सम्यग्ज्ञानका प्रभाव है।

(२६३) सर्व पदार्थोंका परिचय कर स्वके परिचयमें लक्ष्यदर्शनकी सुगमता—देखिये—जीव दुनियामे कितने हैं? अनन्तानन्त याने जिनका अन्त नही आ सकता। अनेक जीव यहांसे मोक्ष जाते हैं और वहाँसे वापिस नही आ सकते, तिसपर भी जीव अनन्तानन्त रहते हैं। यहां दिखते हैं पशु पक्षी, मनुष्य आदिक थोडेसे है, लेकिन जो निगोदिया जीव बताये गए हैं वे एक शरीरमे सिद्धोसे अनन्तगुणे प्रमाण हैं। अब तक जितने भी भगवान हैं, सिद्ध हुए हैं, एक शरीरमे रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीवके अनन्तवें भाग हैं तो जीव कितने हुए? अनन्तानन्त। पुद्गल कितने हैं? उससे अनन्तानन्त। कैसे जाना? एक जीवके सहारे जैसे कि हम आप एक-एक जीव बैठे हैं। तो एक जीवके आधारमे कितने पुद्-

गन लगे हैं ? जीवको यह शरीर मिला है तो शरीरमे अनन्त परमाणु हैं और साथ ही साथ ये अनन्त विस्रसोपचय शरीरके परमाणु है याने जो शरीर बननेके उम्मीदवार हैं ऐसे विस्रसोपचय हैं। उससे भी अनन्तगुणे तैजस शरीरके अणु है। उनसे अनन्त गुणे अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें हैं और उससे अनन्तानंत गुणे ऐसे परमाणु लगे है कि जो कर्मत्वके उम्मीदवार है। फिर दोइन्द्रियादिके भाषावर्गणाके अनंत अणु संज्ञीके मनोवर्गणाके अनन्त अणु। यों जीवसे सम्बंधित एक जीवके सहारेपर ही कितने हो पुद्गल टिके हुए है, तो पुद्गल इससे भी अनन्तगुणे है फिर जीवद्वारा त्यक्त व अन्य पुद्गल भी अनंत हैं। धर्मद्रव्य एक, अधर्मद्रव्य एक, आकाशद्रव्य एक और असंख्यात कालद्रव्य। तो इनमे हम जीव, पुद्गलकी आज चर्चा करेंगे। देखिये यह विज्ञानका नियम है कि जो पदार्थ है वह कभी मिटता नही। जो पदार्थ नही है उसका कभी सद्भाव होता नही। तो सब भाई ऐसा अनुभव करते है कि मैं हूं, हू ना मैं। हूं का सबको अनुभव होता। तो जब मैं हू तो वह कभी मिट नही सकता। अब उसका विचार करें कि मैं क्या हू ? तो इतनी बात सबके अनुभवमे आयगी कि मैं कोई जाननहार पदार्थ हूं। जिसमे समझ बनती है, जानना बनता है—हूँ मैं पदार्थ, तो जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमात्र है, ज्ञानमय है वह मैं आत्मा हू। अब जो केवल ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप लिए हुए हो उस पदार्थमे रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह नही हुआ करते। रूपादिक पुद्गलमे होते है। जिसमे रूपादिक पाये जायें वह पदार्थ जड़ होता है, वह कभी जाननहार नही होता। तो मैं रूपादिकसे रहित हूं, केवलज्ञानमय पदार्थ हूं। तो जो मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं वह मैं शरीरसे न्यारा हूं। जैसे लोग कहते है कि जीव चला गया, शरीर रह गया। तो जीव शरीरमे न रुक सका। तो वह जीव मैं ज्ञानमात्र तत्त्व हूं।

(२६४) **प्रत्येक पदार्थकी सहज परिपूर्णता**—यह भी दूसरी बातमे निर्णय करें कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने सत्त्वमे पूरा होता है। कोई पदार्थ ऐसा नही है जो अभी आधा ही बन पाया है आधा नही बना। नो यह तो लोग कल्पनासे सोच लेते हैं कि यह अभी आधा ही बना। जैसे किसीने मकान बनवाया तो उसमे कुछ किवाड़ वगैरह अभी नही लग पाये तो लोग सोचते हैं कि अभी यह काम अधूरा है। अभी मकान अधूरा है। मगर बात यह है कि अधूरी कोई चीज नही होती। आपने कल्पनामे मान लिया कि ऐसा फर्स्ट क्लास मकान बन जाय तब काम पूरा हो, तो आपके सोचनेके अनुसार काम हुआ नही, इस कारण आप उसे अधूरा कहते है, वस्तुतः तो कोई भी काम अधूरा नही होता। जब जो काम होता है वह पूरा ही होता है। उस मकानका एक एक अणु पूरा है। तो यह मैं हूं और पूरा हूं।

(२६५) **प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपता**—अब इसी सम्बधमे तीसरी बात यह जानें कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावस्वरूप होता है। जैसे दृष्टातमे यह एक चौकी है तो यह चौकी द्रव्यसे कैसी है ? जैसी सामने दिख रही है। जिसे हम पकड सकते हैं, जो यह पिण्ड है सो यह चौकी है, तो यह कहलाता है द्रव्यदृष्टिसे चौकीका देखना। क्षेत्रसे चौकी कैसी है ? इसकी लम्बाई चौडाई ऊँचाई या जितना इसका विस्तार है उतनी यह चौकी है, तो क्षेत्रसे कितनी है ? जितनी यह लम्बी चौडी है ? कालसे यह कैसी है कि जैसी यह चौकी है पुरानी नई मजबूत, कमजोर, जैसी यह है, यह है इसका काल। और भाव क्या है ? इस चौकीमे जो शक्ति है, इस चौकीमे जो गुण है यह है चौकीका भाव। आप परिचय जानना चाहेगे तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिचय जानेंगे। बात कठिन न बोलेंगे, थोडा ध्यान देनेकी बात है सब समझमे आ जायगा। व्यवहार है—जो भी चीज होती है वह पिण्ड रूप है। उसमे कोई लम्बाई चौडाई है, उसकी जो वर्तमान दशा है, अच्छी बुरी रद्दी भद्दी जीर्ण शीर्ण जो भी उसकी दशा है वह होती है और उसमे शक्ति गुण होती है। प्रत्येक पदार्थ मे द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव ये चार चीजें होती है। साथ ही यह भी जानना कि जो भी पदार्थ है उसकी जो दशा बनती है वह उसके क्षेत्रमे बनती है और उसके क्षेत्रसे बाहर नही बनती।

(२६६) **प्रत्येक पदार्थका अपने प्रदेशोमे ही परिणमन**—अभी आपके कामकी बात जो कही गई कि भ्रमके नाश होनेसे दुःख दूर होता है और वस्तुस्वरूपके सही परिचयसे दुःख दूर होता है, वही बात ला रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ जो भी अपनी दशा बनायगा, जो भी इसमे परिणति होगी, जो भी इसमे अवस्था बनेगी वह बनेगी उसके ही क्षेत्रमे, उसके ही प्रदेशमे, उससे बाहर न बनेगी। जैसे अंगुली जो कुछ भी करेगी वह अपने ही क्षेत्रमे करेगी, जो भी अगुलीकी बात बनेगी वह उस अगुलीके प्रदेशमे ही बनेगी, उससे बाहर न बनेगी। तो इसी तरह सब पदार्थोंकी यही बात है कि उस पदार्थका जो भी काम बनेगा वह उस पदार्थके क्षेत्रमे ही बनेगा, उस पदार्थके प्रदेशमे ही बनेगा, उस पदार्थके प्रदेशसे बाहर नही बन सकता। यह वस्तु के स्वरूपका अकाट्य नियम है, हर जगह घटित कर लो। प्रत्येक जगह विचार करनेपर यही बात पायेंगे कि यह वस्तु जो भी बन सकी है वह अपने प्रदेशोमे बन सकी है, प्रदेशोसे बाहर नही। जैसे कारीगरने मकान बनाया, तो लोग कहते हैं कि इस मकानको कारीगरने बनाया, पर यह बात गलत है। कारीगर आप कितनेको मानते हैं ? मानो जितना वह शरीर है, जितना वह पुरुष है उतना कारीगर है तो कारीगरने जो किया होगा वह अपने ही प्रदेशोमे किया होगा याने अपनेमे हाथका चलना, हाथका उठाना आदि समस्त काम वह कारीगर अपने शरीरमे ही करता है, ईंट, मिट्टी आदिकमे वह कुछ नही करता। तब हो कैसे गया है ?

इसे कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बंध याने कारीगरने अपने हाथोंमें ही तो काम किया। जैसे ईंटोंको भीतमें बैठाया तो वहाँ क्या काम किया, हाथको यों चलाया, फिर हाथको यो चलाया, अब उन हाथोंके बीचमे ईंट आ गई और वह पूरी तरहसे धरी गई। इस तरह एक निमित्त-नैमित्तिक सम्बंधसे सब काम हो गया, वह मकान बन गया, लेकिन कारीगरने वह मकान नही बनाया, कारीगरने तो अपने हाथमे अपने हाथकी क्रिया की। अपने शरीरमें अपनी क्रिया की, उन ईंट, मिट्टी आदिकमें अपनी कोई क्रिया नही की। उनकी सब कुछ क्रिया उनमे हुई।

(२५७) **जीवके परिणमनका जीवके प्रदेशोंसे बाहर अभाव**—अब यहाँ जीवकी बात देखो—इस शरीरके अन्दर जो जीव है, जो ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप जीव किया करता है। पहिले यह जानें कि जो कुछ वह करेगा वह अपने ही क्षेत्रमे और अपने ही प्रदेश में करेगा याने जीव अन्दरमें जितना फैला हुआ है, जितने प्रदेशोमें उसका विस्तार है, बस वह अपने प्रदेशोमे ही वह काम करेगा, उससे बाहर काम न करेगा। जीव क्या क्या किया करता है? जानता है, कल्पनायें करता है, विचार करता है, राग करता, द्वेष करता, मोह करता, जो कुछ भी करता है वह अपने ही प्रदेशोमे करता है, अपने प्रदेशोसे बाहर कुछ नही करता। यह वस्तुके स्वरूपका अकाट्य नियम है। हर जगह देखो—जैसे कोई महिला खिचड़ी पका रही है तो वह क्या कर रही है? वह तो अपने हाथमे अपने हाथकी क्रिया कर रही है, अपने हाथसे बाहर कुछ नही कर रही। अग्निकी क्रिया अग्निमे हो रही है, चावल दालकी क्रिया चावल दालमें हो रही है, वहाँ सबका अपना अपना अलग अलग काम अपने आपमे हो रहा है, पर वहाँ कुछ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि सब काम ठीक चल रहा है। यह बात जब समझमे आयगी तब भ्रम दूर होगा। मैं जीव अपने में जो कुछ करता हू वह अपने प्रदेशोमे करता हू, अन्यमे नहीं, लेकिन अज्ञानी जीवको ऐसा अहकार होता है कि मैंने किया। इस अहकारके कारण कोई बात होती है तो परस्परमे व्यवहार होता है तो आपसमे विवाद होने लगता है, झगड़े बन जाते है, क्योकि अहकार आया ना चित्तमे कि मैं इस कामको करने वाला हू। मैंने यह काम कर डाला, मैं न होता तो यह काम न हो पाता? अरे भले ही निमित्त योगसे होता है मगर प्रत्येक पदार्थकी यात्रा, प्रत्येक पदार्थकी परिणति उस ही पदार्थमें होती है, उस प्रदेशसे बाहर नहीं होती। अब आप और भी निर्णय बनायें कि क्या यह सोचना गलत है कि मैं पुत्रसे मोह करता हू? हाँ बिल्कुल गलत है। आप पुत्रसे मोह नही करते, वह तो दूर बैठा है वह तो बाह्य क्षेत्रमे है, उससे आपके आत्मामे कोई क्रिया न हो सकेगी। कब इस डाक्टरसे छुट्टी पाऊँ, कब इस दवा दारूके झझटसे छुट्टी पाऊँ, चित्तमे तो उसके यह है। तो इससे सिद्ध है कि

उस पुत्रके प्रति आपका राग है, पर मोह नही। इसी तरहसे आप समझिये कि आपके घर के अन्दर रहने वाले समस्त परिजनोसे आपको राग है पर मोह नही, और यदि आप ऐसा सोचें कि इन स्त्री पुत्रादिक परिजनोसे ही मेरा जीवन है, उनके बिना मेरा क्या जीवन। वे ही मेरे लिए सब कुछ हैं। तो समझिये कि वहांपर मोह है। तो भाई यदि इस मोहको मेटना है, अपनेको संकटोसे बचाना है तो इस वस्तुके स्वरूपका परिचय पावो और अपने इस दुर्लभ मानव जीवनको सार्थक बनाओ।

॥ सरल आध्यात्मिक प्रवचन समाप्त ॥

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
तेरी भक्तीमे क्षण जांय सारे ॥टेक॥

ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥१॥

सर्व गतियोमे रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमे रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥२॥

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥३॥

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यंयके भेदोंसे पारे।
नित्य अतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥४॥

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोमे नित श्रेय तू है।
सहजानन्दीप्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥५॥

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ टेक ॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ

परसम्बध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहु गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोंपर पढी जाती है—

१– मन्दिर आदिमें आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमंगमें टेकका व किसी छंदका पाठ ।
४– सभाओंमें बोलकर या बुलवाकर मंगलाचरण करना ।
५– यात्रा वंदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
श्रीमत्सहजानन्द महाराज द्वारा विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

।। शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्राप्स्यन्ति चापुरचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलय विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य ।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ।।९।।